पुस्तक-वार्ता

83-84
जनवरी-जून, 2020
ISSN 2349-1809

ज्ञान शांति मैत्री
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

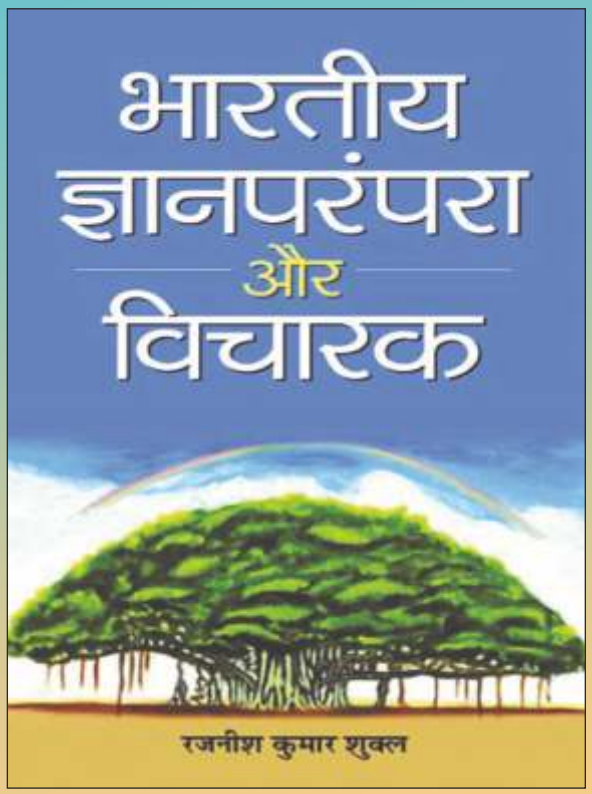

मूल्य : 400

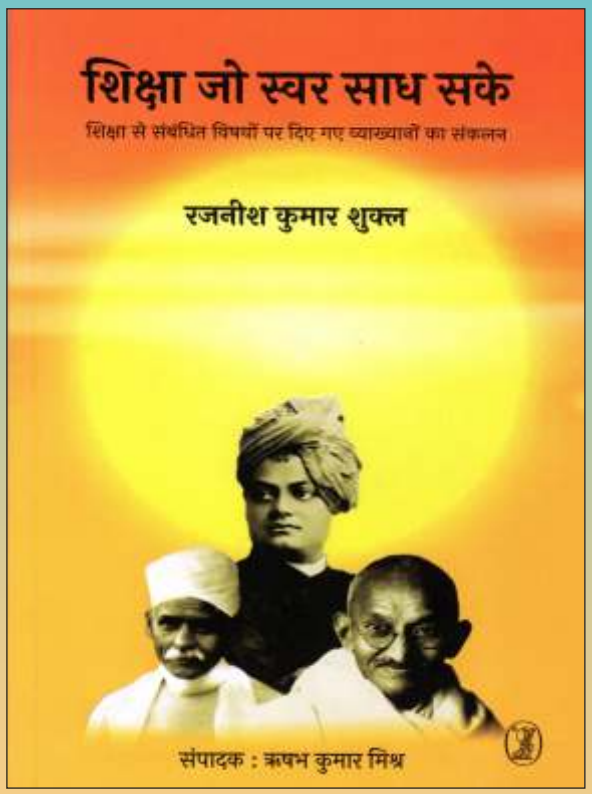

मूल्य : 145

मूल्य : 999

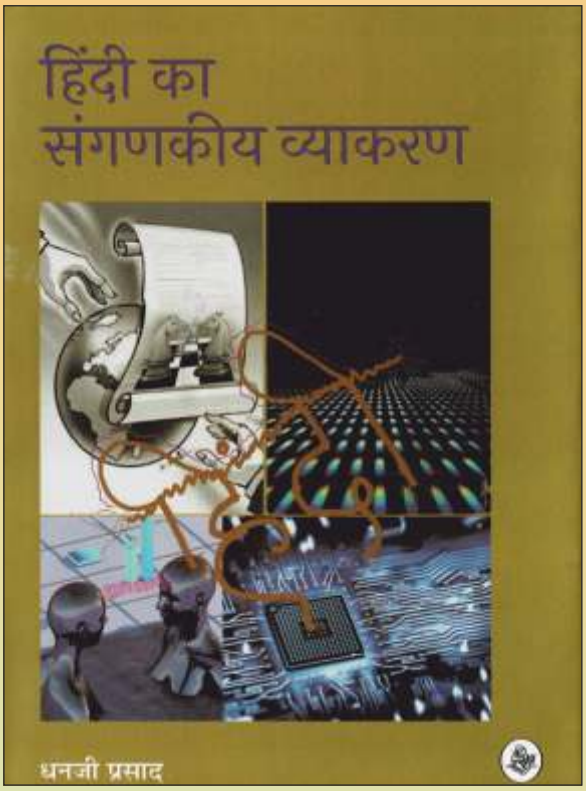

मूल्य : 1195

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुस्तक-वार्ता
83-84
जनवरी-जून, 2020
ISSN 2349-1809

'पुस्तक वार्ता' महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की लब्धप्रतिष्ठ द्विमासिक समीक्षा-पत्रिका रही है। अब तक यह मुख्यतः हिंदी साहित्य की समकालीन/नयी पुस्तकों की समीक्षा तक सीमित थी। किंतु, यह एक विश्वविद्यालय की पत्रिका है; अतः विश्वविद्यालय के उद्देश्यों की अनुरूपता में इसे हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं तथा विविध ज्ञानशाखाओं के ग्रंथों/कृतियों की समीक्षा-पत्रिका होना चाहिए। इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए इस अंक से इसके स्वरूप में बदलाव किया जा रहा है। पत्रिका के नये रूप की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार होंगी-

1. पुस्तक वार्ता अब त्रैमासिक होगी और पूर्ववत् केवल हिंदी में प्रकाशित होगी। किसी हिंदीतर भाषा में लिखित समीक्षाएँ हिंदी में अनूदित होकर प्रकाशित हो सकती हैं।
2. अब इसमें हिंदी और अन्य भाषाओं (भारतीय एवं विदेशी) के साहित्य के साथ-साथ ज्ञान की किसी भी संगत शाखा की किसी भी पुस्तक की समीक्षा प्रकाशनार्थ विचारणीय हो सकेगी।
3. पुस्तक वार्ता में प्रकाशित होने वाली समीक्षाओं की तीन श्रेणियाँ होंगी-
    (क) पहली श्रेणी में किसी एक प्रसिद्ध पुस्तक की पूर्व प्रकाशित महत्त्वपूर्ण/चर्चित समीक्षा प्रकाशित होगी। साथ ही, उस पर किसी नये समीक्षक द्वारा की गयी ताजा समीक्षा/विवेचना भी प्रकाशित होगी। इनकी कोई शब्द-सीमा नियत नहीं होगी।
    (ख) दूसरी श्रेणी में कालजयी अथवा/एवं उन श्रेष्ठ कृतियों/ग्रंथों की समीक्षाएँ/विवेचनाएँ होंगी, जो आज भी प्रासंगिक हैं या समकालीन पीढ़ी के लिए आवश्यक हैं। इनकी परिसीमा 6000 शब्दों तक हो सकती है।
    (ग) तीसरी श्रेणी में उन समकालीन कृतियों/ग्रंथों की समीक्षाएँ होंगी, जो पिछले पाँच वर्षों में प्रकाशित हुई हैं।ये समीक्षाएँ 3000 से अनधिक शब्दों की परिसीमा में होंगी।
4. दूसरी और तीसरी श्रेणी में प्रकाश्य समीक्षाओं की संख्या पत्रिका के आकार के अनुसार विश्वविद्यालय द्वारा नियत की जाएगी।
5. समीक्षार्थ पुस्तक का चयन/निर्णय विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित प्रक्रिया से ही किया जाएगा।

पुस्तक-वार्ता

संरक्षक
रजनीश कुमार शुक्ल
कुलपति

परामर्शदाता
हनुमानप्रसाद शुक्ल
प्रतिकुलपति

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
www.hindivishwa.org

संपादक
मनोज कुमार राय

संपादक-मंडल
के. बालराजु
जयंत उपाध्याय
श्रीनिकेत कुमार मिश्र

संपादकीय संपर्क
संपादक : पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943
E-mail : pustakvaarta.mgahv@gmail.com
समस्त पत्राचार प्रकाशन प्रभारी के नाम से ही किया जाए-

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943
E-mail : pub.mgahv@gmail.com

मूल्य : वर्तमान अंक रु. 100/-
सदस्यता राशि मूल्य रु. 75/- के गुणक में। सदस्यता राशि केवल ऑनलाइन निम्नलिखित बैंक खाते में जमा करवा सकते हैं -

Account Holder's Name	: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name	: Bank of India, Wardha
Branch	: Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No.	: 972110210000005
IFSC Code No.	: BKID 0009721
MICR Code No.	: 442013003

डिजाइन : राजेश आगरकर

मुद्रण : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से विश्वविद्यालय या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्याय क्षेत्र, वर्धा (महाराष्ट्र) होगा।

इस अंक में

1. **प्रसाद का साहित्य-दर्शन** / नंद दुलारे वाजपेयी 01
(पुस्तक : काव्य और कला तथा अन्य निबंध / लेखक : जयशंकर प्रसाद)
2. **सांस्कृतिक सुगंधों की अनुगूँज** / विजय बहादुर सिंह 08
(पुस्तक : काव्य और कला तथा अन्य निबंध / लेखक : जयशंकर प्रसाद)

3. **भारतीय कलाबोध का आख्यान है 'द डांस ऑफ शिवा'** / रजनीश कुमार शुक्ल 14
(पुस्तक : द डांस ऑफ शिवा / लेखक : आनंद केंटिश कुमारस्वामी)
4. **पुरातन में नूतन की खोज** / हूबनाथ पाण्डेय 18
(पुस्तक : आरोग्य निकेतन / लेखक : ताराशंकर बद्योपाध्याय)
5. **स्वप्नदर्शी गणितज्ञ का वैचारिक संसार** / शाश्वती प्रधान 22
(पुस्तक : रामानुजन- द मैन एंड द मथेमैटिशियन / लेखक : शियाली रामामृत रंगनाथन)
6. **खिलते फूलों की भाषा** / अजीत राय 24
(पुस्तक : बच्चे की भाषा और अध्यापक : एक निर्देशिका / लेखक : प्रो. कृष्ण कुमार)

7. **मलयालम रामायणकार के जीवन-संघर्ष का अपूर्व दस्तावेज** / प्रो. जी. गोपीनाथन 26
(पुस्तक : अग्निसागर से अमृत / लेखक : सी. राधाकृष्णन)
8. **अद्वितीय प्रतिभाओं का कालपात्र** / आनंद प्रकाश 29
(पुस्तक : जियोग्राफी ऑफ जीनियस / लेखक : एरिक विनर)
9. **महात्मा का वैचारिक पर्यावरण** / डॉ. नमिता निम्बालकर 35
(पुस्तक : गाधी चिंतन एवं विचार दर्शन / लेखक : प्रो. सतीश चंद्र मित्तल)
10. **मार्क्सवाद के ध्वंसावशेषों में विचरण** / विनोद अनुपम 37
(पुस्तक : मार्क्सवाद का अर्धसत्य / लेखक : अनंत विजय)
11. **सेपियंस : इतिहास का नैतिक पर्यवेक्षण** / सन्नी कुमार 40
(पुस्तक : सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास / लेखक : युवाल नोआ हरारी)
12. **मानव सभ्यताओं के असमान विकास के मूल कारण** / प्रो. नवीन कुमार शर्मा 46
(पुस्तक : 'गन्स, जर्म्स एंड स्टील : द फेट्स ऑफ ह्यूमन सोसाइटीज' / लेखक : प्रो. जेरेड डायमंड)
13. **अँधेरे का सच** / शंकर शरण 48
(पुस्तक : भारत में इस्लामी साम्राज्यवाद की कहानी / लेखक : सीताराम गोयल)
14. **कथा अनुपस्थित संवेदना की** / डॉ. कृष्णा शर्मा 53
(पुस्तक : कौन ठगवा नगरिया लूटल हो / लेखक : मालती जोशी)
15. **विश्वसभ्यता के विकल्प का विमर्शीय रेखांकन** / डॉ. विश्वनाथ मिश्र 56
(पुस्तक : भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ / लेखक : अम्बिकादत्त शर्मा)

16. जल-प्रबंधन से उपजी विसंगतियाँ / विपुल सिंह 60
(पुस्तक : वाटर : अबेंडन्स, स्कारसिटी एंड सिक्योरिटी / लेखक : जेरेमी जे. श्मिट)
17. खामोश इतिहास का मुखर संस्मरण / सुमित सौरभ 62
(पुस्तक : आपातकाल के संस्मरण / संपादक : प्रो. (डॉ.) अरुण कुमार भगत)
18. स्वस्थ शिक्षा की ऐनक / डॉ. अल्पना सिंह 65
(पुस्तक : अध्यापकीय जीवन का गुणनफल / लेखक : मिश्र, श्यामनारायण (सं. मनोज कुमार)
19. नयी परिभाषा गढ़ता संवेदनशील चितेरा / चंद्राली मुखर्जी 67
(पुस्तक : 'माई एडवेंचर्स विथ सत्यजीत रायः द मेकिंग ऑफ शतरंज के खिलाड़ी'' / लेखक : सुरेश जिंदल)
20. सत्य के बहाने नयी राजनीति / शान कश्यप 71
(पुस्तक : जिन्नाह : हिज सक्सेसेज, फेलियर्स, एंड रोल इन हिस्ट्री / लेखक : इश्त्याक अहमद)
21. नयी लकीर खींचता उपन्यास / पीयूष द्विवेदी 74
(पुस्तक : एक लड़की पानी पानी (उपन्यास) / लेखक : रत्नेश्वर)
22. त्रासद सत्य की अंर्तकथा / श्रद्धा सिंह 77
(पुस्तक : कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए / लेखक : अलका सरावगी)
23. विभाजन का दर्द / अविनाश द्विवेदी 81
(पुस्तक : मिडनाइटस फ्यूरीज / लेखक : नीशिद हज़ारी)
24. संवैधानिक पदचिह्नों की पड़ताल / प्रो. धर्मेंद्र कुमार मिश्रा 84
(पुस्तक : कान्स्टीट्यूशनल ला-। स्ट्रक्चर / संपादक : उदय राज राय)
25. पाठ्यचर्या एवं नवाचार के सूत्र / सारिका शर्मा 87
पुस्तक : रिकालिंग द फॉरगॉटन : एडुकेशन एंड मोरल क्वेस्ट / लेखक : अविजीत पाठक
26. विस्मृति का स्मरण / सत्येंद्र कुमार सिंह 90
(पुस्तक : द केसेज दैट इंडिया फॉरगॉट / लेखक : चिंतन चंद्रचूड़)
27. ज्ञान का पुनर्शोधन / प्रो. सुदीप कुमार जैन 93
(पुस्तक : जोणी पाहुड (योनि प्राभृत) / संपादक : डॉ. राजाराम जैन, डॉ. विद्यावती जैन)
28. शाश्वत शांति की शाश्वत परिकल्पना / प्रो. अभय कुमार मिश्र 98
(पुस्तक : पर्पेचूअल पीस : ए फिलसाफिकल स्केच / लेखक : इमानुएल कांट)
29. वैदिक सूक्तों से झरती कथा / डॉ. रमाकान्त राय 100
(पुस्तक : कथा शकुंतला की / लेखक : राधावल्लभ त्रिपाठी)
30. कौशाम्बी : इतिहास का एक क्षीण-मंद राग / कुमार अनिल 103
(पुस्तक : कौशाम्बी / लेखक : कुमार निर्मलेन्दु)
31. स्त्री अस्मिता के प्रश्न एवं भक्तिकाल / प्रो. बलराज पाण्डे 106
(पुस्तक : स्त्री अस्मिता और कविता का भक्ति युग / लेखक : डॉ. शशिकला त्रिपाठी)
32. सचेतन अभय की मशाल / डॉ. मनोज कुमार राय 109
(पुस्तक : व्हाई गांधी स्टिल मैटर्स / लेखक : राजमोहन गांधी)

प्रसाद का साहित्य-दर्शन

नंद दुलारे वाजपेयी

प्रसादजी हिंदी के युग-प्रवर्तक कवि और साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्त-काल के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अंवेषणों पर उनके निबंध पाठक पढ़ चुके हैं। उनका महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वे इतिहास की सूखी रूप-रेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग चढ़ा देते हैं। व्यक्तियों और समूहों की कृतियों का ही नहीं, उन विचारधाराओं का भी वे उल्लेख करते हैं, जिनका सामयिक जीवन के निर्माण में हाथ रहा है।

इस प्रकार प्रसादजी ने इतिहास के अस्थि-पंजर को कार्य-कारणयुक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है, जिससे उनका अध्ययन करने में एक अनोखा आनंद प्राप्त होता है। वे इतिहास को मानव निर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियों का केंद्र सम-सामयिक दर्शन को मानते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन का अतंःप्रेरण दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मान कर वे इन दोनों का घनिष्ठ संबंध स्थापित कर देते हैं। कोरी भौतिक घटनाओं का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते।

प्रसादजी की इस दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनों ही राष्ट्रीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गये हैं, कहीं भी इनका विछोह नहीं होने पाया। जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है, वहाँ मानव-जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि अवश्य है और जहाँ कहीं किसी राष्ट्रीय मानवीय-उद्योगों का आकलन है, वहाँ भी दर्शन का साथ कभी नहीं छूटा। 'काव्य और कला' पुस्तक में प्रसादजी की साहित्यिक समीक्षाओं का संग्रह है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया ही है; इसलिए हम देखते हैं कि प्रसादजी ने इन निबंधों में भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत संबंध स्थापित किया है, और प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के संबंध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओं के साथ मुख्य-मुख्य काव्यधाराओं का समीकरण करके इन दोनों का एक इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने रखा है।

प्रसादजी की ये उद्भावनाएँ इतनी मार्मिक हैं, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है, और साथ ही इनकी मनोवैज्ञानिक विवृत्ति इतनी सुंदर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा यह भूल जाते हैं कि ये अधिकांश एकदम नवीन हैं, किसी क्रमागत विचार-परिपाटी से इनका संबंध नहीं है। किंतु, नवीन होना इनका दोष नहीं है, गुण ही है; क्योंकि परंपरागत शैली के अनुयायी तो केवल लीक पीट रहे थे। जब उन लीक पीटनेवालों से हिंदी का कल्याण होता नहीं दीखा और नवशिक्षित समाज की दार्शनिक पिपासा शांत नहीं हुई, तभी इस प्रकार की विचार-धाराओं और व्याख्या शैलियों की ओर प्रसादजी-जैसे दो चार

पुस्तक : काव्य और कला तथा अन्य निबंध
लेखक : जयशंकर प्रसाद

इने-गिने विद्वानों की अभिरुचि हुई।

किंतु परंपरागत व्याख्या शैली से दूर हटकर भी प्रसादजी ने प्राचीन पारिभाषिक शब्दावली का, वह साहित्यिक हो या दार्शनिक, त्याग कहीं नहीं किया; अपितु अपनी दृष्टि से उसकी यथातथ्य व्याख्या ही की है। न उन्होंने उन पारिभाषिक शब्दों का अनुचित या अन्यथा प्रयोग ही किया है, जैसा कि आधुनिक असंस्कृतज्ञ करने लगे हैं। इसका कारण यही है कि प्रसादजी ने दर्शन और साहित्य-शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन किया था और कहीं भी शाब्दिक खींचतान या अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी उपपत्तियाँ सब को एक-सी मान्य न हों, किंतु जिन्हें वे मान्य न हों, वे भी उन्हें अशास्त्रीय नहीं कह सकते; क्योंकि उनका आधार शास्त्र ही है। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव-मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।

अब मैं प्रसादजी की उन उपपत्तियों को, जो इस पुस्तक में हैं, संक्षेप में उपस्थित करके ही आगे बढ़ूँगा। 'काव्य और कला' निबंध में प्रसादजी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्‌भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं। साहित्य-शास्त्र में काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभू-स्वयंभू' यह श्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गये हैं। किंतु जहाँ मान्यता की बात आती है, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्रों में इसको अर्थवाद ही मानते हैं, सिद्धांत-रूप में स्वीकार नहीं करते। किंतु, प्रसादजी इसे सिद्धांत-रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि पश्चिमी विचार-प्रणाली के अनुसार जहाँ मूर्त और अमूर्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है, काव्य को मूर्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त के लिए ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गयी हो, किंतु भारतीय विचारधारा में ब्रह्म मूर्त भी है और अमूर्त भी, अतः मूर्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं कह सकते।

यहीं प्रसादजी ने काव्य की मार्मिक व्याख्या की है। 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।' आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएँ हैं-- एक काव्यधारा और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समझ रखना चाहिए कि इन दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है, दोनों ही आत्मा के अखंड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू-मात्र हैं। कुछ लोग श्रेय और प्रेय भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते हैं; किंतु प्रसादजी का स्पष्ट मत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रेय-रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य में प्रेय-रूप की प्रधानता है; किंतु श्रेय और प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय में परोक्ष श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य को संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की वह असाधारण मननशील अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त की द्विविधा हटा कर प्रसादजी ने श्रेय और प्रेय के झगड़े को भी साफ कर दिया। इसका यह आशय नहीं कि वे काव्य और शास्त्र में कोई अंतर नहीं मानते। उन्होंने न केवल इनका व्यावहारिक अंतर माना है, प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का भी विवरण दिया है, जिसमें इन दोनों विषयों की शिक्षा पृथक्-पृथक् दो केंद्रों में दी जाती थी। शास्त्रीय व्यापार के संबंध में प्रसादजी स्वयं कहते हैं- 'मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धांत बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की, कमी हो जाती है।' किंतु काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मान लेने और संकल्पात्मक अनुभूति की उपर्युक्त व्याख्या कर देने भर से समस्या का समाधान नहीं होता, बल्कि यहीं से शंकाएँ आरंभ होती हैं। सबसे पहली शंका प्रसादजी ने स्वयं उठायी है और उसका उत्तर भी दिया है। वे लिखते हैं—'कोई भी प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है?' उत्तर वे यह देते हैं- 'इसीलिए तो साथ-ही-साथ 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख किया गया है'। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय-ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है..... जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्जस्वित बनाती है।'

'असाधारण अवस्था' का इस प्रकार निर्वचन कर प्रसादजी ने काव्य और उसकी व्याख्या को रहस्यात्मक पुट दिया है। वह असाधारण अवस्था क्या है, उसके स्वरूप का अंतिम निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य यह अनुभवजन्य है, किंतु युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित होने के कारण वह

इतिहास की वस्तु भी है। इतिहास के अनुशीलन से उसका आभास हम पा सकते हैं।

प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में उस असाधारण अवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन भी किया है। उनके इस अनुशीलन से आत्मा की उस असाधारण अवस्था का-जिसे मननशील संकल्पात्मक अनुभूति या काव्यावस्था कहते हैं- जो परिचय प्राप्त होता है, हम बहुत संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। यह अवस्था आत्मा की है। इसलिए स्वभावतः अवस्था के साथ-साथ आत्मा-संबंधी विभिन्न युगों की धारणाओं का परिचय प्रसादजी देते गये हैं। आत्मा का विशुद्ध अद्वय स्वरूप आनंदमय है और उस अद्वयता में संपूर्ण प्रकृति सन्निहित है, यह प्रसादजी की सुदृढ़ धारणा और उपपत्ति है। आदि वैदिक काल में इस आत्मवाद के प्रतीक 'इंद्र' थे और यही धारा शैव और शाक्त आगमों में आगे चल कर बही। यही विशुद्ध आत्मदर्शन था, जिसमें प्रकृति और पुरुष की द्वयता विलीन हो गयी थी। शैव और शाक्त आगमों में जो अंतर है, उसे भी प्रसादजी ने प्रकट किया है- 'कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को, 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे, वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्तितरंग जगत् में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए।' आत्मा का यही विशुद्ध अद्वय प्रवाह परवर्ती रहस्यात्मक काव्य में प्रसरित हुआ, इसीलिए प्रसादजी रहस्यात्मक काव्य-धारा को ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शक्ति और आनंद प्रधान धारा थी, जिसमें आदर्शवाद, यथार्थवाद, दुःखवाद आदि बौद्धिक, विवेकात्मक और प्रसादजी के मत से अनात्मवादों का, स्वीकार नहीं था। दुःख या करुणा के लिए वहाँ भी स्थान था; किंतु यहाँ वेदना आनंद की सहायक और साधक बन कर ही रह सकी।

इससे भिन्न दूसरी धाराओं के कई विभाग प्रसादजी के लिए हुए हैं; किंतु स्थूल रूप से उन्हें हम विवेकवादी या आत्मवादी धारा के अंतर्गत ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं धाराओं के प्रतीक वैदिक काल में 'वरुण' (जो एकेश्वरवाद के आधार हुए और जिनकी गणना असुरों में की गयी) और परवती काल में अनात्मवादी बौद्ध थे, जो चौत्यपूजक हुए। पौराणिक काल में इसी दुःखवादी विचारधारा की प्रधानता थी और राम इसी विवेक-पक्ष के प्रतिनिधि थे। कृष्ण के चरित्र में यद्यपि आनंद की मात्रा कम न थी, किंतु मुख्य पौराणिक विचारधारा दुःखवाद-से उनकी चरित्र-सृष्टि भी आक्रांत है। शांकर वेदांत बौद्धों के दुःखवाद में संसार से अतीत सच्चिदानंद स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। यह आदिम आर्य आत्मवाद की दुःख से मिश्रित धारा है। यद्यपि इसमें आत्मा की अमरता और आनंदमयता का संदेश है; किंतु संसार मिथ्या या माया की आर्त पुकार भी है। परवर्ती भक्ति-संप्रदायों के संबंध में प्रसादजी की धारणा है कि ये अनात्मवादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपांतर हैं। अपने ऊपर एक त्राणकर्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत दर्शन का ही परिणाम है। यद्यपि प्रसादजी का यह मत है कि मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है; किंतु भक्ति-संप्रदायों में यह प्रेरणा दृढ़मूल नहीं हो सकी और दुःखवादी या रक्षावादी विचारों ने उस पर कब्जा कर लिया। कबीर आदि निर्गुण संत भी दुःखवादी ही थे। समय की आवश्यकता से सच्चे आनंदवादी रहस्यवादियों को उनके लिए स्थान छोड़ना पड़ा।

प्रसादजी ने केवल ये आरोप ही नहीं किये, इनके लिए प्रमाणों की भी व्यवस्था की है। वैदिक काल के संबंध में वे लिखते हैं- 'सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनंदवाली धारा (इंद्र की उपासना) का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे.... आत्मा में आनंद-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। भारत के आर्यों ने कर्मकांड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनंद का ही उद्देश्य देखना आरंभ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इंद्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किंतु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचार-धारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे।...उन व्रात्यों ने अत्यंत प्राचीन अपनी चौत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रखा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की... वृष्णि-संघ ब्रज में और मगध में अयाज्ञिक आर्य, बुद्धिवाद के आधार पर, नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे, जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न, दिगम्बर, पानी गरम करके पीने और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलने वाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे।'

इस प्रसंग को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं। पाठक मूल में ही उसे पढ़ेंगे। यहाँ इसी के साथ अब भारतीय साहित्य की प्रमुख धाराओं और अंगों के संबंध में प्रसादजी की धारावाहिक समीक्षा का सारांश उपस्थित किया जाता है, जो उन्होंने काव्य की अपनी मूल परिभाषा को स्पष्ट करते हुए की है। ऊपर कह चुके हैं कि प्रसादजी रहस्यवाद को आत्मा की

संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। यह काव्यात्मक रहस्यवाद वैदिक काल के 'उषा' और 'नारदीय' सूक्तों में; अधिकांश उपनिषदों में, शैव शाक्तादि आगमों में, आगमानुयायी स्पंदशास्त्रों में, सौंदर्य-लहरी आदि रहस्यकाव्य में तथा सहजानंद के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि आगमानुयायी सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। बीच में इन रहस्यवादी संप्रदायों के 'बौद्धिक गुप्त कर्मकांड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृंखलता से पार कर चुकी थी।' यही अवसर रहस्यवादियों के ह्रास का था; किंतु फिर भी इस धारा का अत्यंताभाव कभी नहीं हुआ। पिछले खेवे भी तुकनगिरि और रसालगिरि आदि, सिद्धों के रहस्य संप्रदाय के शुद्ध रहस्यवादी कवि, लावनी में आनंद और अद्वयता की धारा बहाते रहे। प्रसादजी का यह भी स्पष्ट मत है कि 'वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहम्' से 'इदम्' के समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।' उनके शब्दों में वर्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावादी काव्य भी कहते हैं) भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।'

यह न समझना चाहिए कि काव्यात्मक रहस्यवाद बस इतना ही है। इतना तो वह तब होता, जब प्रसादजी की दृष्टि पूर्ण साहित्यिक न होकर मुख्यतः सांप्रदायिक होती। काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनंद या रस का प्रवाह है, वहीं आत्मा की संकल्पात्मक प्रेरणा है और वहीं वह 'असाधारण अवस्था' है, जिसे काव्य की-विशेषकर रहस्य-काव्य की जन्मदात्री माना गया है। जिन काव्यों का प्रवाह आनंद के ओजस्वी, आध्यात्मिक स्रोत से उद्रित है, दुःख जिनमें निमित्त बनकर आया है, लक्ष्य नहीं, जो मुख्यतः प्रगतिशील सृष्टियाँ हैं-वे सभी प्रसादजी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अंतर्गत आ जाती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक एक प्रधान अंग है। नाटक में रस या आनंद की प्रधानता मानी गयी है। साहित्य के अन्य अंग काव्य, उपन्यास आदि तो दुःखांत हो सकते हैं, किंतु नाटकों के लिए ऐसी व्यवस्था सर्वमान्य रही है कि उसमें दुःखांत सृष्टि नहीं होनी चाहिए। प्रसादजी ने इसका कारण यह बतलाया है कि नाटकों में आनंद या रस का साधारणीकरण होता है। प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ हृदय का तादात्म्य करके पूर्ण रस की अनुभूति करता है। वह अभिनीत दृश्यों से एकाकार हो जाता है, इसलिए अभिनीत वस्तु में न तो व्यक्ति वैचित्र्य (अद्भुत चरित्र-सृष्टि) के लिए अधिक स्थान माना गया है, न दुःखातिरेक के लिए। इसका आशय यह नहीं है कि नाटक में दुःख के दृश्यों के लिए स्थान नहीं है अथवा आनंद के, रस के नाम पर श्रेयहीन प्रेय का ही प्रधान्य है। इसका आशय केवल इतना है कि नाटक में आत्मा की संकल्पात्मक प्रेरणाओं की प्रधानता होती है क्योंकि वे मुख्यतः जन-समाज के आनंद के साधक होते हैं। आये दिन सिनेमा की दृश्यावली में भी हम इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पाते हैं, यद्यपि उनमें सर्वत्र श्रेय सुरुचि का ध्यान नहीं रखा जाता और न उनकी आनंद-- धारणा ऊँची मनोभूमि पर उठ पाती है!

प्रसादजी की एक अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ संबंध है। जिस प्रकार रहस्यवाद में आनंद के पक्ष की प्रधानता है, उसी प्रकार नाटक में भी। जिस प्रकार भक्ति आदि विवेक और उपासना मूलक दर्शन को अद्वैत रहस्य में स्थान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति की रस में गणना नहीं हो सकती। यह स्पष्ट है, इसीलिए कि भक्तिकाव्य के पात्रों और व्यवहारों का नाटक द्वारा रस-रूप में साधारणीकरण नहीं हो सकता। वे पात्र तो उपासना के हैं, उनका साधारणीकरण हो कैसे! इसलिए वे साहित्यिक अर्थ में नीरस हैं। साहित्यिक रस तो तभी तक है, जब तक तादात्म्य की पूर्ण सुविधा है।

इसी तादात्म्य या साधारणीकरण के प्रसंग को लेकर प्रसादजी ने वह अत्यंत मार्मिक दार्शनिक निष्पत्ति की है, जिसके आधार पर उनका सारा ऊर्ध्व-लिखित विवेचन स्थिर है। वह निष्पत्ति पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है। अभिनय देखते हुए दर्शक के हृदय में साधारणीकरण या तादात्म्य के आधार पर जो रसानुभूति होती है, वह साहित्यिक शास्त्र से सर्वथा स्वीकृत है और ब्रह्मानंद-सहोदर कही गयी है। किंतु, साधारणीकरण होता किस वस्तु का है? अभिनीत पात्रों के प्राकृतिक व्यवहारों और वासनाओं का। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक वासनाओं का आत्मस्वरूप में स्वीकार ही रस का हेतु है-वह रस जो ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्मानंद-सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है-उनका बहिष्कार करके किन्हीं अलौकिक उपादानों द्वारा नहीं। दार्शनिक क्षेत्र में यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जाएगी कि आनंद की सत्ता को प्रकृतिबाह्य मानने की आवश्यकता नहीं है, प्रकृति का आनंदस्वरूप में स्वीकार ही वास्तविक अद्वैत है।

यहाँ फिर यह कहने की आवश्यकता है कि प्राकृतिक वासनाओं का जो साधारणीकरण रस रूप में होता है, वह श्रेयहीन प्रेय नहीं है, श्रेयपूर्ण प्रेय है। वह प्राकृतिक द्वैत से संयुक्त नहीं है, आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है। उपकरण प्रकृति है, किंतु आत्मविरहित प्रकृति नहीं। यही रस आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं। इसी अर्थ में प्रसादजी

ने काव्य को आध्यात्मिक वस्तु सिद्ध किया है और इसी अर्थ में वे प्राकृतिक सत्ता का आत्म-सत्ता में समन्वय करते हैं।

प्रसादजी का यह मंतव्य है कि आत्मा की यह विशुद्ध अद्वय तरंग जैसी प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रवाहित है, वैसी अन्य साहित्यिक कृतियों में नहीं। उनका कथन यह है कि नाट्य-साहित्य में रस या आनंद अनिवार्य होने के कारण काव्य की मूल रहस्यात्मक धारा नाटकों में ही प्रवर्तित हुई। रामायण और महाभारत-जैसे महाकाव्य भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभिभूत हैं। उनमें से एक (रामायण) आदर्शात्मक विवेकवाद की पद्धति पर रचा गया है और दूसरा यथार्थवादात्मक पद्धति पर। दोनों के मूल में विवेक या विकल्प का अंश है। पूर्णतः संकल्पात्मक ये कृतियाँ नहीं हैं। आदर्शवाद और यथार्थ शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इस प्रसंग में न करने पर भी प्रसादजी का आशय यही जान पड़ता है। ये शब्द प्रसादजी ने आधुनिक प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में व्यवहृत किये हैं, जिसे हम आगे देखेंगे। यहाँ समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आदर्शवाद में लोकोत्तर चरित्रों और भावों का समावेश प्रसादजी ने माना है और यथार्थवाद में लोकसामान्य घटनाओं, मनोवृत्तियों आदि का। किंतु ये दोनों ही वाद प्रसादजी की सम्मति में बौद्धिक या विवेक-प्रसूत हैं। ये रसात्मक या आनंदात्मक नहीं हैं।

यही नहीं, प्रसादजी का मत है कि पौराणिक साहित्य से लेकर अधिकांश श्रव्य काव्य (जिन्हें प्रसादजी ने समयोपयोगी 'पाठ्य काव्य' नाम दिया है) जिनमें कथा-सरित्सागर और दशकुमार-चरित्र की 'यथार्थवादी' रचनाएँ और कालिदास, अश्वघोष, दंडी, भवभूति और भारवि का काव्यकाल भी सम्मिलित है, बाहरी आक्रमण से हीनवीर्य हुई जाति की कृतियाँ हैं। इनमें प्राचीन अद्वैत भावापन्न 'नाट्यरस' नहीं है। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नहीं है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।

संक्षेप में प्रसादजी की मुख्य विवेचना यहाँ समाप्त हो जाती है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक ओर आनंद-प्रधान, रहस्यात्मक या रसात्मक और दूसरी ओर विवेक-प्रधान, बौद्धिक या आलंकारिक साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की हैं और उन्हें अद्वैत और द्वैत दर्शन से क्रमशः अनुप्राणित माना है। इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिंदी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अश्रुतपूर्व है। अवश्य ही ये श्रेणियाँ बहुत दृष्टि से परस्पर नितांत विरोधिनी नहीं हैं। ऐसी भी संभावनाएँ ध्यान में आती हैं, जब ये दोनों ऊपर से एक दूसरे के बहुत निकट आ जायें, किंतु इनके मूल स्रोतों, लक्षणों और प्रक्रियाओं में स्पष्ट अंतर है। यद्यपि प्रसादजी ने यह बात कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कही है और ऐतिहासिक शैली से ही विवेचन किया है, तो भी यह कई स्थानों पर ध्वनित होता है कि प्रथम धारा का साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है और दूसरी धारा का साहित्य मुख्यतः ह्रासोन्मुख है। इस विचार से हिंदी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रचलित धारणाओं में बहुत अधिक फेरफार करने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के संबंध की प्रसादजी की दार्शनिक उद्भावना-प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं, वरन् उसमें पर्यवसान अद्वैत है; और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प हैं---आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रों में कम उत्तेजना नहीं उत्पन्न करेगी। यद्यपि विचारपूर्वक देखा जाय, तो इसमें प्राचीन प्रवृत्तिमार्ग अथवा आत्मा की छत्रछाया में निष्काम कर्म की आधुनिक आध्यात्मिक उपपत्ति से विशेष भिन्नता नहीं है, तो भी प्रकार- भेद तो है ही।

प्रसादजी की सम्मति में अद्वयता की साधना ही मुख्य साहित्यिक और दार्शनिक साधना है तथा इन दोनों का ही हिंदी-क्षेत्र में प्रायः अभाव है। साहित्य में वे आनंद-सिद्धांत के पृष्ठपोषक हैं (हिंदी के भक्ति और शृंगार दोनों ही कालों में वास्तविक आनंद की न्यूनता थी) और दर्शन में शक्ति-अद्वैत-वाद के संदेश-वाहक। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इन दोनों का समन्वय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य आनुषंगिक विचारों का अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उदाहरणार्थ रस के प्रसंग में उन्होंने प्रदर्शित किया है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य संप्रदाय विवेक मत की उपज हैं, अकेला रस मत ही आनंद उद्भूत है। एक अन्य निबंध में आधुनिक साहित्य का हवाला देते हुए आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद आदि कई पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि 'श्री हरिश्चन्द्र ने वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरंभ किया। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय हुआ था।.... यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरंभ किया; किंतु श्री हरिश्चन्द्र का आरंभ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का

वास्तविक उल्लेख।'

यथार्थवाद की यह व्याख्या दार्शनिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है और श्री हरिश्चन्द्र के समय की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का संकेत करती है। अभाव के साथ-ही-साथ यथार्थवाद का एक भावपक्ष भी है, जिसमें दैनिक जीवन के यथातथ्य चित्रण, काल्पनिक के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि, और फ्रायड आदि की सुझायी मनोवैज्ञानिकता का अनुसरण मुख्य है। इस यथार्थवाद के साथ ऐतिहासिक भौतिक विज्ञानवाद (Historical Materialism) और नवीन काम-विज्ञान का भी घनिष्ठ संबंध हो गया है। सामाजिक समस्याओं का व्यावहारिक नहीं, बौद्धिक समाधान भी इस वाद की विशेषता है।

प्रसादजी ने आदर्शवाद के संबंध में लिखा है- 'आरंभ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है-जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं-उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वंद्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ में किया जाता है।' यह आदर्शवाद की परिपाटी भी ऐतिहासिक है सैद्धांतिक नहीं और मेरे विचार से आदर्शवाद की यह अवनतिशील परिपाटी है। अपनी उन्नत अभिव्यक्तियों में आदर्शवाद अतिशय निस्पृह विज्ञान है; किंतु प्रसादजी जिस ऐतिहासिक आदर्शवाद का उल्लेख करते हैं, अपने स्थान पर वही ठीक है। वाद के रूप में आदर्श को प्रसादजी दुःखवाद की ही सृष्टि मानते हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं- 'सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।' स्पष्ट ही यहाँ प्रसादजी ने यथार्थ और आदर्श दोनों ही वादों को विवेक-प्रसूत माना है, आनंदोद्भूत, अद्वैत अथवा सच्चा सांस्कृतिक नहीं। इसीलिए प्रसादजी की ये व्याख्याएँ प्रचलित पारिभाषिक व्याख्याओं से कुछ भिन्न हो गयी हैं।

प्रसादजी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'सांस्कृतिक केंद्रों में जिस विकास का आभास दिखलायी पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमांतों के बीच की वस्तु है, यहाँ महत्त्व और लघुत्त्व के दोनों सीमांतों से प्रसादजी का तात्पर्य एतिहासिक आदर्शवादों और यथार्थवाद के सीमांतों से है। दार्शनिक सीमांतों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसादजी सिद्धांततः मध्यमार्गी थे। प्रसादजी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्ति-सिद्धांत में दोनों के अंश हो सकते हैं; किंतु दोनों की सीमाएँ नहीं हैं और दोनों की मूल दुःखात्मकता का भी निषेध है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में इस नयी रहस्यधारा का नाम छायावाद पड़ा और ऐतिहासिक-दृष्टि से इसमें उक्त दोनों वर्गों (आदर्शवाद और यथार्थवाद) की मध्यस्थता के चिह्न भी, संभव है मिलें; किंतु दार्शनिक दृष्टि से वह अद्वैत पर स्थित है और वे दोनों वाद द्वैत पर। प्रसादजी ने इस अंतर का ही अधिक आग्रह किया है। उनकी मीमांसा से प्रकट होता है कि छायावाद ऊपरी दृष्टि से तो यथार्थवाद के ही निकट है (ऐसा कहते हुए उनका ध्यान आरंभिक आदर्शवादी छायावादियों की ओर नहीं गया, जिनकी एक प्रतिनिधि रचना 'साधना' है), किंतु प्रसादजी की सम्मति में यथार्थवाद श्री हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' आदि में स्थूल, बाह्य वर्णनों तक ही सीमित रहा, और दुःख-प्रधान था। छायावाद में 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी। वे नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था।'

यह प्रबल नवीन उत्थान किसी मध्यमार्गी के मान का नहीं था। इसके लिए नव्य दर्शन की आवश्यकता थी। यह नवीन दर्शन अद्वैत रहस्यवाद ही है, जिसके अनुसार 'विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है, जिनकी सौंदर्यमयी व्यंजना वर्तमान हिंदी में हो रही है।' छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। प्रसादजी का यह स्पष्ट मत है कि दार्शनिक दृष्टि से वह अभ्युत्थान प्राचीन रहस्यात्मक परंपरा में है, जिसे भूले भारत को बहुत दिन हो गये थे।

'नाटकों का आरंभ' और 'रंगमंच' पर प्रसादजी के दो निबंध उनकी उपर्युक्त पुस्तक में हैं, जिन्हें मूल में ही अध्ययन करने की आवश्यकता है। यहाँ उनका विवरण अधूरा और अप्रासंगिक भी होगा; क्योंकि उनमें व्याख्येय कोई विशेष वस्तु नहीं है, सब-का-सब विवरणात्मक है।

चार प्रश्न और भी विचारणीय हैं- वे चारों पहले ही निबंध (काव्य और कला) के हैं। वे उक्त पुस्तक के मूल प्रश्नों में से नहीं हैं, इसीलिए अब तक छूटे हुए थे। किंतु, अपने स्थान पर वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं। पहला प्रश्न कला की परिभाषा और दूसरा मूर्त और अमूर्त आधार पर कलाओं के वर्गीकरण का है। तीसरा काव्य पर राष्ट्रीय संस्कृति के प्रमाण और अंतिम प्रश्न काव्य में अनुभूति और अभिव्यंजना के संबंध का है। 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छंद रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य नहीं 'समस्यापूर्ति' की गणना कला में की गयी।

स्पष्ट ही काव्य केवल 'समस्यापूर्ति' नहीं है, समस्यापूर्ति या छंद तो उसका वाहन मात्र है- बिना सवार का घोड़ा। पाश्चात्य अर्थ में कला सवार-सहित घोड़ा है, इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक संस्कृति में उसका स्थान स्वभावतः भिन्न होना ही चाहिए।

कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न कला के पाश्चात्य अर्थ में है। चित्र, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि कलाओं के वर्गीकरण का कुछ क्रम आवश्यक है। हीगेल ने कलाओं के मूर्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है, जिसके अनुसार अत्यंत सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। और सब से नीचे स्थापत्य का स्थान है; क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यावहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता या नीचता का परिचायक नहीं। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुंदर मूर्ति उससे कहीं श्रेष्ठ कलावस्तु मानी जा सकती है। हीगेल का प्रयोजन इतना ही है कि और सब बातें बराबर हों, तो काव्य का स्थान उसके सूक्ष्मतर उपकरण के कारण सर्वोच्च होगा और उसके नीचे क्रमशः संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य कलाएँ होंगी। कला के उत्कर्ष-अपकर्ष की तुलना यहाँ नहीं है। वह तो एक-एक कलावस्तु की समीक्षा द्वारा ही हो सकती है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक विभाग की चर्चा है। इस संबंध में मतभेद के लिए विशेष स्थान मुझे नहीं दिखायी देता।

तीसरा प्रश्न काव्य-साहित्य पर राष्ट्रीय-संस्कृति की छाप का है। यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थाई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुंदर उदाहरण भी दिया है--' यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चौवायम् नपुंसक' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया है। देशांतर और जात्यंतर से इस प्रथा में भिन्नता भी पायी जाती है; इसलिए काव्य कें देश-जाति-गत कुछ स्थाई उपलक्षण (Conventions) मानने पड़ते हैं। अंतिम प्रश्न काव्य में अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रधानता-विषयक है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्ति की ही प्रधानता स्वीकार करता है; किंतु प्रसादजी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। उन्होंने इस संबंध में हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवियों का उदाहरण सामने रखा है- सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का। वे पूछते हैं- कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण हो वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके?' प्रश्न का उत्तर भी वे देते हैं - 'मैं तो कहूँगा, यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण।... "तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचंद्रजी की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद्र की शिशु मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।'

प्रसादजी का यह उत्तर सोलह आना सत्य है, किंतु अभिव्यञ्जनावादियों का प्रश्न यह है कि अनुभूति है क्या वस्तु? एक ओर तो कवि को अनुप्रेरित करनेवाले सृष्टि के वस्तु व्यापार हैं और दूसरी ओर है कवि का काव्य या अभिव्यक्ति। इन दोनों के बीच में अनुभूति है। यह अनुभूति काव्य-व्यापार में कहीं भी स्वतंत्र नहीं है। एक ओर वह बाह्य अभिव्यक्ति (संसार और उसके भावादिकों) से प्रतिक्षण निर्मित होती है और दूसरी ओर काव्याभिव्यक्ति में परिणत होती है। केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं है। अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य-निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचना-कौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचना-कौशल है।

प्रसादजी का इस मत से कोई विरोध नहीं है; किंतु वे इसकी छानबीन में उतरे नहीं हैं। हाँ, वे अभिव्यंजनावादियों की भाँति अनुभूति को गौणता न देकर उसे मुख्य मानते हैं। अनुभूति का निर्माण कैसे होता है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। वस्तुतः वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते हैं, और अभिव्यंजनावादियों की बाह्य प्रक्रियाओं और विवेचनों को विशेष महत्त्व नहीं देते। अभिव्यंजनावादी 'क्रोचे' और रहस्यवादी 'प्रसाद' में इतना ही मुख्य अंतर है। ❖❖

(1939 मार्च)

सांस्कृतिक सुगंधों की अनुगूँज

विजय बहादुर सिंह

संपर्क :
निराला नगर
दुष्यंत कुमार मार्ग
भोपाल

पुस्तक : काव्य और कला तथा अन्य निबंध
लेखक : जयशंकर प्रसाद

छायावाद में जयशंकर प्रसाद का व्यक्तित्व कविता की अभिनव दृष्टि लेकर तो आता ही है, भारतीय कविता की सूची में महान परंपरा का सजग दायित्व-बोध लेकर भी आता है। इसी के चलते उनकी कविता और नाटकों में भारतीय इतिहास और उसके पीछे काम करने वाली जातीय चेतना की आवाजें सबसे ज्यादा मुखरित हैं। अकारण ही नहीं उनके लेखन में सांस्कृतिक सुगंधों की अनुगूँज का वर्चस्व है। इस स्तर पर वे इतने सचेत और सजग हैं कि उनकी भाव-प्रवणता भी इसमें कोई अवरोध खड़ा करने नहीं देती बल्कि अपेक्षित सहयोग ही करती है। जहाँ कभी वे चूके हैं, उन जगहों पर भी उनकी काव्य-मेधा ने पुर्नचिंतन कर उनके कवि से इस चूक का परिमार्जन जल्दी ही करवा लिया है। 'आँसू' का पहला और दूसरा संस्करण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस आधार पर यह कहना असंगत नहीं माना जा सकता कि प्रसाद की काव्य-चेतना उनकी सांस्कृतिक चेतना की वशवर्तिनी रही है। वे चाहे काव्य की भूमि पर हों या नाट्य-लेखन की, इस तथ्य का अनुभव बराबर किया जा सकता है। इस आधार पर यह सामान्य कथन करने में कोई हर्ज नहीं कि उनकी भाव-भूमि का नियंत्रण उनकी सांस्कृतिक चेतना के हाथ में है। 'काव्य और कला' शीर्षक अपने निबंध में संभवतः इसीलिए लगभग एक सिद्धांत-सा प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं कि 'साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्यानुभूति की खोज प्रासंगिक नहीं, किंतु आवश्यक है। संस्कृति की दृष्टि में क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं- 'संस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक संबंध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखायी देता है। 'यह भी उन्हीं का कथन है कि 'संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इस आधार पर हम इस तलाश में जा भी सकते हैं कि प्रसाद का यह सौंदर्य बोध क्या है? प्रसाद के इस कथन को समझना चाहें तो कवि रघुवीर सहाय द्वारा अज्ञेय से की गयी बातचीत इस संदर्भ में हमारी मदद कर सकती है भारतीयता के मुद्दे पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए अज्ञेय पहले तो यह कहते हैं कि 'सांस्कृतिक अस्मिता की बात असल में तभी उठती है, जबकि किसी बाहरी कारण से उसकी ओर ध्यान दिलाया जाता है। इसीलिए जब दूसरी सभ्यता से हमारी टकराहटें शुरू हुईं तब यह सवाल केंद्रीय सवाल बनकर उठा कि हम कौन थे? यानी कि भारतीय जाति का जो समग्र अनुभव रहा - यानी जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी समग्र और सांस्कृतिक दृष्टि से भी समग्र हो। अज्ञेय इस संदर्भ में धर्म और काल संबंधी भारतीय अवधारणाओं का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'धर्म की एक भारतीय परिभाषा रही, जो संसार में और किसी जाति ने, किसी सभ्यता ने नहीं की।.. और दूसरी तरफ काल की अवधारणा है जो पश्चिम की तुलना में तो बहुत विशेष हो जाती है... तो, यह हम कह सकते हैं कि हमारी इस सभ्यता के विकास में एक विशेष अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई और उसको हम भारतीयता का लक्षण मान सकते हैं।

अज्ञेय किंतु यह भी कहना जरूरी मानते

हैं कि ऐसी स्थितियाँ तभी उपस्थित होती हैं जब संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में टकराहटें शुरू होती हैं। ऐसी ही स्थितियों में किसी समाजविज्ञानी भारतीय चिंतक को ये चिंताएँ सताने लगती हैं कि आखिर हमारा अपना भी कोई जातीय चित्त, मानस और काल कोई स्वाधीन वस्तु सत्य है या फिर वह कभी मौलिक मानस और स्वाधीन सृजनशीलता से काम ले ही नहीं पाया न ही कभी उसके योग्य था।

भारत के लोगों को यह बताने की जरूरत नहीं कि गांधी से पहले के चिंतकों ने भी स्वयं को इस सवाल से रू-ब-रू किया है जिसकी एक उज्ज्वल सूची हमारे पास है। सुविधा के लिए लौटकर अगर हम 'हिन्द स्वराज' वाले गांधी को ही लें तो साफ दिखता है कि पराये मुल्कों को उपनिवेश बनाने वाले देशों को वे सभ्य नहीं मानते और उनकी सभ्यता को राक्षसी कहते हैं। भारत के लोगों को राक्षस शब्द समझाने की जरूरत शायद नहीं है। इस प्रयोग में भी गांधी की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि ही काम कर रही है।

गांधी के बाद के चिंतकों में धर्मपाल जैसे गांधीवादी विचारक ने अपनी छोटी-सी पुस्तिका 'भारतीय चित्त, मानस और काल' में अकारण नहीं लिखा कि हम अब किसी अन्य के संसार में रहने लगे हैं, अपना सर्वस्व छोड़कर। गांधी ने इन रहने वालों में सबसे अधिक अंग्रेजियत जीने वालों को माना था। धर्मपाल इससे दो कदम और आगे जाकर यह कहते हुए मिलते हैं कि इसके बरक्स भारत का जन-सामान्य फिर भी अपने लोक में अभी भी निवास करता है। गुलाम तो वस्तुतः कथित पश्चिमवादी ही हैं।

ऐसा कैसे हुआ, इसकी तहकीकात में जाएँ तो साम्राज्यवादी हितों को साधती पश्चिमी ढंग की शिक्षा-दीक्षा एक बहुत बड़े कारण के रूप में सामने आ खड़ी होती है जिसे आजादी के बाद के कुछेक बौद्धिकों और लेखकों ने अच्छे से समझा और कहा भी है।

किंचित और बड़े राष्ट्रीय फलक पर जाकर देखें तो कुबेरनाथ राय जैसे लेखकों ने इस संदर्भ में अन्य कई महत्त्वपूर्ण हवाले भी दिए हैं। 'पत्र मणिपुतुल के नाम' शीर्षक अपनी पुस्तिका में वे लिखते हैं- 'देखो पुतुल, विश्व इतिहास में 19वीं शती तक आते-आते भारतवर्ष अपनी प्रतिष्ठा का मुकदमा हार चुका था। परंतु उसे अंतिम पराजय से बचाने वाले भारतीयों में तीन नाम विशेष रूप से आते हैं : विवेकानंद, रवींद्रनाथ और तीसरा एक अपेक्षाकृत अल्पज्ञात नाम है सर आनंद कुमारस्वामी। पहले ने उसकी दार्शनिक महिमा को विश्व इतिहास की अदालत में उपस्थित किया, दूसरे ने साहित्यिक महिमा को और तीसरे ने उसकी कलात्मक गरिमा को। इन तीनों ने मिलकर भारतीय अस्मिता को पश्चिम के मुकाबले में खड़ा ही नहीं किया, प्रतिष्ठित किया।'

प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक किशन पटनायक का लेख 'गुलाम दिमाग का छेद' इस संदर्भ में बेहद पठनीय है। 'हिन्द स्वराज' की खूबियों का बयान करते हुए वे लिखते हैं कि गांधी उस बहाने भारत को अठारहवीं सदी में ले जाने का अभियान सा छेड़े हुए थे, जिससे गुलामी से पहले वाली स्थिति में खड़े होकर हम अपनी यात्रा फिर से शुरू कर सकें। गांधी ने इसे समझ लिया था कि हम अपनी बुनियादी स्वाधीनता गँवा चुके हैं। इतना ही क्यों बल्कि उपनिवेशवादी साम्राज्यवादियों के मुहावरों में बुरी तरह फंस चुके हैं। इसे समझकर ही गांधी के एक शिष्य और स्वयं को कुजात गांधीवादी कहने वाले राम मनोहर लोहिया ने भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठा दिलाने वाला अंग्रेजी हटाओ आंदोलन छेड़ रखा था। इसके मूल में वही अंग्रेजियत विरोध था।

पश्चिम के प्राच्यवादियों और एशियाटिक सोसाइटी के बौद्धिकों ने भारत को समझने की जो कोशिशें कीं, उनकी इन कोशिशों के पीछे के मंसूबों का खुलासा करते हुए डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'इंडियाज इंटलैक्चुअल ट्रेडीशन' पुस्तक की भूमिका में लिखा कि इन प्राच्यवादियों के अपने निहित स्वार्थ थे, जिनके चलते उन्होंने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के अपने अध्ययनों में भारत की सृजनात्मकता को कमतर आँकने और दिखाने की कोशिश की। व्यापक अर्थों में यह उनकी एक सांस्कृतिक साजिश थी। हिंदी की आलोचना की सोच पर भी इसके बुरे असर दिखे, जिसकी ओर इशारा करते हुए कवि-चिंतक प्रसाद ने लिखा- 'हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए, क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नहीं है।

अपने 'रहस्यवाद' वाले निबंध में भी वे बार-बार हिंदी की 'विज्ञ आलोचना' (जिसके केंद्र में आचार्य शुक्ल हैं) को लेकर चिंता व्यक्त करते हुए यह आरोप मढ़ने में भी संकोच नहीं करते कि इस सबका कारण 'अपनी स्वरूप-विस्मृति' तो है ही, 'विचारों की संकीर्णता' भी है। भारतीय काव्य-परंपरा का हवाला देते हुए वे अन्यत्र भी कहते हैं कि न तो छायावाद बाहरी है, न रहस्यवाद। दूसरे यह 'साहित्य में विश्वसुंदरी 'प्रकृति में चेतना' का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद 'सौंदर्य-लहरी' के 'शरीरं त्वं शंभो' का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिंदी में इस रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदंम् से समन्वय करने का सुंदर प्रश्न है। हाँ, विरह भी मूँग की वंदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।

शुक्ल जी भले इसे विदेशों से आयी हुई चीज मानते हों, किंतु परवर्ती दिनों में विकसित हुई वामपंथी आलोचना दृष्टि के

मुक्तिबोध 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में साफ-साफ लिखते हैं कि 'प्रसाद जी की भावना पर तत्कालीन अद्वैतवादी भाववादी विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा जो उन दिनों प्रचलित थीं। इसके पहले वे मध्ययुगीन भक्तिकाल के कवियों की सामाजिक मानवीयता के आदर्शों की तुलना में प्रसाद जी के रहस्यवाद को 'आधुनिक अभिजातवर्गीय रहस्यात्मक अद्वैतवाद' से जोड़ते हुए उसे विवेकानंद, रवींद्रनाथ के 'प्राचीन अद्वैतवाद' का पूर्ण संस्करण मानते हैं।

यह विचित्र बात है कि शुक्ल जी तो छायावादी रहस्यवाद को विदेशों की उतरन मानते हैं और मुक्तिबोध उसे 'प्राचीन अद्वैतवाद का ही प्रसंस्करण'। इस संदर्भ में प्रसाद जी द्वारा उठाया गया 'स्वरूप विस्मृति' वाला मुद्दा और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है। गनीमत यह कि कथाकार और नाट्य-लेखक प्रसाद यहाँ मुक्तिबोध के आदर्शों पर खरे उतरते हैं और मुक्तिबोध मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। 'कामायनी' विवेचन के क्रम में भी वे यह कहने में कोई किफायत नहीं बरतते कि प्रसाद जी को समाज और जाति ने, अर्थात् आधुनिक जीवन जगत् ने, जो दृष्टि प्रदान की, वह थी राष्ट्रवादी सांस्कृतिक अभ्युत्थान से प्रेरित। प्रसाद जी ने अतीत के गौरवमय चित्र उपस्थित कर राष्ट्रीय सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग दिया है। किंतु प्रसाद के लेखन में यह बात किसी सतही नारेबाजी या फिर फौरी आंदोलन की भाषा बनकर नहीं आयी है जैसा कि छायावादियों को लेकर कभी-कभी यह चलती सी धारणा बना ली जाती है कि वे तो कोरे भाववादी और कल्पनावादी थे। न केवल प्रसाद-निराला, अपितु महादेवी के अध्येता भी जानते हैं कि इनका अपना अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक और दृष्टि बहुत गहरी थी। प्रसाद के नाटकों की भूमिकाएँ, तथा काव्य और कला जैसे निबंधों से गुजर कर यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि 'स्वाध्याय को बुद्धि का यज्ञ' मानने वाले प्रसाद स्वयं कैसे और कितने स्वाध्यायी थे। किंतु यह सब केवल पांडित्य-प्रदर्शन के प्रयोजन के लिए नहीं था। इसका असली प्रयोजन उस भारतीय दर्शन, हिंदी कविता और भारतीय साहित्य की परंपरा को जानने और इस बहाने स्वयं को समृद्ध करना था जो उनके लेखन को एक ऊर्जा का सौंदर्य प्रदान कर सके। प्रसाद का अध्ययन क्षेत्र विश्व के चुनिंदा दर्शन और जीवन-दृष्टियों को समझने से जुड़ा हुआ भी था जिसे हम उनके 'रंगमंच' और रहस्यवाद' वाले निबंध की वैचारिकी से जान सकते हैं।

'काव्य और कला' वाले निबंध में प्रसाद भारत में आयोजित की जाने वाली दो विशिष्ट परीक्षाओं की याद हमें दिलाते हैं- 'काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षा अलग-अलग थीं। काव्यकार परीक्षा उज्जयिनी और संस्कार परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो भागों में विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था'। यहीं वे यह वाक्य लिखना नहीं भूलते कि 'कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

प्रसाद का सीधा आग्रह है कि हम अपनी ज्ञान-परंपरा और जीवन-धारा को अपनी दृष्टि से देखें। भारत क्या है, इसकी अस्मिता क्या है, विश्व-पटल पर यह साम्राज्यवादी सभ्यताओं से किस मायने में भिन्न है और क्यों इसकी यह विशिष्टता और विश्व-बोध बचाया जाना चाहिए, यह आज भी एक बड़ी लड़ाई है, जिसे छायावाद के प्रवर्तक कवि प्रसाद अपने समय में गांधी और रवींद्रनाथ के साथ और समानांतर लड़ रहे थे। धर्मपाल जैसे चिंतक ठीक ही यह दर्द बयाँ कर रहे थे कि हम स्वयं को दूसरे की आँख से देखने लगे हैं और यही दुर्भाग्यपूर्ण है।

किंचित और बड़े राष्ट्रीय फलक पर जाकर देखें तो कुबेरनाथ राय जैसे लेखकों ने इस संदर्भ में अन्य कई महत्त्वपूर्ण हवाले भी दिए हैं। 'पत्र मणिपुतुल के नाम' शीर्षक अपनी पुस्तिका में वे लिखते हैं- 'देखो पुतुल, विश्व इतिहास में 19वीं शती तक आते आते भारतवर्ष अपनी प्रतिष्ठा का मुकदमा हार चुका था। परंतु उसे अंतिम पराजय से बचाने वाले भारतीयों में तीन नाम विशेष रूप से आते हैं : विवेकानंद, रवींद्रनाथ और तीसरा एक अपेक्षाकृत अल्पज्ञात नाम है सर आनंद कुमारस्वामी। पहले ने उसकी दार्शनिक महिमा को विश्व इतिहास की अदालत में उपस्थित किया, दूसरे ने साहित्यिक महिमा को और तीसरे ने उसकी कलात्मक गरिमा को। इन तीनों ने मिलकर भारतीय अस्मिता को पश्चिम के मुकाबले में खड़ा ही नहीं किया, प्रतिष्ठित किया।'

आगे की पंक्तियों में कुबेर जी अस्मिता क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- 'अस्मिता का अर्थ व्यक्तित्व होता है। परंतु भारत की आत्मा को, जो अस्मिता से भी सूक्ष्मतर-गंभीरतर सत्ता है, विश्व इतिहास की अदालत में उपस्थित करना शेष था और यह काम किया था महात्मा गांधी ने अपने व्यापक और सहज जीवन के द्वारा। विश्व इतिहास के आधुनिक दौर में यही चार हमारे वकील हैं।'

कुबेरनाथ राय भले ही इसमें पाँचवां नाम जोड़ने में चूक कर गये हों, किंतु बुद्धि और रचनात्मक धरातल पर प्रसाद ने जो लड़ाइयाँ लड़ी हैं, वे हमारी इसी लड़ाई के हिस्से हैं। पहली तो यही कि हमारी न केवल कला-दृष्टि बल्कि समूची जीवन-दृष्टि सदैव स्वतंत्र और स्वाधीन रही है। अन्य दूसरे देशों की तुलना में वह, अधिक उदार और जरूरत से ज्यादा मानवीय रही है। आधारभूत तौर पर जमीनी होकर भी वह सदैव ऊर्ध्वमुखी रही है। भौतिक भोगों को जीवन का प्राथमिक सच मानते हुए भी वह उन ठिकानों तक की यात्रा करने में सक्षम रही है जिनमें आध्यात्मिक ठिकाने स्वभावतः शामिल हैं। किंतु यह सावधानी जरूर बरतनी पड़ेगी कि छायावादियों का आध्यात्मिक विश्व कर्मकांडी हिंदुत्ववादियों

या फिर किन्हीं संप्रदाय वादियों का विश्व नहीं है। इसे समझना हो तो 'कामायनी' में श्रद्धा द्वारा गाया जा रहा गीत- 'तुमुल कोलाहल कलह में... की भूमि तक स्वयं को ले जाना होगा।

यह एक ऐसा मोर्चा था प्रसाद जिस पर अपने साहित्य को एक हथियार बनाकर लड़ रहे थे। यह वही ऐतिहासिक थे जो उस बुद्धिवादी जमाने में यह कह पा रहे थे कि काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है .... वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा है। ... वह एक द्रष्टा कवि का सुंदर दर्शन है। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।' उसी संदर्भ में वे यह भी कहते हैं कि 'इसी कारण हमारे साहित्य का आरंभ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुंदर दर्शन है।' वे याद दिलाते हैं कि प्राचीनकाल में कवि और ऋषि पर्यायवाची शब्द माने जाते थे- 'ऋषयो मंत्र द्रष्टारः।'

सरलीकरण की ओर चलें तो कहें कि एक ऐसी मनोवस्था जो असाधारण हो। वह जो श्रेय सत्य को प्रियतर सत्य में रचने की शक्ति से संपन्न हो। जो हमारी औपचारिक बौद्धिक कोशिशों से अलग कोई एक ऐसी आकस्मिक और स्वतः स्फूर्त मनःस्थिति है जो हमारी रोजमर्रा की लोक बुद्धि से परे हो। या फिर लोक व्यवहारों को दरकिनार करती आयी ऐसी अवस्था, जिसे हम अपनी चेतना और अंतर्दृष्टि के बल पर ग्रहण कर पाते हैं और रच भी।

ध्यान देने योग्य है कि प्रसाद यहाँ पौराणिक नदियों की तरह किसी गणेश, सरस्वती या काली, दुर्गा की वरदायी शक्ति का हवाला नहीं देते। वे नहीं मानते कि मनुष्य से बाहर कोई ऐसी शक्ति है जो किसी पूजा-अर्चना से प्रीत होकर किसी साधक, कवि या लेखक पर एक दिन बरस पड़ती है। तथापि वे प्रकृति से बड़ी सत्ता मनुष्य को नहीं मानते। यही

यह कथन उपन्यास में उस ब्रह्मचारी का है, जिसे सुनकर वणिक-बुद्धि बौद्धानुयायी धनदत्त ने खीझ भरे स्वर में कहा था- 'आपको भी संगीत से प्रेम है?' तब इसी ब्रह्मचारी ने प्रत्युत्तर में ये शब्द भी कहे थे- 'क्यों न हो, संगीत मेरी तन्मयता में आनंद की मात्रा बढ़ाने में समर्थ है। तुम लोगों के कल्पित दुःख और विवेक की अतिरंजना के आवरण को वह सहज ही हटा देता है। याद करें तो श्रद्धा और मनु के संवादों में भी यह संदर्भ लाया गया है-

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।

(श्रद्धा सर्ग, कामायनी)

प्रसाद का यथार्थवाद है, आधुनिकतावाद भी, जो भारत की अपनी भी दृष्टि है।

इस संदर्भ में साथी कवि निराला का मानस किंचित अलग है। उनके यहाँ वीणावादिनी, देवि, महाशक्ति आदि खूब हैं। इनके प्रति निराला की अटूट आस्थाएँ भी असंदिग्ध हैं। इसीलिए निराला का एक चुनिंदा काव्यांश इन चित्रणों से अँटा पड़ा है, जबकि हैं वे भी परम अद्वैतवादी। संभव है यह इस संदर्भ में उन पर बंगाल के रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का असर हो।

प्रसाद के मानस पर इस तरह का कोई असर दिखायी नहीं देता। अपने लेखन में वे ऐसी किसी पौराणिक शक्ति पर विश्वास करते दिखायी नहीं देते। इसका एक कारण उनकी वह आत्मवादी या आनंदवादी दृष्टि है जिसका उपस्थापन वे 'कामायनी' में करते हैं। 'रहस्यवाद' वाले अपने निबंध में वे एक चौंका देने वाला यह वाक्य भी लिखते हैं- 'जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था, उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता है। वे इसमें दार्शनिक अनात्म नदियों को तो तौलते ही हैं, भक्तिवादियों को भी इन्हीं के साथ शामिल करते हैं। उनकी इस व्याख्या की चपेट में साथी कवि निराला भी आ ही जाते हैं। या फिर यों कहें कि निराला का रचनात्मक मानस, तुलसी की तरह एक अर्थ में समन्वयवादी था, जबकि प्रसाद का शुद्ध बौद्धिक और आगमिक। तब भी प्रसाद जब कभी बौद्धों की कतिपय बातों से सहमत होते तो दिखते हैं और अपनी भटकी हुई दुनिया को रास्ते पर लाने के लिए उनके विचारों से यदा-कदा मदद भी लेते हैं किंतु उसे जातीय जीवन की मुख्य धारा मानने को वे तब भी तैयार नहीं दिखते। यद्यपि बौद्धों का दुःखवाद, उनकी धार्मिक दृष्टि और उसकी सामाजिक-राजनीतिक परिणतियों से वे कदापि सहमत नहीं हैं बल्कि ये भी भारतीय दृष्टियाँ ही हैं।

प्रसाद उन अतीतवादियों में भी नहीं हैं जो राष्ट्रवाद और अतिवादी या फिर उग्र भारतीय वेद के नाम पर देश के अवाम को अतीत की अंधी गुफाओं की ओर ले जाना चाहते हैं। विपरीत इसके वे उसी तर्क संगत, ऊर्जास्पद अतीत की याद दिलाते हैं जो आधुनिक भारत को शक्ति और तेज से युक्त कर सके। यह तो सुस्पष्ट है कि बौद्ध-कालीन इतिहास और उस काल के चरित्रों को प्रसाद ने फिर भी बहुधा चित्रित किया है, लेकिन किसलिए? इसका उत्तर-सा देते हुए 'जयशंकर प्रसाद' शीर्षक अपनी पुस्तक में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं- 'बौद्ध-कालीन चरित्रों के अध्ययन से प्रसाद जी ने एक मुख्य वस्तु निकाली नारी-शक्ति का सम्मान, दूसरी मुख्य वस्तु निकाली अहिंसा अर्थात् पतितों के प्रति करुणा का भाव।' इससे यह निष्कर्ष निकाला ही जा सकता है कि प्रसाद की चेतना का एक हिस्सा बौद्ध जीवन-दृष्टि के प्रति मौके-मौके पर अपनी उन्मुखता जाहिर करता रहा है। इस संदर्भ में चंद्रगुप्त' नाटक में मगध के अमात्य राक्षस का सुवासिनी से कहा यह संवाद हमें उनके दृष्टिकोण को समझने में काफी मदद कर सकता है- 'परंतु सुवासिनी, मैं

स्वयं हृदय से बौद्ध मत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक, इतना ही कि संसार दुःखमय है। किंतु जहाँ प्रत्यक्ष सामाजिक और राजनीतिक जीवन-व्यवहार का प्रश्न सामने आता है, प्रसाद इसी नाटक में चाणक्य जैसे पात्रों के पास यह कहते हुए जा खड़े होते हैं- 'परंतु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही संघ विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।' दुःखवादी दृष्टि से अगर प्रसाद की कोई सहमति बनती है तो वह उनकी करुणा को लेकर है। इसे हम उनकी कविता 'अशोक की चिंता' में देख सकते हैं।

इस समूचे संदर्भ के प्रसंग में प्रसाद एक ऐसे व्यावहारिक चिंतक के रूप में सामने आते हैं जिनका दृष्टिकोण मुझे अधिक यथार्थपरक लगता है, खासकर उपनिवेशवाद के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते एक महादेश के लिए। वे बार-बार यह समझाने की कोशिश करते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में न केवल अपनी जीवन-दृष्टि, बल्कि व्यवहार दृष्टि पर भी हमारा पुनर्विचार करना जरूरी हो उठता है। चंद्रगुप्त नाटक के ही दूसरे अंक के आठवें दृश्य में मालव सिंहरण और मागध चंद्रगुप्त में परंपरागत भारतीय राजनीति और यवन रणनीति को लेकर की जाती बातचीत में चंद्रगुप्त सिंहरण से कहता है- 'यवन लोग आर्यों की रणनीति से नहीं लड़ते। वे हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छंदता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं।'

बीसवीं शताब्दी के उस दूसरे-तीसरे दशक में अपने समूचे लेखन द्वारा प्रसाद जी द्वारा उठायी गयी ये बहसें मूलतः उस नये बनते राष्ट्र के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों से संबंधित हैं जिनका अनुभव यह देश उन दिनों कर रहा था। यही कारण है कि सिद्धांततः वे उस अनात्मवादी साथ ही भक्तिवादी जीवन-दृष्टि से सिरे से असहमत हैं जो उन्हीं के शब्दों में भारत की विवेकवादी धरा रही है। वे मानते हैं कि सृष्टि का मूल स्वरूप आनंदमय है। आनंद का यह अनुभव तब और अधिक दुगुना और सघन हो उठता है जब कठिन उतार-चढ़ावों और संघर्षों के बाद हम इस तक पहुँचते हैं। इस रूप में प्रसाद हलाहल रूपी दुःख को भी एक सत्य की तरह स्वीकार करते हैं, किंतु अंतिम और निर्णायक सत्य तो फिर भी नहीं। जीवन एक संघर्ष है और उसे आत्मविश्वास के बल पर ही जीता जा सकता है। यह प्रसाद की आधारभूत धारणा है। इस संदर्भ में कामायनी का श्रद्धा सर्ग याद करने योग्य है। प्रसाद के साहित्य में वर्णित चरित्र चाणक्य, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अलका और शिवसेना इसे बार-बार साबित करते हैं। 'मनु' के चरित्र-विकास में भी किसी परोक्ष सत्ता का कोई हाथ प्रदर्शित नहीं है। प्रसाद में मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति यह अनन्य आस्था विरल है। वस्तुतः प्रसाद उन्हीं सत्यों को प्रतिध्वनित करते हैं जिनका कथन समूचे भारतीय काव्य में किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए रामचरित मानस में राम-रावण युद्ध के दौरान विभीषण की आशंकाओं का निवारण करते हुए राम ने युद्ध जीतने के लिए जिन आध्यात्मिक या कहें मानसिक शक्तियों का उल्लेख किया है, प्रसाद की चेतना में भी उनका परोक्ष समावेश अनुभव किया जा सकता है।

इतिहास और सांस्कृतिक जीवन के इन चरित्रों को चुनकर उन्होंने जो काव्येतिहास रचने की महती पहल की है, वस्तुतः वह नये भारत की नयी चेतना के निर्माण की ही कोशिश है। और ये कोशिशें निराधार भी नहीं हैं, बल्कि हमारे सामाजिक जातीय अनुभवों में मौजूद रही आयी हैं। इसी के लिए तो वे विस्मृत जातीय इतिहास के पास बार-बार जाते हुए यहाँ तक कह जाते हैं कि यह हमारी जातीय अस्मिता है।

अपना अंतिम उपन्यास 'इरावती' भी (दुर्भाग्यवश जो अधूरा रह गया) इसी निमित्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिख रहे थे। उसके अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। यहाँ भी वे क्या कहना चाहते थे, अगर संकेतों में ही समझना चाहें तो 'इरावती' उपन्यास की इन पंक्तियों की ओर लौटना पड़ेगा। उपन्यास का यह संवाद वैराग्यमूलक बौद्ध धर्मानुयायी श्रेष्ठि धनदत्त और एक ब्रह्मचारी के बध्य का है जो एक संगीत सभा में साथ-साथ उपस्थित हैं-

धनदत्त को अपनी वणिक-बुद्धि के अतिरिक्त नागरिक संस्कृति भी प्रदर्शित करने की प्रेरणा जग पड़ी थी। उसने कहा- 'क्या उच्च सत्य को पाने के लिए, हमें क्षुद्र विचार की नालियों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए?' अतिक्रमण करके आपका विवेक संसार से आपको अलग, अपनी ओर भी संकुचित भूमिका में खड़ा कर देगा। जहाँ केवल विराग ही नहीं, अपितु आसपास के फैले हुए संसार से घृणा भी नाक सिकोड़ने लगेगी। उस विवेक को भी हम क्या कहें, जो हमको संसार से विच्छिन्न करके वैराग्य और अपनी पवित्रता के अभिमान में, हमें अद्‌भुत परिस्थिति में डाल दे। हमारा विश्व से सामंजस्य होना असंभव कर दे। शंकाओं से, निषेधों से हमें जकड़ कर काल्पनिक उच्च आदर्शों के लिए वामन की तरह उचकते रहने की हास्यजनक स्थिति में सदैव डाल रखे।

यह कथन उपन्यास में उस ब्रह्मचारी का है, जिसे सुनकर वणिक-बुद्धि बौद्धानुयायी धनदत्त ने खीझ भरे स्वर में कहा था- 'आपको भी संगीत से प्रेम है?' तब इसी ब्रह्मचारी ने प्रत्युत्तर में ये शब्द भी कहे थे- 'क्यों न हो, संगीत मेरी तन्मयता में आनंद की मात्रा बढ़ाने में समर्थ है। तुम लोगों के कल्पित दुःख और विवेक की अतिरंजना के आवरण को वह सहज ही हटा देता है। याद करें तो श्रद्धा और मनु के संवादों में भी यह संदर्भ लाया गया है-

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।

(श्रद्धा सर्ग, कामायनी)

इसके बाद प्रसाद जो पंक्तियाँ रचते हैं, वे उनकी इसी 'राग-दृष्टि' की घोषणा करती हैं- 'जिसे तुम समझे हो अभिशाप जगत की ज्वालाओं का मूल ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत इसको जाओ भूल।' 'चंद्रगुप्त' नाटक की 'अलका' द्वारा गाये जाने वाले समूह गीत में भी वे यही संदेश लेकर खड़े हैं 'प्रवीर हो, जयी बनो' आदि शब्दों में भावों का एक आंदोलन जैसा चल रहा हो। यहाँ प्रसाद के लेखन की प्रेरकता, प्रबोधन आवृत्ति और पौरुष भंगिमा का अनुभव सहज ही किया जा सकता है।

प्रसाद की जातीय जीवन-दृष्टि को इन्हीं उद्धरणों के बल पर समझते हुए हमें यह निष्कर्ष लेना होगा कि वे प्रथमतः भूतार्थवादी या फिर यथार्थवादी थे। वे मानव-पुरुषार्थ और उसकी शक्तियों पर भरोसा करने वाले आधुनिक लेखक थे। अनात्मवादी बौद्ध-दर्शन या फिर त्राणवादी भागवत वाले, अगर उनके लेखन में प्रायः आलोचना के विषय आए हैं और रहस्यवाद और आनंदवाद जीवन के आदर्श, तो कारण यही है कि प्रसाद समूची सृष्टि को आनंदमयी और शक्तिमयी मानते हैं। उपनिवेशकाल में इसकी जरूरत जितनी थी, आज उससे कुछ ज्यादा ही है। इन पंक्तियों से गुजर कर यह अनुभव सहज हो उठता है कि प्रसाद के लेखन की पॉलिटिक्स' मुक्तिबोध के मुहावरे में क्या थी। उन्हीं के शब्दों को दुहराऊँ तो 'जातीय निर्वीयता' के विरुद्ध जातीय पौरुष और तेजस्विता की माँग और यह प्रसाद में खूब हैं।

छायावादियों में अकेले प्रसाद हैं जो 'प्रलय की छाया' जैसी कविता में रानी कमला के मुँह से यह कहलवाते हैं-'जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है, इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है।' इसलिए उनका समूचा चिंतन भौतिक जीवन को प्रथमतः केंद्र में मानते और उसके खूबसूरत सपने में डूबते हुए संपन्न होता है यह अलग बात है कि इस प्रक्रिया में वे न तो मानसिक अंतर्द्वंद्वों की स्वाभाविकता को झुठलाने की कोशिशें करते हैं, न छोटी-मोटी असफलताओं और पराजयों को। ये सब जीवन के स्वाभाविक क्रम और विकास के लक्षण हैं किंतु जीवन का अंतिम लक्ष्य और सोपान तो अपराजेयता बोध ही है।

इसी प्रयोजन से वे काव्य और कला की अनेक साहित्य विधाओं की ओर जाकर एक ऐसे देश का सपना देखते हैं, जो किन्हीं भी उपनिवेशवादियों का न तो उपनिवेश बनने को राजी है, न अन्य देशों को गुलाम बनाने के रोग से ग्रस्त। प्रसाद का सम्पूर्ण लेखन इसी सपने का द्विधाहीन संकल्प और प्रतिबिम्बन है।

आजादी के आस-पास इस सपने का एक प्रारूप समाजवाद के रूप में भी आया था तो दूसरा सर्वोदय-वाद के रूप में। उससे भी अलग आदर्श समाज की यह कल्पना विवेकानंद के सपनों में झलकी तो गांधी में भी। दोनों के यहाँ अपने-अपने सपनों वाले भारत- 'मेरे सपनों का भारत' के रूप में दिखा तो आधा-अधूरा अंबेडकर में भी था। असल बात यह है कि सपने देखना मनुष्य का जन्मजात-स्वभाव है। तब भी कतिपय साहित्य-विचारकों और लेखकों की दुनिया में यह सब अब यूटोपिया मात्र माना और कहा जाने लगा है। यथार्थ नदियों के इस संसार में ऐसे सपनों की कोई प्रासंगिकता फिर भी है, इस पर बहस तो की जा सकती है। जवाब में तब हमारे अपने ही समय के एक पंजाबी कवि अवतार सिंह पाश की ये पंक्तियाँ सबसे पहले हमारे सामने आ खड़ी होती हैं-

सबसे खतरनाक होता है
मुर्दा शांति से भर जाना
न होना तड़प का
सब सहन कर जाना
घर से निकलना काम पर
और काम से लौटकर घर जाना
खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना

प्रसाद की चेतना में इस तड़प का अनुभव कोई करना चाहे तो उसे 'चंद्रगुप्त' नाटक के चाणक्य के इस कथन में कर सकता है। मगध के बंदीगृह में कैद चाणक्य अपने एकांत में सोच रहा है-

'समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना! परंतु मन में इतने संकल्प और विकल्प? एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आंधी चला देने की भी कठोरता है। याद करें रामप्रसाद बिस्मिल और उनके साथियों की प्रिय गजल 'सरफरोशी की तमन्ना' के एक शेर में यही भाव बुनियादी तौर पर है- 'वक्त आने दो बता देंगे तुझे ऐ आसमाँ, हम अभी से क्या बताएँ क्या हमारे दिल में है।'

प्रसाद का रचा प्रत्येक शब्द तड़प और बेचौनियों के इसी आलम में डूबा हुआ है। उनके सपनों की इबारतें इन्हीं राहों से होकर गुजरती हैं फिर इस रास्ते पर वे अकेले भी कहाँ हैं। रवींद्रनाथ, विवेकानंद और गांधी भी तो उनके साथ हैं। याद करें तो बीसवीं सदी के हिंदी साहित्य का सबसे बड़ा सवाल यही था कि हम कौन हैं और इसका सबसे सटीक जवाब देने की कोशिश किसी एक लेखक ने अगर उसी सदी में की तो जयशंकर प्रसाद ही हैं। उनका संपूर्ण लेखन उसी जातीय अस्मिता की खोज और प्रतिष्ठा का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनुसंधान है। ❖❖

भारतीय कलाबोध का आख्यान है
'द डांस ऑफ शिवा'

रजनीश कुमार शुक्ल

संपर्क :
कुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

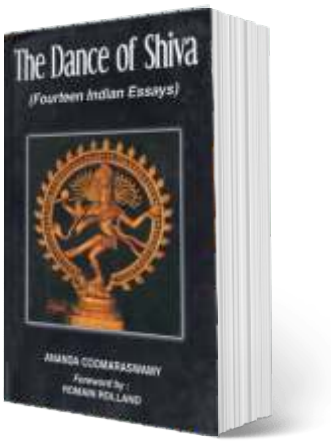

पुस्तक : द डांस ऑफ शिवा
लेखक : आनंद केंटिश कुमारस्वामी
प्रकाशक : शिवालिक प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2010
मूल्य : 295 रु.

आनंद केंटिश कुमारस्वामी भारतीय संस्कृति-सभ्यता के ऐसे विचारक हैं, जो भारत के हार्द को प्रस्तुत करते हैं। भारत की कला और शिल्प के इतिहास में समकालीन यूरोप की समस्त वैज्ञानिकता और उनकी सभ्यता की निष्पत्ति देखते हैं। आनंद कुमारस्वामी अपनी सर्वाधिक चर्चित पुस्तकों में से एक 'द डांस ऑफ शिवा' (The Dance of Shiva) जो वस्तुतः भारतीय कला, दर्शन और संस्कृति को समझने के लिए उनके द्वारा लिखे गये चौदह निबंधों का संग्रह है, उसमें अत्यंत प्रकृष्टता के साथ भारत को, उसके मूल हार्द और आदर्शों के साथ प्रस्तुत करते हैं।

इस पुस्तक का पुरोवाक् लिखते समय रोमां रोलां ने जो टिप्पणियाँ की हैं, उससे बेहतर इस ग्रंथ की समीक्षा नहीं हो सकती। रोमां रोलां का मानना है कि यह पुस्तक आत्मा की शक्ति और उस शक्ति में सन्निहित अधिग्रहण की क्षमता का अत्यंत महनीय निरूपण है। यह पुस्तक, वस्तुतः मनुष्य के आनंद को अभिव्यक्त करने के लिए लिखी गयी है। आनंद कुमारस्वामी केवल एक भारतविद् के रूप में नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व सभ्यता के त्राण के लिए भारत की भूमिका को केंद्र में रखते हुए इस पुस्तक में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। संभवतः पुस्तक का शीर्षक रखे जाने का मंतव्य या उद्देश्य है। पुस्तक के प्रारंभ में ही नटराज शिव की मद्रास संग्रहालय में रखी हुई 12वीं शताब्दी की कांस्य प्रतिमा का जो चित्र लगाया गया है, वह शिव के वैश्विक नर्तन, लीला और संहार के पीछे जो रिद्म है, गति है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त है।

इस पुस्तक के सभी निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। पहला ही निबंध 'भारत ने मानव कल्याण के लिए क्या योगदान किया है', भारतीयता की पड़ताल करता है वहीं अगले दो निबंध भारत एवं हिंदू कला दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें ऐतिहासिक रूप से और सौंदर्य के प्रत्यय को केंद्रित कर क्रमशः विचार किया जा सकता है, जिसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, जो स्थिति रूप में है, उसको पहचानना पड़ता है, उसको जानना पड़ता है। वस्तुतः यह पुस्तक भारत की सौंदर्य दृष्टि की पड़ताल करती ही है साथ ही यह भारतीय सौंदर्य की अवधारणा को अत्यंत उत्कृष्टता के साथ प्रस्तुत करती है। चौथे निबंध में प्रतिपादित भी करते हैं कि वस्तुतः सौंदर्य एक स्थिति है- It is State, not the Creation। वस्तुतः भारत की सौंदर्य दृष्टि की पड़ताल करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। इस पुस्तक में भारत की सौंदर्य दृष्टि की पहचान करते हुए मनुष्य सौंदर्यमय, शांत और आनंदित जीवन कैसे तलाश सकता है, इसके खोये हुए सूत्रों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक की प्रारंभिक पंक्तियों में ही नृजातीयता के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए आनंद केंटिश कुमारस्वामी कहते हैं कि प्रत्येक जाति का कुछ विशिष्ट अवदान है। उस अवदान के द्वारा विश्व सभ्यता को कुछ नया, कुछ अद्भुत दिया ही गया है और यह अवदान वस्तुतः एक प्रक्रिया के द्वारा होता है, वह प्रक्रिया आत्माभिव्यक्ति और आत्मानुभूति की है। प्रत्येक जाति ने अपनी समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने प्रश्नों का उत्तर तलाशते हुए विश्व सभ्यता के लिए ऐसा कुछ विशिष्ट और अनुपम निधि प्रदान की है जिसको पहचाना जाना चाहिए, जिसको देखा जाना चाहिए और इस दृष्टि से जब भारत के विशिष्ट अवदान को देखते हैं तो यह अन्य कुछ भी नहीं, इसकी भारतीयता है। 'The Essential contribution of India then is simply her Indianness'- यह पंक्ति स्वयं में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथन है। भारतीयता को जानना, भारतीयता की पड़ताल करना, भारतीयता को पहचानना वस्तुतः सहस्राब्दियों से भारत के लोगों के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति और आत्मानुभूति की प्रक्रिया चली है, उस प्रक्रिया का प्रकटीकरण है। उसके साथ ही यह अभिव्यंजना है, मनुष्य के लिए

बेहतर जीवन की तलाश में।

अपनी इस पुस्तक में आनंद कुमारस्वामी संपूर्ण विश्व को एक ऐसे परिवार के रूप में कल्पित करते हैं जो विविध राष्ट्रों से मिल कर बनता है। इसलिए वह इन राष्ट्रों को उनकी सभ्यता और संस्कृति के आलोक में उनकी विशिष्टताओं (पिक्यूलिरिटीज) के आलोक में पहचानने की कोशिश करते हैं और कहते हैं कि इस रूप में जब देखा जाता है तभी भारत की विशिष्टता को जाना और समझा जा सकता है क्योंकि भारत वह सभ्यता है जिसने मानव जीवन की विविध समस्याओं का उत्तर तब तलाश लिया था जब तमाम नवोदित सभ्यताएँ उनका सामना भी नहीं कर सकी थीं। वस्तुतः भारत ने मानव जाति के लिए सभ्यता के ऐसे उत्तर खोज रखे हैं जिनको नवोदित सभ्यताओं को अभी अनुभूत करना है, उनका सामना करना है। इस पूरी प्रक्रिया में भारत और यूरोप के बीच का जो पार्थक्य है, पूर्व और पश्चिम के बीच की जो दूरी है, उस दूरी को भी आनंद कुमारस्वामी रेखांकित करते हुए कहते हैं कि यह जानना भी जरूरी है कि वह कौन-सा स्थान है जहाँ पर भारतीय मेधा, भारतीय चित्त औसत यूरोपीय जीवन और चित्त से विलगाव रखता है तो निश्चित रूप से यह वह दार्शनिक चिंतन ही है, जिसमें एक स्पष्ट पार्थक्य दिखायी देता है और इस विलगाव को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं कि यूरोप और अमेरिका में सामान्यतः दर्शन को एक ऐसा विद्या स्थान माना जाता है जो अपने आप में पूर्णता को प्राप्त कर जाता है और यह एक तरह से विद्या अध्ययन का अंत भी है और यही कारण है कि यूरोपीय दर्शन सामान्य आदमी के साथ जुड़ नहीं सकता है, वह विशिष्ट मेधा और समाज के श्रेष्ठ लोगों का ही विषय बनकर रह जाता है। इसके विपरीत भारत में दर्शन को बौद्धिक व्यायाम मात्र नहीं माना गया है अपितु दर्शन एक सघन आध्यात्मिक अनुभूति के साथ जीवन में स्थान ग्रहण करता है। इसीलिए भारत में मुक्ति, जो दर्शन का लक्ष्य है, वह अविद्या की स्थिति से मुक्ति है। अविद्या की स्थिति से यह मुक्ति

भारतीयता के लिए आनंद कुमारस्वामी एक विशिष्ट वितान उपस्थित करते हैं जो कला की दृष्टि से भारतीय परंपरा और भारत में सांस्कृतिक विकास की निरंतर और अक्षुण्ण प्रवाह को नये ढंग से विश्लेषित करता है, भारतीयता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है, जो दो स्वरों में विभाजित करता है, वह परंपरा को नहीं जानता। एक ही परंपरा, एक ही अद्वैत दृष्टि; सर्वात्मवाद और अनात्मवाद दोनों ही धाराओं में विकसित होती है।

उसको जानना है जो हमारे सामान्य संज्ञानात्मक अनुभव में प्रायः छिपा रहता है। इसलिए भारतीय जीवन-परंपरा में दर्शन जीवन का वह मानचित्र है, रोडमैप है, जिसमें जीवन के अर्थ को जानना और जीवन के उच्चतर अर्थों को प्राप्त करने के साधनों की पहचान और प्राप्ति महत्त्वपूर्ण होकर उभरती है।

आनंद कुमारस्वामी, भारतीयों की दृष्टि से भारत और यूरोप के बीच का जो पार्थक्य है, उस पार्थक्य को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यह दुर्भाग्य का विषय है कि यूरोप का जो राजनीति केंद्रित समाज है वह बड़ी कठिनाई से यह स्वीकार करता है कि वास्तविक आदर्शवाद के लिए राजनीतिक व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है अपितु आदर्शवाद राजनीति में अव्यवहारिक है। यह राजनीतिक व्यवस्था उस सामाजिक दुर्भाग्य के क्षणों को ले करके केंद्रित होती है, जो अत्यंत कठिन परिस्थितियों में उदित होते हैं, वे सिर्फ यहीं तक नहीं रुकते हैं। यूरोप और भारत के बीच के वास्तविक अंतर को सामने रखते हुए आनंद कुमारस्वामी यह कहते हैं कि वह चाहे चिकित्सा पद्धति हो, भोजन हो, दिन-प्रतिदिन के व्यवहार हों, नृत्य हो, गान हो, संगीत हो, सर्वत्र यूरोप और भारत के बीच अंतर है। दोनों में मांसलता की स्वीकृति तो है लेकिन यह मांसलता, यह भौतिकता जीवन का अंत नहीं बनता है अपितु भारत में जहाँ लगातार परिष्कृत करते हुए इसको चौतसिक स्वरूप दिया जाता है। भाव जगत में प्रतिष्ठापित करने का यत्न किया जाता है और यह यत्न एक दार्शनिक प्रणाली से ही होता है। इसके विपरीत यूरोप मांसल भौतिक संसार को ही समंजित करने की कोशिश करता है, सुधारने की कोशिश करता है और ठोक-पीटकर ढंग से सुंदर बनाने का प्रयास करता है।

अपने काल की समस्याओं का समाधान भारतीय योगदान से संभव हो सकता है, यह भी आनंद कुमारस्वामी के प्रतिपादन का एक लक्ष्य है। इसके लिए अशोक की राज-व्यवस्था और उसकी लोक कल्याणकारी दृष्टि को सामने रखते हुए वह वर्तमान यूरोपीय राजनीति को राजनीति दर्शन के नित्य तत्त्वों के आधार पर मूल्यांकित करने की कोशिश करते हैं।

अंत में वे उद्घोषणा करते हैं कि भारत की ओर से आने वाली ये शुद्ध और सुवासित हवा केवल बीते हुए दिनों का स्वप्न नहीं है अपितु ये एक प्रकार का आदर्श है और यह आदर्श आधुनिक भारत में भी है और उनके बीच में भी है जिनके बारे में वे कहते हैं कि पचास वर्षों की शिक्षा व्यवस्था के अंतर्गत मन, मस्तिष्क और मेधा को पूरी तरह से दूषित कर दिया गया है। औपनिवेशिक मानसिकता से जिन्होंने अपने ही यथार्थ को पहचानने से इनकार कर दिया है, उनके बीच भी यह आदर्शवाद की जीवन की सुषुप्तावस्था में ही सही, लेकिन जीवित है।

अंततः इस निबंध को पूरा करते हुए वे कहते हैं कि आज वह कालखंड आ गया है जब दुनिया को सभ्यता की समस्याओं के समाधान के लिए भारतीयों की अनुभूति को, उनके ऐतिहासिक अनुभव को, उनके सभ्यता दृष्टि को स्वीकार करना पड़ेगा। यह बात अलग है कि समस्त प्रश्नों के उत्तर भारतीय सभ्यता दृष्टि से नहीं दिए जा सकते हैं लेकिन इसके लिए भी एक तरीका है कि हम समग्रता में विचार करें। यूरोप और भारत के बीच छोटा-बड़ा करके सभ्यता के प्रश्नों को देखने के बजाय, एक साथ सहकार भाव से इस पर

विचार किया जाए और ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि यूरोप की बाह्य भौतिक जीवन व्यवस्था को भारत की आध्यात्मिक दार्शनिक जीवन प्रणाली बहुत कुछ दे सकती है और इसका निरंतर उपयोग मानव जीवन को वास्तविक अर्थों में आनंद और श्रेष्ठता की उपलब्धि करा सकती है।

द्वितीय निबंध में वे भारत की कला दृष्टि को ऐतिहासिक संदर्भों में देखने का प्रयास करते हैं और ऋग्वेद में कला का स्वरूप किस रूप में उभर करके आता है, इससे अपनी बात को प्रारंभ करते हुए कहते हैं कि यह देखा जा सकता है कि आज से लेकर के ऋग्वैदिक काल तक भारत में कला दृष्टि की सबसे बड़ी विशिष्टता है कि यह अनिवार्यतः प्रयोजनशीलता पर आधारित है। वेदकालीन चित्रकला और स्थापत्य के बारे में तो कोई सूचना नहीं मिलती है, लेकिन कलाओं से संदर्भित जो सूचना मिलती है वह बढ़ई के काम में मिलती है, धातु कर्म में प्राप्त होती है, वह मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हारों के काम में प्राप्त होती है और जो कुछ भी मनुष्य के लिए, उसकी रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है, उनके बीच वह एक कला का नैरंतर्य सर्वत्र दिखायी देता है। इसलिए सर्वत्र अलंकरण दिखायी देता है वस्तुओं का और मनुष्य का भी। यहाँ तक कि कविता भी अलंकृत होती है, अलंकारों से विभूषित तो होती है लेकिन उसका अंत किसी न किसी प्रयोजनशीलता में होता है। यदि कविता कुछ प्रयोजन को नहीं पूरा कर रही है, केवल आलंकारिक है तो वस्तुतः वह कविता नहीं होती है, मंत्र नहीं होता है। वेदों में मंत्र अपनी समस्त आलंकारिक भाषा और भाव सौष्ठव के साथ होते हुए भी एक विशिष्ट प्रकार के मानवीय प्रयोजन को पूरा करते हैं। यह दृष्टि है कि कला का हमारे व्यावहारिक जीवन के साथ, हमारे रोजमर्रा के जीवन के साथ कोई संबंध है। उस संबंध का अपलाप करके कला फलितार्थ या फलवती नहीं होती है।

यह अध्याय वस्तुतः भारतीय कलाओं के ऐतिहासिक विवेचन के साथ भारत के उस सौंदर्य दृष्टि को प्रस्तुत करता है जिसमें सुंदरता सत्य और शिव के साथ मिलकर अभिव्यक्त होती है, अकेले में नहीं। कला केवल कला के लिए नहीं है। कला जीवन के लिए है, कला अर्थ के लिए है। कला मनुष्य की अभीप्साओं की पूर्ति के लिए है। यदि कला अभीप्साओं की पूर्ति और शमन नहीं कर सकती है तो वह कला केवल कामनाओं को जगाती है, तृष्णा को जगाती है और अंततः शांत मनुष्य, समंजित मनुष्य, सामंजस्यकारी मनुष्य निर्मित करने में कला असफल हो जाती है। इसलिए वेदों से लेकर के आनंद कुमारस्वामी अपने काल तक संपूर्ण भारतीय कला की पड़ताल करते हुए जो स्वदेशी दृष्टि है, जो आत्मनिर्भरता की दृष्टि है, मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कलात्मक रूप से सौंदर्य का संधान करते हुए उसकी अभीप्साओं की पूर्ति का जो यत्न है, उसको समीक्षित करते हैं और इससे बाह्य संसार (बाहरी संसार) किस प्रकार से उत्पादकता और ऐंद्रिकता के मकड़जाल से बाहर निकल करके वस्तुतः संतुष्टि का जीवन प्राप्त कर सकता है, इसका एक स्वरूप प्रस्तावित करते हैं।

इस पूरी किताब का जो केंद्र है- वह कला सिद्धांतों की समीक्षा है। भारतीय कला सिद्धांतों को और वस्तुतः भारत में सौंदर्य के स्वरूप को समझना एक सबसे कठिन बात है क्योंकि अंततः भारत की जो दार्शनिक और साधना परंपराएँ हैं, वह आकार से निराकार की ओर ले जाती है। निराकार में, निर्विशेष में जो ऐंद्रिक सौंदर्य का संसार है, उसको तलाशना सदैव से कठिन रहा है। लेकिन आनंद कुमारस्वामी इस कठिनाई को सहजता से पार करते हुए एक वास्तविक भारतीय सौंदर्य दृष्टि या सुंदरता का जो संप्रत्यय, भारत में ऐतिहासिक संघात के साथ निःसृत हुआ, जिसमें नव-नवलता भी है, जिसमें नित्यता भी है, इस प्रकार के सौंदर्य का एक स्वरूप 'थ्योरी ऑफ ब्यूटी' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

हिंदू कला दृष्टि को उसके सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करते हुए आनंद कुमारस्वामी भारत के सौंदर्य सिद्धांतों की समीक्षा करते हैं। यद्यपि यह समीक्षा कला की अपेक्षा काव्यशास्त्र पर अधिक केंद्रित है लेकिन वे भी मानते हैं कि भारतीय परंपरा के अनुसार जो काव्यशास्त्र में सौंदर्यबोध का हेतु है, सौंदर्य को अनुभूयमान बनाने में कारक है, वह कलाओं में भी समान रूप से संभव है। अपितु, जहाँ तक अमूर्तन का प्रश्न है। काव्यशास्त्र सौंदर्य के अमूर्तन की दृष्टि से अधिक सफल विधा है, कलात्मक अभिव्यक्ति की, मनुष्य की कलात्मक अभिव्यक्ति की चेतना के विस्तार की। इसलिए वे कहते हैं कि मूल प्रश्न क्या है? मूल प्रश्न यह है कि किसी काव्य या कला में वह मूलभूत तत्त्व क्या है जो किसी कविता को, किसी चित्र को, किसी नाट्य को, सौंदर्य से आप्लावित करता है और इसके उत्तर में वे कहते हैं कि किसी ने इसके लिए रीति को माना है, किसी ने इसके लिए व्यंजना को माना है। किसी ने इसके लिए अलंकार को माना है। लेकिन भारत की जो महान काव्यशास्त्रीय परंपरा है। अंततः इस मूल तत्त्व को, जो सौंदर्य का प्रतिरूपण करता है। उसे रस माना है, आस्वाद माना है। यह रस या आस्वाद, सौंदर्य या सौंदर्यात्मक चेतना का समानार्थी है। इसलिए जो सौंदर्य को अभिव्यक्त कर रहा है- कलाकार है, सर्जक है, वह रसवंत है और जो इसको ग्रहण करता है, भोक्ता है, जो इसका आस्वादक है, वह रसिक है। इसलिए रस, रसवंत और रसिक इसकी पदावली के बीच वह मूलरूप से सौंदर्य के भारतीय सिद्धांतों की तलाश करते हैं। जो रसास्वादक है, वही सौंदर्यास्वादक भी है और रसास्वादन ही ऐस्थेटिक कंटेंप्लेशन या सौंदर्य बोध है।

आनंद कुमारस्वामी पहले चिंतक हैं जो यूरोपीय सौंदर्यशास्त्र को भारत के कला सिद्धांत और काव्यशास्त्र के आलोक में सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन का स्वरूप विशुद्ध भारतीय आयाम से प्रस्तुत करते हैं और वे मानते हैं कि शायद ही मानव अनुभव और मानवीय संवेदना का कोई हिस्सा ऐसा है जिससे रस न उत्पन्न होता है। सभी प्रकार की अनुभूतियाँ रस उत्पन्न करती हैं और यह तभी

संभव होता है जब अनुभव प्रयोजनता से निरपेक्ष और उससे तटस्थ रहते हुए संपूर्ण रस परिपाक की प्रक्रिया में चौतसिक रूप से सहभागी बने। आनंद कुमारस्वामी ने यह पहली बार स्पष्ट किया कि भारतीय सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांत इस बारे में बहुत स्पष्ट है कि कला का उद्देश्य शिक्षण नहीं है, उपदेश नहीं है अपितु यह आह्लाद की उत्पत्ति है, आनंद की उत्पत्ति है।

धनंजय को उद्धृत करते हुए अत्यंत महत्त्वपूर्ण ढंग से वे कहते हैं कि कुछ क्षुद्रमति लोग जो यह मानते हैं कि नाट्य का उद्देश्य आनंद से परे ज्ञान की प्राप्ति है, क्योंकि इसमें इतिहास होता है, अभिकथन होते हैं, आख्यान होते हैं और विवरण होते हैं। मैं उनके प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करता हूँ परंतु उन्होंने अपने चेहरे को, जो वास्तविक आह्लाद है, वास्तविक कला की रोशनी है, उससे दूसरी ओर मुँह मोड़ लिया है। धनंजय की इस उक्ति और वैदिक कला से प्रारंभ करते हुए उसकी प्रयोजनशीलता के बीच विभेद नहीं है अपितु आनंद कुमारस्वामी इसमें एक सामंजस्य देखते हैं एक समन्विति देखते हैं। प्रयोजन तो है लेकिन अंततः प्रयोजन शांति की प्राप्ति है, यथावतता की प्राप्ति है, सुपर इंपोजिशन (Super Imposition) से मुक्ति है।

भारतीयता के लिए आनंद कुमारस्वामी एक विशिष्ट वितान उपस्थित करते हैं जो कला की दृष्टि से भारतीय परंपरा और भारत में सांस्कृतिक विकास की निरंतर और अक्षुण्ण प्रवाह को नये ढंग से विश्लेषित करता है, भारतीयता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है, जो दो स्वरों में विभाजित करता है, वह परंपरा को नहीं जानता। एक ही परंपरा, एक ही अद्वैत दृष्टि; सर्वात्मवाद और अनात्मवाद दोनों ही धाराओं में विकसित होती है। दोनों ही मनुष्य को उसकी ऐंद्रिक अभिप्सा से परे, जो अनिर्वचनीय है, चतुष्कोटि विर्निमुक्ति है, पदों और संबंधों की सीमा से परे है, वाक् से परे, अनुभूति से जुड़ने के कलात्मक यत्न का प्रस्तुतीकरण है। वस्तुतः भारत में कला दृष्टि संपूर्ण विश्व है और विश्व कर्म है, इससे परे कोई कृत्रिम प्रयास न होकर इसी विश्व कर्म का चैतन्यपरक विस्तार है। इसलिए अनुभूयमान जगत से अभिव्यक्त होने वाले ऐन्द्रिक संवेदनाओं से सौंदर्य का प्रतिपादन नहीं होता है। यह विशुद्ध संज्ञानात्मक अनुभूति है और इस अनुभूति में जो उदात्तता है, वह शब्दों में वर्णनीय नहीं है, शब्दों में वर्णनीय न होने के कारण ही सारनाथ के बुद्ध जिन भावों को प्रकट करते हैं, वह बहुशः व्याख्यायित तो होती है पर जो व्याख्यायित होते हैं, वह वैसे ही नहीं होते हैं, हर प्रेक्षण की, उसकी अनुभूति को शब्दों के उहापोह से परे शांति को प्रकट करता है। इस तरह से भारत में हिंदू और बौद्ध कला दृष्टियों की एकाकारिता का रूप प्रतिपादित करने में जहाँ आनंद कुमारस्वामी का महत्त्वपूर्ण योगदान है वहीं भारतीयता के इतिहास की कला दृष्टि से समझने की दृष्टि से नया रास्ता प्रदान करता है।

इस पुस्तक का केंद्रीय विचार 'द डांस ऑफ शिवा' इस शीर्षक से अभिव्यक्त होता है। नटराज का सिर गति है, स्पंदन है। विज्ञान की शब्दावली में कहा जाए तो यह Pure Wave है। यह इतः ततः सर्वज्ञ है। एक साथ नटराज अपने नृत्य से संपूर्ण ब्रह्मांड में अभिव्यक्त होते हैं। चित्त शक्ति के आधार पर विविध रूप ग्रहण करते हैं। गतिशील रहते हुए संपूर्ण विश्व को रूपाकार करते हैं। यह नवीन दृष्टि है जो भारतीय कला को समझने के लिए एक ओर आगम की अनुभवात्मक प्रणाली का अनुसरण करती है तो दूसरी ओर निगम की अनुभूतिपरक साक्षात्कार कृत ऋषियों की ज्ञान परंपरा का भी विस्तार करती है। केवल कला की दृष्टि से नहीं, बल्कि कला के ब्याज से भारतीयता को, भारत भाव को विविध प्रश्नों के दायरे में देखती है।

'स्टेटस ऑफ वीमेन' निबंध में भारत की स्त्री की दृष्टि, भारतीय संकल्पना में स्त्री की प्रस्थिति और भूमिका, उसके प्रत्यय, इन सबका विश्लेषण कर रहे हैं। इस निबंध में वे यूरोपीय समाजशास्त्र के द्वारा भारत के समाज को समझने की जो प्रणाली विकसित की गयी है, उसको आईना दिखाते हैं। प्रश्न खड़े कर रहे हैं तो दूसरी ओर भारतीय संदर्भों में परिवार केंद्रित, सहकार केंद्रित, इस उदात्त भाव के आलोक में स्त्री की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए ये कालखंड में लागू होगा, यह न मानते हुए वे प्रतिपादित करते हैं कि 'समानो मंत्रः समितिः समाना'; इस वैदिक मंत्र की भावभूमि पर केंद्रित इतिहास के जो तथ्य हैं उन तथ्यों को यथारूप में प्रस्तुत होना चाहिए; उसका विरूपण नहीं होना चाहिए। वह भारत को चिर और पुरातन, नित्य युवा राष्ट्र के रूप में दुनिया की सबसे प्राचीन सभ्यता, जो जीर्ण-शीर्ण नहीं हुई, निरंतर नव-नवोन्मेष करती है, एक ऐसी सांस्कृतिक दृष्टि का उन्मेष करती है, जिसमें नव नवलता तो है लेकिन प्राचीन के साथ जोड़े हुए है। उसका समूलोच्छेद करके नहीं बल्कि परिष्कार करके और इस परिष्कार से ही ठीक से जाना जा सकता है। इस परिष्कार की निरंतरता के कारण दुनिया की सबसे पुरानी सभ्यता और संस्कृति होते हुए भारत, एक युवा भारत, जो सपने देखता है, उन्हें साकार करने के लिए कल्पना और यथार्थ के सरूप मिश्रण के आधार पर समन्विति करते हुए समाज और संस्कृति की निर्मित्ति करता है। यह भारत की कला में सर्वत्र अभिव्यक्ति होता है- स्थापत्य हो, चित्र कलाएँ हों, संगीत हो या काव्यशास्त्र। सर्वत्र नाद से अनहद और निनाद से आह्लाद की जो प्रक्रिया है, उसको निरंतरता में, नवीनता के साथ विश्वतोमुखता में भारत को प्रस्तुत करते हुए भारत की जीवन दृष्टि को विश्व के लिए प्राणदायी जीवनदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका कलात्मक आख्यान है यह ग्रंथ।

यह पुस्तक भारतीय कलाबोध के द्वारा भारत को यूरोपीय वर्गणाओं से मुक्त कर उसको जानने और अनुभव करने का रास्ता दिखाती है। ❖❖

पुरातन में नूतन की खोज

तब बंगाल क्रांतिकारियों का केंद्र था लेकिन विद्रोहियों के बजाय महात्मा गांधी के व्यक्तित्व ने मुझे ज्यादा प्रभावित किया। यही कारण है कि मेरे उपन्यासों के नायक अक्सर आदर्श पुरुष हैं।

- ताराशंकर बंद्योपाध्याय

हूबनाथ पाण्डेय

संपर्क :
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई

पुस्तक : आरोग्य निकेतन
लेखक : ताराशंकर बंद्योपाध्याय
प्रकाशक : साहित्य अकादेमी
प्रकाशन वर्ष : 2000
मूल्य : 450 रु.

आरोग्य निकेतन ताराशंकर बंद्योपाध्याय के श्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। 1953 में बांग्ला में प्रकाशित इस उपन्यास को 1956 का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया और साहित्य अकादमी ने ही बांग्ला से हिंदी के उत्कृष्ट अनुवादक, कवि एवं चिंतक श्री हंसकुमार तिवारी से इसका हिंदी अनुवाद करवा कर 1957 में राजपाल एंड संज़ प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित करवाया और हिंदी भाषा को समृद्ध किया। देश की अन्य भाषाओं में भी इस उपन्यास का अनुवाद हो चुका है। 67 वर्ष बाद आज कोरोना-समय में इस उपन्यास को याद करने की कई वजहें हैं पर सबसे पहले रचनाकार को याद करना प्रासंगिक भी है और रवायत भी।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय भारतीय कथा साहित्य के सबसे सम्मानित रचनाकारों में अग्रगण्य हैं। 23 जुलाई 1898 को ब्रिटिशकालीन बंगाल के बीरभूमि जिले के लाभपुर गाँव में पिता हरिदास बंद्योपाध्याय तथा प्रभावती देवी के घर इनका जन्म हुआ। लाभपुर के जादबलाल हाई स्कूल में इनकी प्रारंभिक पढ़ाई हुई। 1916 में कलकत्ता के सेंट जेवियर्स कॉलेज में इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सबर्बन कॉलेज जो अब आशुतोष कॉलेज है, में आगे की पढ़ाई के लिए प्रवेश तो लिया पर गिरती सेहत और राजनीतिक उथल-पुथल के चलते पढ़ाई बीच में ही छोड़ कर आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। आरंभ में सशस्त्र क्रांति के समर्थकों से जुड़े, गिरफ़्तार हुए और अपने गाँव में ही नज़रबंद किये गये। 1930 में जेल जाने के बाद उन्होंने तय किया कि सक्रिय राजनीति उनके बस की नहीं और वे साहित्य की ओर मुड़ गये। 1932 में वे रविंद्रनाथ ठाकुर से मिलने शांतिनिकेतन गये और इसी वर्ष उनका पहला उपन्यास 'चौताली घुरनी' प्रकाशित हुआ। 1940 में उन्होंने कलकत्ता के बागबजार में एक मकान किराए पर लिया और परिवार सपरिवार रहने लगे। 1946 में तला पार्क कलकत्ता में अपना घर बनवा लिया। आजादी के बाद 1952 में उन्हें बंगाल विधान परिषद् में मनोनीत किया गया। 1955 में बंगाल सरकार ने उन्हें रवींद्र पुरस्कार से सम्मानित किया। 1957 में ॲफ्रोएशियन लेखकों के सम्मेलन में ताशकंद गये। 1960 में उन्हें राष्ट्रपति ने राज्यसभा में मनोनीत किया। 1962 में उन्हें पद्मश्री सम्मान प्रदान किया गया। इसी दौरान अपने दामाद के आकस्मिक निधन से उनका मन विचलित हो गया और वे चित्रकला और लकड़ी के खिलौने बनाने की ओर प्रवृत्त हुए। 1966 में उनके बेहद लोकप्रिय उपन्यास गणदेवता पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1969 में उन्हें कलकत्ता यूनिवर्सिटी तथा जादबपुर यूनिवर्सिटी ने डॉक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि प्रदान की। सरकार ने पद्मभूषण से सम्मानित किया। इसी वर्ष साहित्य अकादमी ने उन्हें फेलोशिप प्रदान की। 14 सितंबर 1971 को कोलकाता में अपने निवास पर उन्होंने आखिरी साँस ली।

ताराशंकर जी ने 65 उपन्यास, 53 कथा-संग्रह,12 नाटक, 4 निबंध-संग्रह, 4 खंडों में आत्मकथा तथा एक काव्य-संग्रह की रचना के अलावा कई गीतों को भी संगीतबद्ध किया। इनकी रचनाओं पर 21 सफल और सार्थक फिल्मों का निर्माण भी हुआ जिनमें गणदेवता, जलसाघर विशेष उल्लेखनीय रहे।

आरोग्य निकेतन पर इसी नाम से 1969 में बिजॉय बोस के निर्देशन में बांग्ला फिल्म बनी

और 2001 में टी. एन. गोपा कुमार के निर्देशन में जीवन मशाय नाम से मलयालम में फिल्म बनी। बांग्ला और मलयालम का यह रिश्ता आगे स्पष्ट होगा।

1975 में मित्र ओ घोष पब्लिशर ने बांग्ला में 11 खंडों में ताराशंकर रचनावली का प्रकाशन किया। हिंदी में भी तारा बाबू की अधिकांश रचनाएँ ज्ञानपीठ प्रकाशन तथा इतर संस्थानों से प्रकाशित हुईं जिनमें अधिकांश का श्रेष्ठ अनुवाद हंसकुमार तिवारी ने किया।

मेरी अपनी सीमित जानकारी में आरोग्य निकेतन के अतिरिक्त भारतीय पारंपरिक स्वास्थ्य व्यवस्था पर केंद्रित और कोई उपन्यास किसी भी भारतीय भाषा में नहीं रचा गया है।

यह कथा है एक चिकित्सालय की जिसकी स्थापना हुई 1870 में।

उपन्यास का आरंभ इन पंक्तियों से होता है –

"आरोग्य निकेतन यानी चिकित्सालय। अस्पताल नहीं। खैराती दवाखाना नहीं – यह है देवीपुर के तीन पुश्त से चिकित्सा व्यवसायी महाशय परिवार का चिकित्सालय।

यह चिकित्सालय स्थापित हुआ था कोई 80 साल पहले। आज टूटी-फूटी हालत में है। कच्ची दीवारों में दरारें पड़ गयी हैं। कितने ही जगहों मे ठाठ के जोड़ अलग हो गये हैं। बीच का हिस्सा धँस कर बैठ गया है जैसा कुबड़े की पीठ में गढ़ा पड़ता है। किसी कदर अब भी खड़ा है–राह देख रहा है अपने अंत की, कब टूट गिरेगा, उसी घड़ी की बाट जोह रहा है।"

यह वर्णन, संकेत है उस कथानायक जीवन महाशय के जीवन-संध्या का, हताशा और निराशा का, साथ ही संकेत है भारतवर्ष में आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के दुःखद अवसान का, संकेत है परंपरागत सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की शयन आरती का। महाशय की उपाधि प्राप्त यह परिवार तीन पीढ़ियों से महानगर से दूर इस शांत देवीपुर में चिकित्सा कर्म में रत है। कथानायक जीवन दत्त के पितामह दीनबंधु

नाड़ीविद्या में दक्ष जीवन महाशय के इकलौते बेटे ने गलत संगत से अपनी सेहत तबाह कर ली और जीवन महाशय अपने बेटे को नहीं बचा पाये। उसकी नाड़ी देखकर उन्होंने ही उसकी मृत्यु की घोषणा की थी और उसके बाद वह भी धीरे-धीरे टूटने लगे। निदान की नयी पद्धतियों, नयी दवाओं, एक्स-रे आदि ने चिकित्सा पद्धति की सूरत ही बदल दी थी और जीवन महाशय नौजवान डॉक्टरों की तेज गति के साथ चल नही पाने के कारण पिछड़ रहे थे। व्यक्तिगत जीवन में भी बेहद असंतुष्ट जीवन महाशय अपनी विद्या को संपूर्णतः समर्पित थे। पर अब लोग उनके पास नहीं आते थे। आते भी तो मुफ्त इलाज करवाते थे। अपनी नाड़ीविद्या के बल पर वे मोती की माँ की मृत्यु की घोषणा कर बैठते हैं जो नये जमाने के डाक्टरों को बेहद नागवार गुजरता है और वे जीवन महाशय को न सिर्फ अपमानित करते हैं बल्कि मोती की माँ को बचा भी लेते हैं। तब जीवन महाशय को लगने लगता है कि अब उनकी विद्या के दिन लद गये।

दत्त नवग्राम में रायचौधुरी परिवार के आश्रय में पाठशाला चलाते थे और उनकी देवोत्तर जायदाद की बहियाँ लिखते थे। कविराज शिरोमणि कृष्णदास सेन उन्हीं के यहाँ इलाज करने आया करते थे। रायचौधुरी परिवार के बड़े बाबू के इकलौते बेटे को सन्निपातिक बुखार हुआ। उसके इलाज के लिए कविराज को एक सहायक की आवश्यकता पड़ी सो दीनबंधु दत्त ने दिन-रात की सेवा से कविराज को प्रसन्न कर दिया। दीनबंधु ने अपनी सेवा का प्रतिदान लेने से विनम्रतापूर्वक मना कर दिया। तब कविराज ने पुरस्कार स्वरूप अपनी चिकित्सा विद्या उनके कुशल हाथों में सौंप दी। चिकित्सक का निर्लोभी होना अनिवार्य शर्त थी। दीनबंधु दत्त ने वैद्यक सीखी और नवग्राम छोड़कर देवीपुर जैसे वज्र देहात में आकर बस गये और उनकी कीर्ति पूरे जिले में फैलने लगी। इस कीर्ति को चार चाँद लगाया उनके लायक बेटे जगबंधु महाशय ने। दीनबंधु ने अंतिम समय अपने बेटे से कहा– "जीवन में विषय तो खास कुछ नहीं जुड़ सका पर महत् आशय छोड़ जाता हूँ। इस महदाशयता को बचाये रखना। लोक-परलोक दोनों सार्थक होंगे।"

जगबंधु महाशय ने पिता के आदेश का पालन किया और महदाशयता को नयी ऊँचाइयों तक ले गये।

इन्हीं जगबंधु महाशय के इकलौते बेटे हमारे कथानायक जीवनदत्त महाशय हैं। इन्होने ही अपने चिकित्सालय पर आरोग्य निकेतन का बोर्ड लगवाया।

कथा शुरू होती है सन 1950 के श्रावण मास से और फ्लैशबैक में 1870 तक जाती है। 80 बरसों के कालखंड में पसरी यह कथा जीवन महाशय के साथ उस चिकित्सा पद्धति की भी है जो उन्हें विरासत में मिली थी।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र की भारत में शुरुआत ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में होती है। 1775 में कंपनी में कलकत्ता हॉस्पिटल बोर्ड बनता है जो प्रायः अंग्रेजों और सैन अधिकारियों की चिकित्सा के लिए गठित हुआ। बॉम्बे प्रांत में 1785 में चिकित्सा विभाग की स्थापना हुई जो सेना और सिविलियन दोनों की वैद्यकीय जरूरतों के लिए था। 1822 में कलकत्ता में नेटिव मेडिकल इंस्टिट्यूट की स्थापना हुई जिसमें भारतीय भाषाओं में नौजवानों को वैद्यकीय चिकित्सा की जानकारी प्रदान की जाने लगी। यूरोपीय चिकित्सा ग्रंथों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराए गये। 1826 में कलकत्ता मदरसा में यूनानी हिकमत की और संस्कृत कॉलेज में आयुर्वेद की पढ़ाई आरंभ हुई। 1826 में ही सर्जन जॉन मैक्लेन ने पश्चिमी चिकित्सा पद्धति के लिए बॉम्बे प्रांत में इंडियन मेडिकल स्कूल की शुरुआत तो की पर यह बहुत दिनों तक टिक नहीं पाया।

1835 में लॉर्ड मैकॉले के प्रभाव से कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कॉलेज की चिकित्सा पढ़ाई रोक दी गयी और 1835 में

कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई। इस नये कॉलेज में पंडित मधुसूदन गुप्त ने 1835 में ही एक शव पर पहली बार नश्तर लगाया और इस साहसिक काम के लिए उनकी शान में फोर्ट विलियम से तोप दागी गयी। 1836 में मधुसूदन गुप्त ने ही 'सुश्रुत संहिता' का प्रकाशन करवाया। आयुर्वेद और पाश्चात्य चिकित्सा दोनों तरह के ग्रंथों का प्रकाशन कलकत्ता में आरंभ हो चुका था। 1845 में बॉम्बे प्रांत में ग्रांट मेडिकल कॉलेज की स्थापना के साथ ही पूरे देश में पाश्चात्य चिकित्सा व्यवस्था की जड़ें गहरी होने लगीं। विख्यात इतिहासकार डॉक्टर के. एन. पणिक्कर लिखते हैं कि- "उन्नीसवीं सदी के दौरान राज्य ने पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के लिए प्रशासनिक और संस्थागत बुनियादी ढाँचा स्थापित किया। यद्यपि आरंभ में यह व्यवस्था सीमित ही थी। जो अस्पताल, औषधालय और कॉलेज स्थापित किये गये उन्होंने उस नाभिकेंद्र का काम किया जिसके सहारे औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान ने अपना वर्चस्व स्थापित करने और इस प्रकार देशी पद्धति को बाहर धकेलने और उसकी हैसियत मिटाने की कोशिश की। इस दृष्टि से राज्य की भूमिका उसके प्रशासनिक दायित्वों की सीमाओं से बाहर चली गयी। उसने न केवल पश्चिमी आयुर्विज्ञान को आगे बढ़ाने बल्कि अन्य सभी पद्धतियों पर उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार पाश्चात्य आयुर्विज्ञान सरकारी तौर पर प्राथमिकता प्राप्त पद्धति बन गया। उसे सरकारी आयुर्विज्ञान का दर्जा दिया गया और अन्य पद्धतियों के प्रति सरकारी रवैया भेदभाव पूर्ण ही नहीं बल्कि विरोध पूर्ण हो गया।"

इस तरह जैसे भारतीय कुटीर उद्योग और हस्तकला को अंग्रेजों ने षड्यंत्र सहित समाप्त किया वही हश्र उन्होंने आयुर्वेदिक तथा हिकमत चिकित्सा पद्धति का भी किया। किंतु यह तो तस्वीर का एक रुख है। दूसरा पहलू भी कम जिम्मेदार नहीं है।

कथानायक जीवन महाशय ने स्कूली शिक्षा पूरी होते ही अपने पिताजी से कह दिया कि वे कविराजी नहीं सीखेंगे। डॉक्टर बनेंगे। डॉक्टर रंगलाल की तरह जो पालकी पर चलते हैं। सूट पहनते हैं। पाइप पीते हैं।

डॉक्टर रंगलाल ने किसी चिकित्सा संस्थान से प्रशिक्षण नहीं प्राप्त किया था। वे शिक्षक के रूप में इस गाँव में आये तो उन्हें चिकित्सक बनने की धुन सवार हो गयी। पाठशाला छोड़कर एक सहयोगी लेकर नदियों में बहते मुर्दे निकालकर चिकित्सा ग्रंथों के जरिए शवों की चीर-फाड़ करते हुए एक दिन खुद को डॉक्टर घोषित कर दिया और इलाके के सम्मानित डॉक्टर बन बैठे। यही रंगलाल आगे चलकर जीवन महाशय के अधूरे गुरु बने।

जीवन के पिता के पास अपनी कविराजी के बल पर धन-दौलत की कोई कमी नहीं थी। उन्होंने एक छोटी सी जमींदारी भी खरीद ली थी। इकलौते बेटे की इच्छा को भी मना नहीं कर पाये और डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए गाँव से दूर भेज दिया। किंतु एक तो पैसे की गर्मी और दूसरी ओर युवावस्था का जोश, जीवन महाशय मंजरी नामक कन्या के प्रेम में पड़ कर पढ़ाई चौपट कर बैठे और मंजरी के चक्कर में मारपीट करके अपने घर भाग आये।

जगत महाशय ने निर्णय किया कि उनका बेटा उन्हीं की परंपरा को आगे बढ़ाएगा और हुआ भी वही। पिता के बाद जीवन महाशय ने महाशयी संभाली। लेकिन तब तक इलाके में एक होम्योपैथ, दो डॉक्टर अपनी प्रैक्टिस करने लगे थे। एक स्वास्थ्य केंद्र भी खुल चुका था जो खैराती था। नवग्राम में एक मेडिकल स्टोर भी खुल चुका था। ऐसे में जीवन महाशय ने पिता द्वारा पायी आयुर्वेद विद्या के साथ डॉक्टर रंगलाल की पाश्चात्य पद्धति का मणिकांचन संयोग किया और प्रतिष्ठा तथा सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। जिस समय प्लेग आया था उस समय सारे डॉक्टर इलाका छोड़कर भाग गये। सारे धनवान भाग गये। सिर्फ़ अकेले जीवन महाशय अपने कंपाउंडर शशि की सहायता से अकेले डटे रहे और महामारी का सामना किया।

नाड़ीविद्या में दक्ष जीवन महाशय के इकलौते बेटे ने गलत संगत से अपनी सेहत तबाह कर ली और जीवन महाशय अपने बेटे को नहीं बचा पाये। उसकी नाड़ी देखकर उन्होंने ही उसकी मृत्यु की घोषणा की थी और उसके बाद वह भी धीरे-धीरे टूटने लगे। निदान की नयी पद्धतियों, नयी दवाओं, एक्स-रे आदि ने चिकित्सा पद्धति की सूरत ही बदल दी थी और जीवन महाशय नौजवान डॉक्टरों की तेज गति के साथ चल नहीं पाने के कारण पिछड़ रहे थे। व्यक्तिगत जीवन में भी बेहद असंतुष्ट जीवन महाशय अपनी विद्या को संपूर्णतः समर्पित थे। पर अब लोग उनके पास नहीं आते थे। आते भी तो मुफ्त इलाज करवाते थे। अपनी नाड़ीविद्या के बल पर वे मोती की माँ की मृत्यु की घोषणा कर बैठते हैं जो नये ज़माने के डाक्टरों को बेहद नागवार गुजरता है और वे जीवन महाशय को न सिर्फ अपमानित

करते हैं बल्कि मोती की माँ को बचा भी लेते हैं। तब जीवन महाशय को लगने लगता है कि अब उनकी विद्या के दिन लद गये। और देखते-देखते एक दिन जीवन महाशय के साथ आरोग्य निकेतन भी ढह जाता है।

यह तो रहा तारा बाबू का पक्ष जिसमें मूल कथा जीवन महाशय की त्रासदीपूर्ण जीवन गाथा है और प्रकारांतर से आयुर्वेद के अवसान की कथा है। वहीं दूसरी ओर धुर दक्षिण में 16 मार्च 1869 यानी आरोग्य निकेतन नमस्ते के जन्म से 1 वर्ष पहले केरल के कोट्टक्कल कस्बे में शंकुन्नि वारिअर का जन्म होता है। मंदिर सेवक जाति के शंकुन्नि ने 20 साल की उम्र होते-होते केरल के अष्टवैद्य कुट्टनचेरि वासुदेवन मूस के मार्गदर्शन में आयुर्वेद की शिक्षा ली और आयुर्वेद को जन-जन तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण काम किया। उन्होंने निदान पद्धति का मानक तय किया, दवा के नुस्खे का मानकीकरण किया। वैद्यशाला, रसशाला का निर्माण किया और सबसे बड़ी बात आयुर्वेद की शिक्षा हेतु पाठशाला की शुरुआत भी की। मलयालम भाषा में आयुर्वेद ग्रंथों का अनुवाद और प्रकाशन किया। 'धन्वंतरी' नामक एक पाक्षिक की सहायता से केरल के गाँवों तक आयुर्वेद को पहुँचाया। उनकी पाठशाला में आयुर्वेद का 5 साल का पाठ्यक्रम था। संस्कृत और मलयालम दोनों ही भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेजी का ज्ञान भी जरूरी था। यह शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी किंतु 5 रुपए का प्रवेश-शुल्क लिया जाता था। आरंभ में 5 छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती थी। 8 रुपए प्रति महीने लड़कों के लिए और 10 रुपए प्रति महीने लड़कियों के लिए।

आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण और बिक्री के लिए भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। हालाँकि 1878 में कलकत्ता में चंद्रकिशोर सेन ने आयुर्वेदिक औषधियों के लिए एक औषधालय खोला था जो 1898 तक कार्यरत रहा लेकिन वारिअर की आर्य वैद्यशाला आज भी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति और औषधि निर्माण में जुटी हुई है। शंकुन्नि वारिअर की तीसरी पीढ़ी अपनी विरासत को आज भी बड़ी मजबूती से संभाले हुए है। केरल आज भी आयुर्वेद तथा होम्योपैथी को एलोपैथी की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। शायद इसी लगाव की वजह से 2001 में मलयालम भाषा में आरोग्य निकेतन उपन्यास पर जीवन मशाय नाम से फिल्म बनी और लोकप्रिय भी हुई।

तारा बाबू पर गांधी का प्रभाव उनके उपन्यास आरोग्य निकेतन से भी स्पष्ट होता है जिसमें जीवन महाशय आखिरी सांस तक अपनी जड़ों को बचाने की जद्दोजहद करते रहे और धारा के विरुद्ध जाकर भी अपना आत्मसम्मान बचाये रखा और गांधी के एकादश व्रत बड़े पैमाने पर जीवन महाशय के जीवन में साफ-साफ नजर आते हैं। 67 साल बाद भी यह उपन्यास उतना ही ताजा उतना ही मार्मिक और उतना ही प्रासंगिक है जितना 1953 में रहा होगा। इस उपन्यास को न पढ़ पाना दरअसल भारतीय साहित्य के एक अभूतपूर्व सृजन से वंचित होने जैसा ही है।

❖❖

स्वप्नदर्शी गणितज्ञ का वैचारिक संसार

शाश्वती प्रधान

समीक्षक ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से जीव विज्ञान की पढ़ाई की है और वर्तमान में वे इंटरनेट के माध्यम से शिक्षण प्रक्रिया को लोकप्रिय बनाने के अवसरों पर कार्य कर रही हैं।

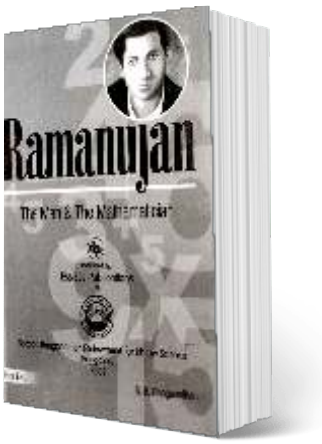

पुस्तक : रामानुजन- द मैन एंड द मथेमैटिशियन
लेखक : शियाली रामामृत रंगनाथन
प्रकाशक : एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई
प्रकाशन वर्ष : 1967
मूल्य : 375 रु.

श्री अरविंद ने एक बार अपनी जीवनी लिखने के संदर्भ में कहा था कि मेरे जीवन के बारे में कोई नहीं लिख सकता क्योंकि वह लोगों के जानने के लिए खुले में नहीं था। यहाँ उनका आशय किसी तरह की गुप्तता या एकांत भाव की समस्या की ओर नहीं था। बल्कि उन्होंने एक प्रश्न रख छोड़ा था कि क्या भारतीय जीवन जो 'आधुनिकता' और 'परंपरा' के संश्लेषण में निरूपित होता रहता है स्वयं को दूसरों के सामने कभी अपनी पूर्णता में प्रकट कर सकता है, यही बात कमोबेश श्रीनिवास रामानुजन (1887-1920) के बारे में कही जा सकती है। वह एक महान गणितज्ञ थे। उन्होंने समकालीन विश्वविद्यालयी संकल्पनाओं के हर आयाम को चुनौती दी। शिक्षा और शिक्षण के सभी सिद्धांतों और मॉडलों के लिए वो कोई अपवाद सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे कई सारे तथ्य रामानुजन के बारे में कहे जा सकते हैं। लेकिन क्या यह उनका पूर्ण जीवन है? क्या उनका जीवन इतना ही है कि वे एक महान गणितज्ञ बनें? ऐसे प्रश्नों के आलोक में हम शियाली रामामृत रंगनाथन की रामानुजन- द मैन एंड द मथेमैटिशियन के समीप आते हैं।

रंगनाथन लेखक और 'बायोग्राफर' के रूप में इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने रामानुजन के जीवन की ऐसी कई रोचक सूचनाओं को पाठकों के सामने पहली बार रखा जिसे उन्होंने परा-चौतन्य (ट्रांस-रेशनल) कहा है। यानी पुस्तक जब पहली बार 1967 में प्रकाशित हुई तो लोगों को यह मालूम चला कि रामानुजन का सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन उनके लिए कितना महत्त्वपूर्ण था और महान गणितज्ञ की उनकी अस्मिता इससे अछूती नहीं थी। उदाहरण के रूप में, रामानुजन का यह स्वप्न देखना कि नामगिरी देवी ने उनकी जीभ पर पूर्वज्ञान का कोई वरदान लिख दिया था और इस कारण उन्हें उनकी पूर्वजननता की प्राप्ति हुई थी। या जब रामानुजन को विदेश यात्रा पर जाना हुआ तो उनकी माँ इसके विरोध में खड़ी हो गयीं। समुद्र पार करने की बात जातीय और सांस्कृतिक विडंबना में जा फंसी। हमें रंगनाथन के शोध से पता चलता है कि रामानुजन तीन दिनों तक नमक्कल में देवी की उपासना करते रहे ताकि उनकी माँ मान जाएँ। फिर कहीं जाकर उनकी माँ को यह सपना आया कि रामानुजन अंग्रेजों के मध्य बैठे हुए हैं और उनके चहुँओर एक आभा मंडल है। माँ मान गयीं। पुस्तक ऐसी रोचक जानकारियों से भरी हुई है।

रंगनाथन ने रामानुजन की जीवनी लिखने के पीछे के कारण बड़ी स्पष्टता से सामने रखे हैं। उन्होंने बताया है कि कैसे उन्होंने रामानुजन को अकादमिक लोक संस्कृति से विलुप्त होते देखा था। फिर उन्होंने ठाना कि रामानुजन को केवल एक गणितज्ञ की अस्मिता से परे जाकर मानवीय स्तर पर जाना और समझा जाएँ यह कार्य बिना किसी के जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर गये बिना संभव नहीं है। रंगनाथन ने इस कठिनाई को बड़ी सरलता और रोचकता से प्राप्त किया है। उन्होंने यह भी बड़ी सफाई से जोड़ा है कि वह रामानुजन के गणित पर विवेचना करने में पूरी तरह से सक्षम नहीं हैं। कदाचित इसी कारण कुल 144

पृष्ठों और 19 छोटे अध्यायों में फैली हुई इस जीवनी में गणितज्ञ के तौर पर रामानुजन केवल एक अध्याय में पाठकों के सामने लाये गये हैं।

किताब का एक बड़ा रोचक पक्ष इसकी अंतर्वस्तु तथा विषय की सजावट है। लेखक ने अपने 'ग्रंथालय विज्ञान' की पद्धति का प्रयोग करते हुए विषय-वस्तु को अंग्रेजी अक्षरों में सजाया है। किताब जीवनी की प्रस्तावना से होते हुए रामानुजन के जीवन, भारत और इंग्लैंड के उनके अनुभवों और कार्यों का लेखा-जोखा लेते हुए उनकी 'नोटबुक', उनके मित्रों के संस्मरण सुनते हुए उन्हें एक मानव और एक गणितज्ञ की तरह प्रस्तुत करती है। आखिर में एक 'लाइब्रेरियन' की तरह पुस्तक सूची से आकर्षित होने वाले रंगनाथन ने रामानुजन का लिखा हुआ और उन पर लिखे गये सभी ग्रंथों और आलेखों को संकलित कर दिया है। केवल 144 पृष्ठों की यात्रा में रामानुजन जैसे बहुआयामी व्यक्तित्व को समेट लेने की कला रंगनाथन जैसे विद्वान के पास ही हो सकती थी।

इस किताब को किसी प्रथम साक्ष्य और प्राथमिक सूचना स्रोत की तरह देखा जाना चाहिए क्योंकि इसके अंतर्गत रंगनाथन ने ऐसे कई लोगों के साक्षात्कार किये, ऐसे लोगों से पत्र-पत्रावलियों का आदान-प्रदान किया जो रामानुजन को करीब से जानते थे। रामानुजन पर बाद में कई जीवनियां लिखी गयीं। लेकिन रंगनाथन ने केवल इस किताब को ही नहीं रामानुजन के 'कलेक्टेड पेपर्स' में भी उनकी जीवनी लिखी थी। वह एक काल विशेष के व्यक्ति और उसके वैचारिक संसार के भीतर बसे वातावरण को जानते थे।

इस पक्ष को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम रंगनाथन की लिखी हुई इस जीवनी को अगर 'रोबर्ट कनिगेल की 'द मैन हू न्यू इंफिनिटी' से तुलना करें तो कुछ जरूरी संकेत मिलते हैं। कनिगेल की पुस्तक पर फिल्म बनने के कारण वह बहुत चर्चित हुई थी। कनिगेल

की किताब में व्यापक जीवनी विवरण है, लेकिन कुछ गलत तथ्य भी हैं। एक सदी पहले की भाषा और विचार के बारे में स्पष्ट भ्रम दिखाई देता है, उदाहरण के लिए 'पंथ' का प्रयोग। रामानुजन का धर्म हिंदू था या कोई ब्राह्मण पंथ यह किसी मतभेद का कारण नहीं हो सकता। अगर हिंदू शब्दावली को उस समय का ऐतिहासिक आख्यान साहित्य में खुद को परिभाषित नहीं कर पाया था तो क्या हम रामानुजन को हिंदू नहीं कहेंगे? कनिगेल रामानुजन को एक बड़े संदर्भ में प्रस्तुत करने में काफी हद तक सफल नहीं हुए जबकि उनके पास रामानुजन को एक लंबे काल-खंड में देखने का अवसर था।

रामानुजन जैसे विलक्षण प्रतिभाओं को किसी पारंपरिक जीवन शैली में देखने से कई बातें अनकही रह जाती हैं। रामानुजन और इनके द्वारा किये गये अधिकांश कार्य अभी भी वैज्ञानिकों के लिए अबूझ पहेली बने हुए हैं। उनका वह पुराना रजिस्टर जिस पर वे अपने प्रमेय और सूत्रों को लिखा करते थे 1976 में अचानक ट्रिनिटी कॉलेज के पुस्तकालय में मिला। करीब एक सौ पन्नों का यह रजिस्टर आज भी वैज्ञानिकों के लिए एक पहेली बना हुआ है। इस रजिस्टर को बाद में रामानुजन की नोट बुक के नाम से जाना गया। मुंबई के टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान द्वारा इसका प्रकाशन भी किया गया है। रामानुजन के शोधों की तरह उनके गणित में काम करने की शैली भी विचित्र थी। वे कभी-कभी आधी रात को सोते से जाग कर स्लेट पर गणित के सूत्र लिखने लगते थे और फिर सो जाते थे। इस तरह ऐसा लगता था कि वे सपने में भी गणित के प्रश्न हल कर रहे हों। रामानुजन के नाम के साथ ही उनकी कुलदेवी का भी नाम लिया जाता है। इन्होने शून्य और अनंत को हमेशा ध्यान में रखा और इसके अंतर्संबंधों को समझाने के लिए गणित के सूत्रों का सहारा लिया। रामानुजन के कार्य करने की एक विशेषता थी। पहले वे गणित का कोई नया सूत्र या प्रमेय लिख देते थे लेकिन उसकी उपपत्ति पर उतना ध्यान नहीं देते थे। इसके बारे में पूछे जाने पर वे कहते थे कि यह सूत्र उन्हें नामगिरी देवी की कृपा से प्राप्त हुए हैं। रामानुजन का आध्यात्म के प्रति विश्वास इतना गहरा था कि वे अपने गणित के क्षेत्र में किये गये किसी भी कार्य को आध्यात्म का ही एक अंग मानते थे।

अतः गणितज्ञ तो समझने से पहले हम एक सांस्कृतिक और सामाजिक मानव को समझें। इस कार्य में रंगनाथन द्वारा लिखित यह जीवनी बहुत कारगर है। सरल और सहज भाषा में, वैज्ञानिक पद्धति में सूचनाओं का प्रकटन और संधान तथा उसके बाद पुस्तक में व्यक्ति के जीवन की आत्मा के साथ एक सुंदर न्याय करने की सफलता रामानुजन की इस जीवनी को बाद में लिखी गयी कई और जीवनियों के मध्य प्रथम स्थान पर लाकर खड़ा कर देती है। ❖❖

खिलते फूलों की भाषा

अजीत राय

संपर्क :
शिक्षा विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

पुस्तक : बच्चे की भाषा और अध्यापक : एक निर्देशिका
लेखक : प्रो. कृष्ण कुमार
प्रकाशक : एन.बी.टी. नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2019

'बच्चे की भाषा और अध्यापक : एक निर्देशिका' के लेखक प्रो. कृष्ण कुमार शिक्षा जगत में एक जाना-माना नाम है और इनके सुप्रसिद्ध प्रकाशनों में कई लोकप्रिय पुस्तकें जैसे पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन और सोशल कैरेक्टर ऑफ लर्निंग सम्मिलित हैं। यह निर्देशिका सबसे पहले यूनीसेफ द्वारा 1986 में हिंदी में प्रकाशित की गयी थी और पुस्तक की लोकप्रियता के कारण 1998 में इसे नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली द्वारा अंग्रेजी में पहली बार प्रकाशित किया गया था। इस निर्देशिका को प्राथमिक और पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों और नीति निर्माताओं को विशेष रूप से ध्यान में रखकर लिखा गया है। यह निर्देशिका अभिभावकों के लिए भी प्रासंगिक है। इस निर्देशिका का मुख्य विषय निर्माणवादी शिक्षण-अधिगम उपागम द्वारा भाषा शिक्षण को प्रस्तुत करना है। इसके माध्यम से छात्र जीवन में भाषा की विभिन्न भूमिकाओं मुख्यतः बातचीत, वार्तालाप, पठन-पाठन एवं लेखन आदि के संदर्भ में पाठक को बताना तथा समझाना है।

यह निर्देशिका पाँच अध्यायों के माध्यम से कुल 48 पृष्ठों में अपने विषय को पाठकों के समक्ष एक आकर्षक और सरल भाषा में प्रस्तुत करती है जिसके परिणामस्वरूप इसे पढ़ने में बहुत सुविधा और आनंद का अनुभव होता है। पहला अध्याय भाषा के अर्थ की खोज करने और इसे अधिगमकर्ता के जीवन में उपकरण के रूप में स्थापित करना है। जो तत्काल उद्देश्यों को पूरा करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। बहुत ही सरल तरीके से लेखक भाषा में प्रयुक्त शब्दों और उन भौतिक वस्तुओं के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है जिन्हें वे उन शब्दों के माध्यम से संबोधित करना चाहते हैं और इसलिए लेखक कक्षा में बच्चों को सार्थक गतिविधियों के लिए उजागर करने की आवश्यकता की वकालत करता है। गतिविधि आधारित शिक्षणशास्त्र की वकालत इसलिए की जाती है क्योंकि यह अधिगमकर्ता को सीखने की प्रक्रिया का आनंद लेने और शब्दों के प्रासंगिक अर्थ को समझने में मदद करता है।

इस निर्देशिका के दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में क्रमशः बातचीत, पाठन और लेखन के कार्य को समेटा गया है। भाषा के उपकरण के उपयोग पर चर्चा की गयी है। लेखक द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि कक्षा में छात्रों के मध्य बातचीत, जिसे अक्सर कई लोगों द्वारा कक्षानुशासन संबंधी समस्या ग्रस्त मुद्दा माना जाता है, को रचनात्मक या निर्माणवादी ढंग से प्रबंधित और परिष्कृत किया जाये तो इसका एक शैक्षणिक महत्त्व होता है। अतः लेखक द्वारा कक्षा में विद्यार्थियों के मध्य हो रही बातचीत/अंतःक्रिया के लाभ पर प्रकाश डाला गया है और वे कक्षा में एक ऐसे लोकाचार के निर्माण की वकालत करते हैं जहाँ बातचीत को रोकने के बजाय बढ़ावा दिया जाना चाहिए। ठीक उसी प्रकार 'पाठन' पर लिखा गया अध्याय पाठन के शिक्षण की प्रक्रिया को एक सक्रिय रणनीति के रूप में देखता है और 'लेखन' पर लिखा गया अध्याय लेखन की प्रक्रिया को एक बातचीत या वार्तालाप के रूप में देखता है। लेखक का मानना है कि लेखन गतिविधियों को दिलचस्प गतिविधियों में ढाला जाना चाहिए और इसकी शुरुआत चित्र खींचने और पेंटिंग के माध्यम से हाथों के प्रशिक्षण के साथ होनी चाहिए। भाषा के तीनों प्रकार्यों को उचित शिक्षण-अधिगम गतिविधियों, जिन्हें शिक्षकों के लिए इतने सरल ढंग से इस निर्देशिका में प्रस्तुत किया गया है कि वे उन्हें अपने विशिष्ट संदर्भों में बहुत ही सहज एवं लचीले ढंग से अपना सकें। इन सारी उपलब्धियों के माध्यम से गतिविधि उन्मुख शिक्षणशास्त्र के रूप

को प्रस्तुत किया गया है। समापन अध्याय गतिविधि आधारित शिक्षणशास्त्र के क्रियान्वयन के संदर्भ में आने वाली चुनौतियों एवं कुछ आशंकाओं को संबोधित करता है। साथ ही यह अध्याय यंत्रवत भाषा कक्षा लोकाचार को एक निर्माणवादी कक्षा में परिवर्तित करने में पाठ्य पुस्तकों की भूमिका तथा ऐसी कक्षा में सतत् एवं संरचनात्मक मूल्यांकन के असीम महत्त्व को स्थापित करता है।

इस निर्देशिका की सरल एवं गैर-शैक्षणिक भाषा एवं प्रस्तुति पाठकों में इसकी पहुँच को बढ़ाती है। यह निर्देशिका सभी के द्वारा पढ़ी जानी चाहिए। यद्यपि इस निर्देशिका में पियाजे, वायगोत्स्की, टैगोर, गिजूभाई, जोन्स, स्मिथ और व्यक्तिगत अनुभवों से अभिप्रेरित मौलिक विचार लगभग तीन दशक पूर्व उद्धृत किये गये थे, परंतु इस नयी सहस्राब्दि में भी वे उतने ही प्रासंगिक हैं विशेष कर तब जब हम देखते हैं कि भारत में कक्षाएँ आज भी अधिगम के निर्माणवादी स्थलों के रूप में उभरने एवं परिवर्तित होने के लिए संघर्षरत हैं, हालाँकि यह निर्देशिका कक्षा में भाषा अधिगम की गतिविधियों को सुखद और रोचक बनाने के लिए एक आदर्शवादी तथा प्राप्य साधन के रूप में इसे प्रस्तुत करती है। यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि स्ट्रेनस (1975) के अनुसार, ऐसे सभी पाठ्यचर्या परिवर्तन मूल रूप से शिक्षक निर्माण एवं शिक्षक विकास की प्रक्रियाएँ होती हैं, और इस पुस्तक में दिये गये आदर्शों के क्रियान्वयन के लिए शिक्षकों को जिस प्रेरणा और कौशल की आवश्यकता है, वह भारत में शिक्षक प्रशिक्षण की समकालीन स्थिति को देखते हुए आज भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। परिवर्तन के प्रयास के विरुद्ध इन प्रधान चुनौतियों के बावजूद सभी मानकों में यह निर्देशिका पाठकों के लिए एक प्रासंगिक, व्यावहारिक रूप से महत्त्वपूर्ण और बौद्धिक रूप से मुक्ति प्रदान करने वाला अनुभव प्रस्तुत करती है। ❖❖

(अनुवादक : डॉ. एस. आर. शर्मा)

मलयालम रामायणकार के जीवन-संघर्ष का अपूर्व दस्तावेज

प्रो. जी. गोपीनाथन

संपर्क :
सौपर्णिका, काक्कंचेरी,
कालिकट यूनिवर्सिटी (पी.ओ.),
673635, करेल
(gopinathan.govindapamicku@gmail.com)

पुस्तक : अग्निसागर से अमृत
लेखक : सी. राधाकृष्णन
अनुवादक : एस. तंकमणि अम्मा
के.जी. बालकृष्ण पिल्लै
प्रकाशक : हिंदी बुक सेंटर, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
मूल्य : 770 रु.

मलयालम के प्रसिद्ध रामायणकार तुंचत् रामानुजन एषुत्तच्छन का जीवन-संघर्ष अपने में एक महाकाव्य जैसा है। रुढ़िवादी पंडितों का घोर विरोध और उनकी प्रेरणा से राजशासन के द्वारा दी गयी अनेक यातनाएँ उन्हें सहनी पड़ी। कठिन परिस्थितियों में भी इस साहित्य तपस्वी ने जीवन के अग्नि-सागर को मथकर अपने 'अध्यात्म रामायण' का अमृत किस तरह निकाला, इसका दस्तावेज मलयालम के प्रसिद्ध उपन्यासकार सी. राधाकृष्णन ने 'अग्नि-सागर को मथकर त्रिमधुर' शीर्षक से मलयालम में अंकित किया है जिसका हिंदी अनुवाद डॉ. एस. तंकमणी अम्मा और के.जी. बालकृष्ण पिल्लै ने भारतीय ज्ञानपीठ के लिए किया है। अनुवाद में इसका शीर्षक 'अग्नि सागर से अमृत' रखा है। मूल रूप से यह एक जीवनी है, लेकिन औपन्यासिक शैली में अंकित करने के कारण पाठक को एक उपन्यास जैसी प्रतीति देता है। अमृतलाल नागर के 'मानस का हंस' से यह रचना तुलनीय है, अंतर यह है कि 'मानस का हंस' की तुलना में इस में कवि के जीवन के तथ्यात्मक और ऐतिहासिक अंश ज्यादा हैं और काल्पनिक अंश कम। वैसे मध्यकालीन कवियों का जीवन अक्सर किंवदंतियों और अद्भुत चरित्रों से भरा हुआ होता है और उसमें से प्रामाणिक जीवनी का पुनरनिर्माण करना बहुत ही जटिल काम है। एषुत्तच्छन के जीवन की अनेक बातें अज्ञात हैं, जनता के बीच में अब भी कई विवादास्पद कहानियाँ प्रचलित हैं।

श्री सी. राधाकृष्णन ने एषुत्तच्छन के जीवन के बारे में काफी खोजबीन की। वे स्वयं कवि की पारिवारिक परंपरा से जुड़े हुए हैं। इसलिए अपनी नानी, परनानी, पितामह, मामा तथा अन्य बुजुर्गों से सुनी हुई बातों को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर अध्ययन करने का उनका मन हुआ। इसके लिए उपलब्ध सारे इतिहास के ग्रंथ तथा दस्तावेज, पांडुलिपियों आदि का अनुशीलन किया। उनका यह सत्यान्वेषण महाकवि उल्लूर के मलयालम साहित्य के इतिहास में दी गयी जानकारी से आरंभ हुआ। इस क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों से तथ्यों के बारे में चर्चाएँ हुईं। पी. नारायण पिपारोडी की 'तुचन् आचार्यन' ग्रंथ से भी सहायता मिली। तिरुवनंतपुरम का हस्तलिखित गंथालय, तंजोर का सरस्वती महल पुस्तकालय आदि से अपूर्व सामग्री मिली। उन्होंने प्रमुख रूप से केरल के तत्कालीन प्रादेशिक इतिहास का अध्ययन किया और अपने पितामह, मातामही तथा अन्य बुजुर्गों से मिली हुई इतिहास संबंधी जानकारी का परीक्षण किया। इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप एषुत्तच्छन का जीवन, कृतित्व एवं उस युग की ऐतिहासिक घटनाओं के बीच के अंतः संबंधों को इस ग्रंथ में नाटकीय एवं जीवंत ढंग से अंकित कर सके।

केरल में प्राचीन काल से चेर वंश के राजा शासन करते थे जिन्हें चेरमान पेरुमाह कहा जाता है। आठवीं शताब्दी के बाद चेर साम्राज्य बहुत कमजोर पड़ा और उस पर दक्षिण के पाण्ड्य एवं चोल राजाओं का आक्रमण बराबर होता रहा। उन दिनों उत्तर से आये नंपूतिरि ब्राह्मण अपने वैदिक ज्ञान और तंत्र-मंत्र पर अधिकार के कारण बड़े प्रबल हो गये। वे स्थानीय राजाओं के परामर्शदाता बने और राजाओं से दान में मिली मंदिरों और जमीन-जायदाद के कारण बहुत संपन्न और प्रभावशाली हो गये। पुरोहितों की धृष्टता और प्रजा की दयनीय स्थिति और जाति व्यवस्था की कठोरता जब असहनीय हो गयी, तभी अंतिम चेरमान पेरुमाल राजा ने अरब व्यापारियों के माध्यम से इस्लाम धर्म ग्रहण कर मक्का की तरफ प्रस्थान किया। किसी केंद्रीय सत्ता के अभाव में जगह-जगह चेरमान पेरुमाल के जो सामंत थे, वे प्रबल हो गये। दक्षिण केरल में वेणाट (निरुवितांकूर) और मध्य

और उत्तर केरल में बल्लुवनाड, पेरुयटपपु, वेट्टेत्तुनाड, कोषिक्कोड (कालिकट), कटत्तनाड, कोलत्तुनाड आदि के सामंत राजाओं ने स्वतंत्र रियासतें स्थापित कीं। इनमें से कोषिक्कोट के सामूतिरि राजा (जामोरिन) अपने परामर्शदाता नंपूनिरियों और स्थानीय मुसलमानों की नौ सेना आदि के कारण प्रबल हो गये। छल-कपट की नीति से और पुर्तगाली व्यापारियों की मदद से अन्य स्थानीय राजाओं पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करने लगे। उन दिनों केरल में जगह-जगह देशी युद्ध विद्या और लेखन की विद्याशालाएँ होती थीं, जिन्हें 'कलरी' कहते थे। वेट्टत्तुनाड के सामंत राजाओं के अधीन स्थित तान्नियूर नामक स्थान पर 'कालरी' स्थापित करने के लिए वल्लुवनाड के राजा वल्लुव कोनातिरि ने एषुत्तच्छन के पूर्वजों को भेज दिया था। परंपरा से वे देशी युद्ध विद्या और अक्षर की विद्या दोनों में माहिर थे। तान्नियूर की अपनी 'कालरी' में वे दोनों विद्याएँ राजपरिवार के लोगों और सामान्य जनों, यहाँ तक कि धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बने हुए लोगों को भी देते थे। सामूतिरि राजा के परामर्शदाता चार-पाँच नंपूतिरि परिवारों के लोग थे जिन्हें 'संकेतं' कहते थे। वे वेट्टेत्तुनाड में स्थित एषुत्तच्छन के परिवारवालों से ईर्ष्या रखते थे और वहाँ पर संस्कृत और वेद-वेदांत अब्राह्मण लोग पढ़-पढ़ा रहे हैं, इनको बंद करने की साजिश करने लगे। सामूतिरि राजा छल कपट से राज्यों के संघ 'मामांकं' के प्रमुख बन गये थे। 'मामांकं' का सम्मेलन तिरुनावाया नदी-संगम पर होता था। वहाँ से लौटने वाली सामूतिरि की सेना ने तान्नियूर की कलरी को मिटाया, सौभाग्य से एषुत्तच्छन के मामा वगैरह ने ताड़पत्र के अमूल्य ग्रंथों को बचाया। कुछ गठरियाँ वेट्टत्तु राजा के पास भेज दी थीं। साजिश रचनेवालों ने कुछ समय पहले एषुत्तच्छन के पिता को विष देकर मारा था, सैनिकों के आक्रमण पर उनके मामा, जिनकी आँखों की रोशनी चली गयी थी, कुएँ में गिर कर मर गये। इसके बाद एषुत्तच्छन के बड़े भाई तथा अन्य बुजुर्गों ने वेट्टत्तु राजा की मदद से तिरुर के तुंचन परंपु नामक वीरान जमीन पर अपनी 'कालरी' या विद्याशाला स्थापित की। युद्ध विद्या एवं संस्कृत के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लोगों को देने लगे। वेट्टत्तु राजा सामूतिरि को उतना मानते नहीं थे लेकिन उनका सहयोग जारी रहा। वेट्टत्तु राजा से पोषित तिरुर का तुंचन परंपु क्रमशः एक लोकप्रिय विद्या केंद्र गन गया। उन दिनों सामूतिरि राजा का सारा अधिकार उनके परामर्शदाता 'संकेतं' के प्रबल नंपूतिरि ब्राह्मणों में केंद्रित था। सामूतिरि राजा के वे प्रिय जन थे, नंपूतिरि ब्राह्मणों के अधिशासक आलवान्चेरी नम्प्राक्कल का सिक्का भी वे मानते नहीं थे। वे बड़े कट्टरवादी थे और उन्होंने एषुत्तच्छन परिवार की कलरी में अब्राह्मणों को वेद-वेदांत, व्याकरण आदि की शिक्षा देने पर पाबंदी लगाने पर जोर दे रहे थे। इसलिए संस्कृत, वेद-वेदांत आदि में उच्च शिक्षा पाने के लिए एषुत्तच्छन को तमिलनाडु और आंध्र की सीमा पर कुछ जगहों में स्थित विद्या केंद्रों में जाना पड़ा। पल्लव काल में स्थापित शैव परंपरा के उदारवादी कई विद्यापीठ उन प्रदेशों में तब भी मौजूद थे। तिरुवाटुत्तुरै के ऐसे ही एक गुरुकुल के आचार्यों से एषुत्तच्छन ने उच्च शिक्षा पायी। संस्कृत, वेद, वेदांत आदि का अध्ययन कर जब वे अपने परिवारवालों की 'कलरी' में लौट आये तो क्रम से वहाँ के प्रमुख आचार्य हो गये। एषुत्तच्छन ने उस समय तमिल की लिपि पर आधारित मलयालम की 'वट्टेषुत्तु' लिपि को अपर्याप्त पाया क्योंकि उसमें अतिखर, मृदु और घोष वर्ण लिखे नहीं जा सकते थे। इसलिए उन्होंने 51 अक्षरों की नयी लिपि तैयार की। इन 51 अक्षरों का प्रयोग कर उन्होंने 'हरिनामकीर्तनं' नामक रचना की जिसमें प्रत्येक पद्य इन इक्यावन अक्षरों के क्रम से शुरू होता है। उस समय केरल में जो कलरियाँ या देशी पाठशालाएँ चलती थीं, उन सबमें उन्होंने नयी लिपि में लिखित अपने 'हरिनामकीर्तनं' की ताड़पत्रीय प्रतिलिपियाँ भेज दीं। सब जगह नयी लिपि और 'हरिनाम कीर्तनं' का स्वागत हुआ। लेकिन इसमें संकेत वाले नंयूतिरि ब्राह्मण एषुत्तच्छन से रूष्ट राज हो गये। उनके अनुसार 'हरिनाम कीर्तनं' काव्य में याग-यज्ञ और वेदपाठी ब्राह्मणों का अपमान किया गया है क्योंकि उन्हें शवदाह करनेवाले चांडाल के समकक्ष रखा है। इसमें स्मृतियों का तिरस्कार है। (उस समय नंयूरि ब्राह्मणों ने 'शंकर-स्मृति' नामक एक जाली स्मृति बनायी थी, ऐसा प्रसिद्ध है) 'हरिनामकीर्तनं' के इस पद्य से उन्हें सख्त आपत्ति थी-

''ऋत्रुवाय पेण्णिनु मिरप्पनुं दाहकनुं,
पतितनुं, अग्नियजनं चेरत भूसुरनुं,
हरिनाम कीर्तन मोरुनलु मोरुवर्क्कु
मसत्रात्ततल्ला हरि नारायणाय नमः।

(ऋतुमती, औरत, भिखारी, दाहक चांडाल, जाति में पतित व्यक्ति, अग्नि-यज्ञ करने वाले ब्राह्मण, इनमें से किसी को भी हरिनाम के कीर्तन से परहेज करने की जरूरत नहीं था इनके लिए हरिनाम कीर्तन मना नहीं।) नंपूतिरियों की यह भी शिकायत थी कि वेदभाषा की वर्ण माला मलयालम में लागू की जा रही है और उसके माध्यम से समस्त अनधिकारियों को वैदिक ज्ञान देकर बड़ा अपराध कर रहे हैं। चूँकि उन दिनों धार्मिक बातों में 'संकेतं' वाले नंयूतिरि ब्राह्मण सामूतिरि राजा को अनधिकारी समझते थे, इस लिए एषुत्तच्छन को उन्होंने यह दंड दिया कि वे पाठशाला (कलरी) बंद करें और गुजारे के लिए बिना बैल का कोल्हू चलाकर स्थानीय मंदिरों के लिए आवश्यक तेल निकालें। सैनिकों ने उनकी कलरी का सत्यानाश किया। एषुत्तच्छन को एक मंदिर के पास वाले कोल्हू घर में अपने परिवार वालों के साथ रहना पड़ा। अपनी

जीविका चलाने के लिए बिना बैल के कोल्हू में तेल निकालते थे। साढ़े बारह साल उन्होंने इस तरह का जीवन बिताया। उनके पास कई अपूर्व ताड़पत्रीय ग्रंथों की प्रतियाँ भी थीं, जिनके सहारे वे अपना स्वाध्याय जारी रखते थे। कोल्हू घुमाने पर उसमें से जो आवाज आती है, उसी को श्रुति बनाकर संस्कृत के आध्यात्म रामायण के आधार पर मलयालम में आध्यात्म रामायणं शुकगीति बनाई। इस गेय रामायण को ताड़पत्रों पर लिखकर सुरक्षित रखा। उसमें गंथकार का नाम और पता नहीं दिया। अपने रामायण की कई प्रतियाँ एष्ुत्तच्छन और उनकी बहनों ने बनायीं और वेट्टत्तुनाड़, परप्पनाड, वल्लुवनाड आदि के सामंत राजाओं और केरल भर के 'कलरी' विद्या केंद्रों और परिचित विद्वानों को भेज दिया। ग्रंथ की मूल पांडुलिपि को कपड़े में ढंक कर घर के भीतरी कक्ष के फर्श में गाड़ दिया था। कुछ स्रोतों से जब कुछ नये रामायण के बारे में 'संकेतं' के नंयूतिरि ब्राह्मणों को पता चला तो उन्होंने फिर जाकर सामूतिरि राजा से सख्त शिकायत की। प्रमुख आक्षेप थे कि ऐसा जो कनिय जो बेद-शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी नहीं है, उसने वेद-वेदांत के सारे तत्त्वों को सम्मिलित कर अध्यात्म रामायण की रचना की जिसमें ब्राह्मणों और यज्ञ आदि की घोर निंदा है। तंत्रोक्त पूजा के क्रिया-मार्ग को भी संलग्न कर अनधिकारियों को उन सब के गोपनीय विधानों की जानकारी दी है। इसके अलावा सामूतिरि राजाओं के शत्रुओं के पास इसकी प्रतिलिपियाँ पहुँचायी हैं। इन सारे अपराधों के लिए एष्ुत्तच्छन को मृत्यु दंड देने का निर्णय संकेतंवालों ने लिया और सामूतिरि की अनुमति भी प्राप्त की। जब मृत्यु दंड की सुनवाई हो रही थी, तो नंयूतिरि ब्राह्मणों के प्रमुख आल्वान्चेरी ने अपने विशेष अधिकार का प्रयोग कर मृत्यु दंड को देश निकाला में बदल दिया। सामूतिरि के राज्य से बहिष्कृत होने पर एष्ुत्तच्छन पहले तकमलनाडु के अपने पुराने गुरुकुल में जाकर आचार्य के रूप में कुछ समय रहे। बाद में अपने शिष्य सूर्यनाराण की मदद से पालघाट के राजा के अधीन स्थित चिहूर में जाकर एक मठ बनाया और जीवन के अंतिम समय तक वहीं रहे। सामूतिरि राजा के प्रशासकों और परामर्शदाता नंयूतिरियों के विरोध के बावजूद वल्लुवनाड, वेट्टत्तुनाड, परप्पनाड आदि के सामंत राजाओं ने एष्ुत्तच्छन के रामायण को बहुत सम्मानित किया। वल्लुवनाड के वेल्लाट्टिरी राजाओं ने यह आदेश निकाला कि मलयालम के 'कर्कटकं' महीने में जब कि भारी वर्षा के कारण लोग बाहर निकल भी नहीं पाते हैं, इस ग्रंथ का पारायण घर-घर एवं मंदिरों में किया गया। यह प्रथा धीरे-धीरे पूरे केरल में चल पड़ी। चिट्टूर का मठ जहाँ एष्ुत्तच्छन अंतिम दिनों में रहे थे, उनका समाधि स्थल बन गया। पहले निरूर का तुंचन जहाँ उनका विद्या केंद्र या कलरी था, वह लोगों की श्रद्धा का प्रमुख केंद्र बन गया। मलयालम की वर्तमान वर्णमाला तुंचन परंपु की इसी पाठशाला में एष्ुत्तच्छन ने विकसित की थी। अब भी विजयदशमी के दिन विद्यारंभ यहाँ होता है, बच्चों की उंगली पकड़कर बालू पर आद्यक्षर लिखवाने और विद्यारंभ करने के लिए लोग केरल भर से यहाँ आते हैं। पहले के तमिल मिश्रित, देशी संस्कृत मिश्रित मणिप्रवाल शतिकों से निम्न एक मानक शैली में एष्ुत्तच्छन ने अपना अध्यान्म रामायण लिखा, इसलिए वे आधुनिक मलयालम कवियों के कुलगुरु बन गये। तुंचन परंपु अब उनका ऐतिहासिक स्मृति-स्थिल है जहाँ उनके नाम पर मलयालम विश्वविद्यालय स्थापित है।

एष्ुत्तच्छन की इस उपन्यासालक जीवन का मलयालम से हिंदी में अनुवाद करने के लिए डॉ. तंकमणि अम्मा और के.जी. बालकृष्ण पिल्लै ने काफी परिश्रम किया है। किताब का मूल शीर्षक है- 'अग्नि सागर के मंथन से त्रिमधुर'। त्रिमधुर से तात्पर्य इस काव्य के दर्शन भक्ति और काव्य सौंदर्य के माधुर्य के रूप में कवि ने जो त्रिमधुर दिया है, उसी में है। वैसे 'त्रिमधुर' देवी मंदिरों, विशेषकर सरस्वती मंदिर का विशिष्ट प्रसाद माना जाता है। अनुवादकों ने इसके लिए 'अमृत' अनुवाद दिया है, जिसके कुछ औचित्य है। इस किताब के अनुवाद एवं पाठन में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक स्थान नामों, राजवंशों के नाम आदि के कारण कई समस्याएँ पैदा होती है। अनुवाद को पठनीय एवं बोधगम्य बनाने के लिए अनुवादकों का प्रयास अभिनंदनीय है। हमें लगता है कि इस ग्रंथ में भी अपरिचित सामाजिक- सांस्कृतिक -ऐतिहासिक शब्दावली के लिए कोई पाद टिप्पणी या परिशिष्ट में टिप्पणी या शब्दार्थ न देना पाठकों की कठिनाई को बढ़ाता है। करीब 455 पृष्ठों के इस ग्रंथ का प्रूफ-पठन, टंकण आदि में असावधानी के कारण कुछ शब्दों का रूप बिगड़ गया है, ऐसा भी लगता है जैसे- रोलानी (रोशनी?), समाकासन (समाश्वासन?) आकास्त (आश्स्त?) बृहदीकार मंदिर (बृहदीश्वर मंदिर?) ऐकार्य (ऐश्वर्य?), विकास (विश्वास?), केट्ढकल्याणं (केट्टुकल्याणं), परमेकार (परमेश्वर?), अप्पुवेट्ट (अप्पू भैया?) आदि। उनको अगले संस्करण में ठीक करने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ध्यान देगा, ऐसी आशा करते हैं। अनुवादकों में से श्री के.जी. बालकृष्ण पिल्लै अब स्मृति शेष हो गये हैं। उनके और डॉ. तकमणी के योगदान के लिए साहित्य जगत उनका ऋणी रहेगा। ❖❖

अद्वितीय प्रतिभाओं का कालपात्र

आनंद प्रकाश

संपर्क :
मनोविज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

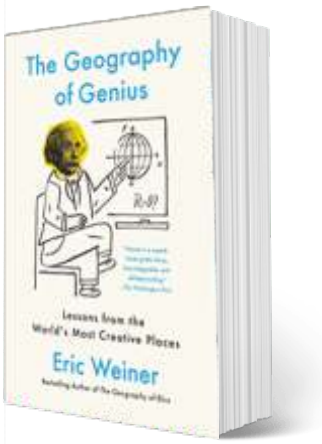

पुस्तक : जियोग्राफी ऑफ जीनियस
लेखक : एरिक विनर
प्रकाशक : साइमन एंड सुश्चटर
प्रकाशन वर्ष : 2016
मूल्य : 599 रु.

प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक ने मुझे आकर्षित किया कि जीनियस (कुशाग्रता) का भूगोल से कोई संबंध है। इसके शीर्षक में ही उपशीर्षक हैः ''सिलिकॉन वैली से लेकर एथेंस तक दुनिया की महत्त्वपूर्ण रचनाशील जगहों की खोज''।

एरिक विनर मूलतः एक पत्रकार हैं। अपने पत्रकारिता की शब्द यात्रा में इनकी पुस्तक ''प्रसन्नता का भूगोल'' (Geography of happiness) पढ़ने का अवसर मिला। मनोविज्ञान के अध्येता होने के कारण वैज्ञानिक प्रवृत्ति की सीमाओं के परे जाकर आम पाठक तक अपनी खोजी पत्रकारिता से सुलभ करायी गयी सामग्री का रुचिकर ढंग से प्रस्तुत करने की शैली मन को भा गयी। इनकी दूसरी पुस्तक जीनियस का भूगोल भी इसी शैली की कृति है।

इस पुस्तक को प्रस्तावना और उपसंहार के अलावा 8 (आठ) अध्यायों में निबद्ध किया गया है। प्रस्तावना में मनोविज्ञान के प्रारंभिक अध्ययन का हवाला देकर जीनियस कौन है, इसकी समीक्षा की गयी है। ''अति साधारण बौद्धिक शक्ति'' जो किसी सृजनशील अथवा उत्पाद के द्वारा प्रकट होती है। शायद यह असाधारण क्षमताओं के कारण समय इतिहास और काल के खंडों में इनको सामाजिक प्रताड़ना का भी शिकार होना पड़ा है। आधुनिक संदर्भ में इसको उस योग्यता के क्रम से जाना जाता है जिसके चिंतन और कर्म में नवीनता है, जिसमें आश्चर्य बोधक और मूल्यवान तत्त्व होते हैं। यही परिभाषा आजकल उत्पादों के पेटेंट करने के लिए दुनिया के देश उपयोग करते हैं। लेखक ने अपनी प्रस्तावना के लिए उपयोग किया है। इसी संदर्भ में उसने महान मनोवैज्ञानिक चार्ल्स गाल्टन की पुस्तक हेरिडिट्री जीनियस का संदर्भ लिया है जो 1869 में प्रकाशित हुयी थी। इस पुस्तक में प्रसिद्ध रचनाशील व्यक्तियों, नेताओं और अप्रतिम खिलाड़ियों के पारिवारिक वंशावलियों का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया। गाल्टन ने इस पुस्तक में यह बताने का प्रयास किया कि कैसे कुछ देश अधिक सफलता पा गये। ग्रीस सभ्यता के पतन के कारणों में से एक कारण अपने से हीन परिवार की महिलाओं से विवाह करना भी था। निष्कर्ष में यही कहा जाता है कि दुर्भाग्यपूर्ण था ''जीनियस पैदा होता है, द्वामता नहीं है।''

दूसरा अध्याय चीन के हैंगझाऊ शहर के बारे में है। इसका शीर्षक है ''जीनियस इन नथिंग''। सॉन्ग वंश जो चीन मे 1969 से 1276 ईस्वी का काल माना गया है। इसकी राजधानी थी हैंगझाऊ। इसके बारे में कहा जाता है कि जब यूरोप के लोग एक दूसरे के बालों से जुएँ निकाल रहे थे, उस समय हैंगुझाऊ के लोग आविष्कार करने, लेखन में, चित्रकारी या मानवीय दशाओं के सुधार में व्यस्त थे। इस संस्कृति में कुछ नया एकाएक नहीं होता है बल्कि क्रमशः सुधार से नयापन प्राप्त किया जाता है। चीनी लोगों ने गन पाउडर और अग्नि के अस्त्रों को बना लिया था। सांग वंश का काल महान दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास का काल भी था। कन्फ्यूशियस और बौद्धिक चिंतन के काल में आध्यात्मिक चिंतन और दार्शनिक विचारों का भी विकास हुआ इसके साथ ही विविधताओं की सहनशीलता का परिवेश भी परवान चढ़ा।

प्रतिभाओं के विकास में जगहों (स्थानीयता) का क्या योगदान है- इस प्रस्तावना को आगे बढ़ाते हुए उसने पहला अध्याय- एथेंस पर केंद्रित किया है, जिसका शीर्षक है ''जीनियस सरल

है।'' लेखक ने एथेंस के इतिहास के झरोखों को आधुनिकता बोध से संपन्न चेतना के साथ देखने का प्रयास किया है। उस समय एथेंस में प्रस्तुत परंपराएँ, सप्ताह तक चलने वाले उत्सवों और मदिरा (वाइन) का अगाध सेवन की क्या भूमिकाएँ थीं। विभिन्नताओं को समेंटने की एकात्मकताएँ उसकी मेरुदंड थी। ग्रीक किसी एकनिष्ठता की संस्कृति नहीं थी। प्रत्येक पोलिस की अपनी सरकार, अपने कानून, अपनी परंपराएँ यहाँ तक कि अपना कैलेंडर था। यद्यपि वे वस्तुओं का आदान प्रदान करते थे, खेल प्रतिस्पर्धाएँ भी आयोजित होती थीं। इनका इतिहास रक्त रंजित युद्धों से भी भरा पड़ा था।

उनके पहाड़ी इलाके नैसर्गिक सीमाओं का निर्माण करते थे। उनमें अनेक संस्कृतियाँ पुष्पित-पल्लवित हुईं। करीब 40 पृष्ठों में समेंटा गया सुपाठ्य शैली में रुचिकर ढंग से प्रस्तुत यह अध्याय वास्तव में पाठक को एथेंस के जीनियस के पल्लवन और संवर्धन की गाथा को बताता है। इसके पतन के अनेक कारणों में से सांस्कृतिक विघटन प्रमुख कारणों के रूप में बताया गया है। प्रत्येक संस्कृति की उपमा एक रसोइए की है, जितने ज्यादा खाद्य पदार्थ का कच्चा माल होगा, उतना ही ज्यादा प्रकार के व्यंजनों को तैयार करने की संभावनाएँ रहती हैं। साक्रेटिस (सुकरात) को ई.पू. 339 में सजा के साथ ही संस्कृति का विघटन प्रारंभ हो गया था। उसके बाद जो बचा वह मात्र नकल थी, मौलिक चिंतन या उत्पाद नहीं रहा। उन्होंने लोकतंत्र को घरों में तो मान्यता दी परंतु विदेशों में नहीं। उन्होंने विदेशियों के लिए अपने दरवाजे बंद कर दिए। लोगों ने खाने-पीने में अत्यधिक रुचि लेना शुरू कर दिया, सड़कें चौड़ी हुयीं, संबंध सिकुड़ते चले गये। एथेंस का पतन आरम्भ हो चुका था, प्रतिभाओं का पलायन

इसी कड़ी का सातवाँ अध्याय भी वियना के दूसरे स्वर्णिम काल से जुड़ा हुआ है। ''जीनियस इज कंटेजियसः वियना ऑन द काऊच'' के शीर्षक से प्रस्तुत किया है। एक सदी के बाद 1900 के प्रारंभ में वियना शहर का विस्तार हो चुका था। इस बीच हैजा की बीमारी और आर्थिक संकट ने वियना का स्वरूप बदल दिया था। विद्वानों, दार्शनिकों, विचारकों में विटगेन्सटाईन, गुश्ताव क्लीमंट, आर्थर विनिटलर, नविंग, मारव और सनीतंश गुश्ताव माहलर जिन्होंने आधुनिक चिंतन परंपरा को प्रभावित किया है। वियना के कॉफी हाउस और कैथीडरल जो सेक्यूलर स्थान थे जहाँ की बौद्धिकताओं को पुष्पित पल्लवित करने के केंद्र बने। हालाँकि कॉफी हाउस की खोज इस्तानबूल में 1554 मे की गयी थी। बाद में यात्री इसको लेकर इंग्लैंड आये और ऑक्सफोर्ड में पहला काफी हाउस खुला। यहाँ कोई भी आ सकता है।

प्रारंभ हो गया, अमीर गरीब के बीच दूरियाँ बढ़ती गयी। शिक्षकों में सत्य की खोज की जगह शाब्दिक वाचालता बढ़ती गयी, पूरा वातावरण एक सर्कस की कलबाजियों में बदल गया। आत्म सम्मान से जीना गौण हो गया और बौद्धिक बौनेपन ने विकृतियों के माहौल को निर्मित कर दिया।

दूसरा अध्याय चीन के हैंगझाऊ शहर के बारे में है। इसका शीर्षक है ''जीनियस इन नथिंग''। सॉन्ग वंश जो चीन में 1969 से 1276 ईस्वी का काल माना गया है। इसकी राजधानी थी हैंगझाऊ। इसके बारे में कहा जाता है कि जब यूरोप के लोग एक दूसरे के बालों से जुएँ निकाल रहे थे उस समय हैंगुझाऊ के लोग आविष्कार करने, लेखन में, चित्रकारी या मानवीय दशाओं के सुधार में व्यस्त थे। किसी भी संस्कृति में एकाएक कुछ नया नहीं होता है बल्कि क्रमशः सुधार से नयापन प्राप्त किया जाता है। चीनी लोगों ने गन पाउडर और अग्नि के अस्त्रों को बना लिया था। सांग वंश का काल महान दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास का काल भी था। कन्फ्यूशियस और बौद्धिक चिंतन के काल में आध्यात्मिक चिंतन और दार्शनिक विचारों का भी विकास हुआ इसके साथ ही विविधताओं की सहनशीलता का परिवेश भी परवान चढ़ा।

इसके पतन के कारणों में लेखक ने अपनी विवेचना अनेक उदाहरणों के द्वारा दी है। शायद यह सभ्यता अपनी इन उपलब्धियों को किसी वृहत्तर सिद्धांतों में नहीं गूँथ सकी। हैंगझाऊ के शासक जो कवि भी थे उनको शासन से ज्यादा कविता भा गयी थी। अनेक भयानक गलतियाँ विदेश नीतियों में हुयी। इसके कारण 1279 में मंगोलों के आक्रमण शुरू हो गये। सभ्यता में अंदर से भी विघटन प्रारंभ हो गया था। उनकी इंपीरियल परीक्षा प्रणाली जो कभी नवाचार का उपाय थी, वह सत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्ति का माध्यम बन गयी। अपनी ही महानता के भार से इस सभ्यता का स्वर्ण युग का अंत हुआ।

तीसरा अध्याय ''फ्लोरेंसः जीनियस इज एक्सपेंसिव'' के शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। शायद भले ही महान मस्तिष्क सोचते एक जैसा नहीं हो पर एक-दूसरे के प्रति किसी अज्ञात व्यक्ति के वशीभूत होकर एक-दूसरे से जुड़ते अवश्य है। फ्लोरेंस (इटली) इसका एक उदाहरण है। ऐतिहासिक तथ्यों को उद्धृत करते हुए लेखक ने इन महान व्यक्तियों के एक साथ एकत्र होने की घटना का उदाहरण दिया है। धन और प्रतिभा के आपसी संबंधों का क्या आधार है? इन प्रश्नों के उत्तर तलाश करते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है। कि दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं। प्रतिभा संपन्नता सवाल ज्यादा पूछती है, उत्तर कम देती है। लेनार्ड दा विन्सी भी समस्या खोजने

वालों में से हैं- समस्याएँ भी प्रतिभाएँ तलाश लेती हैं विन्सी अपने माता-पिता की अवैध संतान था। रेनेसा काल के ढेर सारे कलाकार अवैध संतान थे- अल्बर्टी और धिवरेटी।

मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रश्न के उत्तर को पाने का प्रयास किया है कि कठिन परिस्थिति में बीता बचपन उपलब्धि के नये शिखर केसे पाता है। फ्लॉरेंस में यह मान्यता प्रचलित थी कि जब हम भौतिक दुनिया से पलायन करते हैं या उदासीन हो जाते हैं- बल्कि इस गड्मगड दुनिया के साथ जुड़ते हैं। प्रतिभा संपन्न सर्जना के गुणों से भरपूर इसी व्यवस्था के साथ संबंधित होकर अच्छे-बुरे अनुभवों के साथ प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

फ्लोरेंस का कपड़ा उद्योग उसकी स्वाभाविक विशेषता नहीं थी क्योंकि कपड़ा निर्माण का कच्चा माल बाहर से आता था। कलाओं और व्यापार का अद्भूत संगम था फ्लोरेंस। कौशलों की उपयोगिता अनेक क्षेत्रों में थी। जहाँ धन होगा वहाँ उतना ही प्रतिस्पर्धा का माहौल होगा। सहयोग और प्रतिस्पर्धाओं का अद्भुत संगम था फ्लोरेंस। कला धर्मिता की पराकष्ठा था फ्लोरेंस। इसने भोगवादी संस्कृति को जन्म दिया। शायद मनुष्य की विडंबना यही है कि हम धीरे-धीरे अपने विलास से जुड़ी इच्छाओं से संचालित होने लगते हैं।

चौथे अध्याय जीनियस इज प्रैक्टिकलः एडिनबर्ग के शीर्षक से एडिनबर्ग के प्रतिभा और भूगोल के संबंधों की पड़ताल की है। एडिनबर्ग चमत्कृत करता है। स्कॉटलैंड की राजधानी एडिनबर्ग - अपने आप में एक आश्चर्य है। एडिनबर्ग के भूगोल में समाहित सभ्यता में रसायन शास्त्र, भूगर्भ विज्ञान, अभियांत्रिकी, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कविता और चित्रकला में आविष्कारों की लंबी यात्राएँ की हैं। ग्लास्गो

''जो देश में सम्मानित है वही उगता है''। यहाँ कैल्फिोर्निया की चटक धूप है। इसके तीन ओर विश्वविज्ञान के तीन महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय, कैल्फिोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी और कैल्फिोर्निया विश्वविद्यालय विश्व से प्रतिभाओं का चयन करते हैं और सिलिकॉन वैली में पोषित होते हैं। यहाँ का भूगोल अपने सीने पर इतिहास की विरासत लेकर नहीं चलता है। यहाँ भविष्य के स्वप्न द्रष्टा निवास करते हैं। यह शहर भविष्य गढ़ने में मशगूल है। यहाँ के अतीत में 1938 के स्टैनफोर्ड ग्रेजुएट ह्यूलेट पैकार्ड की कहानी- आइरन के डूबने से उत्पन्न रेडियो आविष्कारों का इतिहास है। लेविस टरमन यहाँ मनोविज्ञान का प्रोफेसर था जिन्होंने बुद्धि मापन के क्षेत्र में जीनियस को मापने का परीक्षण किया था।

के जेम्स वाट जब भाप के इंजन का आविष्कार कर रहे थे तब उन्हें भी नहीं पता था कि वे औद्योगिक क्रांति की आधारशिला रख रहे हैं।

अनेक विद्वानों ने बताया कि स्वायत्त सर्जना की आवश्यक शर्त है। सभी प्रतिभाएँ अंधकार के पक्ष में होती हैं। अक्सर वे अपनी प्रतिभा के क्षेत्र से अपरिचित होते हैं। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री डेविड ह्यूम को खुद पता नहीं था कि वह कितने प्रतिभाशाली हैं। शायद एडिनबर्ग आविष्कारों की वह धरती है जिसने व्यावहारिक खोजों को नयी दिशा दी है। यंत्रों में निरंतर सुधार करने की जिद्द जैसे एडिनबर्ग संस्कृति की विशेषता थी। जमीन की जुताई के लिए हलो में सुधार जो 1760 के दशक में जेम्स स्माल ने किया उसको हम बेहद छोटा सुधार मान सकते हैं। इसको लेकर किसानों में सुधार का जो विमर्श प्रारंभ हुआ उसने सुधारों की संस्कृति को जन्म दिया। चिकित्सा के क्षेत्र में आविष्कारों में एडिनबर्ग को आधुनिक सिलिकॉन वैली बना दिया था। शल्य चिकित्सा में उपकरण आविष्कारों ने ऐडिनबर्ग को चिकित्सा क्षेत्र का तीर्थ बना दिया। स्कॉटलैंड के अभिभावक अपने बच्चों के डॉक्टर बनने का सपना पालने लगे। क्लोरोफॉर्म के अविष्कार से शल्य चिकित्सा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

स्कॉटिश गिरजाघरों ने साक्षरता अभियान चलाया। इसके परिणामस्वरूप यह गरीब देश यूरोप का सबसे शिक्षित देश बन गया। इस शिक्षा ने उसको ना सिर्फ बाइबल पढ़ने पर मजबूर किया बल्कि मिल्टन और दाँते को पढ़ने के लिए प्रेरित किया।

इसका परिणाम हुआ कि स्कॉटिश लोगों को किताबों से प्रेम हो गया। छपाई के प्रेस के आविष्कार के साथ पढ़ना एक सामाजिक शौक बन गया। इसके कारण डेविड ह्यूम के छह खंडों के इंग्लैंड के इतिहास को पढ़ा। उस काल में यह दार्शनिक पुस्तक उस समय की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों में से एक थी।

वास्तव में स्कॉटलैंड के नवजागरण का अंत नहीं हुआ बल्कि पुर्नस्थापन हो गया। स्कॉटलैंड के विचार दुनिया के कोने-कोने में फैल गये। स्कॉटलैंड के ये विचार सबसे ज्यादा भारत के शहर कलकत्ता में फलित हुए।

पाँचवाँ अध्याय जीनियस इज़ केयोटिकः कलकत्ता शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। कलकत्ता के चरित्र के बारे में कहा जाता है कि अगर संयोगों के घटित होने की संभावना कहीं सर्वाधिक है तो वह है कलकत्ता। भारत का एक ऐसा क्षेत्र जिस पर अनेक लेखकों ने अपनी कलम चलायी है। इस शहर का वर्णन करते हुए लेखक संयोग के सहोदर बिखराव और विखंडन के बारे में विचार करता है। इसमें चांस की भूमिका देखनी आवश्यक है। चांस शब्द अंग्रेजी के केडियर शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है गिरना। शायद न्यूटन ने गिरते सेब को देख

चांस का अनुभव किया और गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की स्थापना हो गयी। एक प्रतिभा भी शायद ऐसी ही होती है जो इस सत्य को स्थानों की व्यवस्था में पकड़ लेती है। आधुनिक मनोविज्ञान के विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया। जब महान व्यक्तियों से यह पूछा कि आपकी महानता कैसे समझें, तो ज्यादातर का उत्तर था कि वे शायद भाग्यशाली हैं। ध्यान रहे कि इन महान लोगों में अनेक नोबेल पुरस्कार विजेता भी थे।

सही समय में सही जगह पर होना यह कहावत शायद एक प्रकार का सार्वभौमिक मिथक है। अवसरों का दोहन इस शहर की प्रतिभा को परिभाषित करने वाला आधार तत्त्व है। सत्यजीत रे ने इसको अपना प्यारा घर बनाया। कलकत्ता जो संघर्ष का शहर है, इसके भी गरिमा के क्षण रहे हैं। कलकत्ता को 1840 से 1920 के दौरान पूरी दुनिया की बौद्धिक राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस दौरान कला, साहित्य, विज्ञान और धर्म में अनेक सर्जनाओं के शिखर गढ़े गये। एशिया महाद्वीप का पहला नोबेल पुरस्कार विजेता, एकेडमी अवॉर्ड विजेता होने के साथ, उस काल में सर्वाधिक पुस्तकों के प्रकाशन का श्रेय भी कलकत्ता के भूगोल को प्राप्त हुआ।

इसी काल में विमर्श की नयी परिपाटी शुरू की गयी इस को 'भद्रा' शब्द से विभूषित किया गया। इस बौद्धिक स्वर्ण काल में बंकिम चंद्र चटर्जी, दिन में क्लर्क और रात में लेखक ने पुरानी संस्कृति में नयी जान डाली। यंग बंगाल के आंदोलन के प्रणेता हेनरी डेरोजियो ने उस समय उच्चतम स्तर की कविताएँ रचीं। 1839 में स्वामी विवेकानंद ने शिकागो की यात्रा की और अमेरिकी लोगों को आध्यात्मिक परंपरा के नये अध्ययन से परिचित कराया। जगदीश चंद्र बोस- भौतिक

वियना अनेक संस्कृतियों का समागम का केंद्र था पर संवाद की भाषा जर्मन थी। भाषा विचार को आकार भी देती है। फ्रायड का भी शहर था वियना। यहाँ की संस्कृति में एक समंजन की प्रक्रिया थी। यहाँ आल्प्स की पहाड़ियों के साये थे। एक बड़ी संख्या के प्रतिभा संपन्न लोग जिसमें विक्टर ह्यूगो, चोपिन ज्यादातर प्रवासी प्रतिभाएँ थे। उसकी समस्याएँ ही उनकी ऊर्जा के स्रोत रहे। फ्रायड सैनिक बनना चाहते थे परंतु यहूदियों के लिए यह विकल्प नहीं था। बाद में वकालत के पेशे में आना चाहते थे और कई मोड़ों के बाद शोध वैज्ञानिक बनने की ठानी। प्रारंभ में फ्रॉयड के अचेतन के सिद्धांत की खिल्ली उड़ायी गयी। फ्रायड एकांत प्रिय थे- उनकी बौद्धिकता और एकांतप्रियता एक-दूसरे का जरूरी पोषण करते रहे।

शास्त्री ने रेडियो टेक्नोलॉजी के साथ जीव और निर्जीव की सीमा रेखाओं को नये सिरे से परिभाषित करने का काम किया। इस काल में कलकत्ता की अनेक महिलाओं ने जिसमें रास सुंदरी देवी का उल्लेख किया गया है जो अपनी उम्र के बीसवें दशक तक अनपढ़ थीं, उन्होंने पढ़ाई करके बंगाली भाषा में अपनी आत्मकथा लिख कर अनेक महिलाओं को अभिप्रेरित किया।

बंगाल जागरण जो महान विभीषिका से उपजा था यह विभीषिका अंग्रेजी शासन के अत्याचारों की देन थी। स्कॉटलैंड का भी जागरण अंग्रेजों के आक्रमण के बाद ही हुआ। शायद ब्रिटिश ने अपने प्रभाव से भारतीय चिंतन को नयी ऊर्जा प्रदान कर दी थी। अंग्रेजों से पहले भी बहुत से विदेशियों ने भारत को बदलने का प्रयास किया जिसमें मुगल और बौद्ध प्रमुख थे। लेकिन इन प्रभावों को नव भारत ने तिरस्कृत किया ना ही इसको पूरी तरह स्वीकार किया बल्कि उनका भारतीयकरण या भारतीय देशज संस्करण कर दिया। बुद्ध को दसवाँ अवतार घोषित करना इसका उदाहरण है। कलकत्ता एक बदसूरत शहर है जो प्रेम जगाता है। जैसे सतह पर कुछ चिपकता नहीं है, इसलिए शायद सृजनात्मकता के लिए कुछ रूखापन भी आवश्यक है।

जैसे जागरण के लिए जागरण पुरुष होते हैं। फ्लॉरेंस के पास विन्सी था, एडिनबर्ग के पास डेविड ह्यूम थे वैसे ही कलकत्ता के जागरण पुरुष थे श्री रविंद्रनाथ टैगोर। एक कवि, निबंधकार, नाटककार, चित्रकार और नोबेल पुरस्कार से सम्मानित। आज शायद टैगोर पढ़े कम जाते हैं, ज्यादा पूजे जाते हैं। उनके चित्र लंबी श्वेत दाढी, गहरी आँखों वाली कलकत्ता में हर जगह देखी जा सकता है। आज जब कलकत्ते की उपलब्धियों को भूतकाल के शैली में बताया जाता है फिर भी कुछ चिंगारी दीप्त रहती है, राख के देर में, वैसे ही कलकत्ता का भूगोल है। अब अतीत की स्मृतियाँ ही उस को जीवित रखे हैं। शायद सभी महान जगहों की यही नियति होती है।

आठवें अध्याय का शीर्षक है ''जीनियस अनइंटेंशनल-वियना पिच परफेक्ट'' फ्रॉयड एवं मोजार्ट वियना प्रतिभा के दो सशक्त हस्ताक्षर रहे हैं। दोनों में एक सदी का फासला है पर दोनों अपने अनुकूलित शहर के द्वारा कैसे निर्मित हुए इसका पता उनको भी नहीं था। मूलतः वियना शहर के दो स्वर्णिम काल रहे हैं। 18 वीं सदी में संगीत के अनेक जुगनू चमके जिन्होंने न सिर्फ लोकप्रिय संगीत दिया बल्कि नवाचारी बंदिशों से भी पूर्ण थे। संगीत सिर्फ अभिजात्य के लिए नहीं था और मात्र मनोरंजन का साधन भी नहीं था। वियना की सड़कें और गलियाँ कच्ची और धूल भरी थीं, मॉडल स्टूडियों में नहीं

अभ्यास करते थे बल्कि अपने घर में ही अपनी रचनाएँ करते थे। मोजार्ट मौलिकता और धन के जुड़ाव को भी स्वीकार करते हैं- कमाने से ज्यादा खर्च करते थे। बीथोवेन के साथ मोजार्ट का अंतर 15 वर्षों का माना गया है। दोनों का जन्म कुछ सौ मील की दूरी पर हुआ था। दोनों की रुचिकर मुलाकातों का जिक्र है। बीथोवेन वियना से जुड़े रहे। ऐसी प्रतिभाएँ मोजार्ट, बीथोवेन, टेकीकोंवस्की, एनुमान एवं ब्राह्म उनके बीच संवादों की कहानियाँ अंकित है।

इसी कड़ी का सातवाँ अध्याय भी वियना के दूसरे स्वर्णिम काल से जुड़ा हुआ है। ''जीनियस इज कंटेजियसः वियना ऑन द काऊच'' के शीर्षक से प्रस्तुत किया है। एक सदी के बाद 1900 के प्रारंभ में वियना शहर का विस्तार हो चुका था। इस बीच हैजा की बीमारी और आर्थिक संकट ने वियना का स्वरूप बदल दिया था। विद्वानों, दार्शनिकों, विचारकों में विटगेन्सटाइन, गुश्ताव क्लीमंट, आर्थर विनिटलर, नविंग, मारव और सनीतंश गुश्ताव माहलर जिन्होंने आधुनिक चिंतन परंपरा को प्रभावित किया है। वियना के कॉफी हाउस और कैथेड्रल जो सेक्यूलर स्थान थे जहाँ की बौद्धिकताओं को पुष्पित पल्लवित करने के केंद्र बने। हालांकि कॉफी हाउस की खोज इस्तानबूल में 1554 में की गयी थी। बाद में यात्री इसको लेकर इंग्लैंड आये और ऑक्सफोर्ड में पहला काफी हाउस खुला। यहाँ कोई भी आ सकता था।

वियना अनेक संस्कृतियों का समागम का केंद्र था पर संवाद की भाषा जर्मन थी। भाषा विचार को आकार भी देती है। फ्रॉयड का भी शहर था वियना। यहाँ की संस्कृति में एक समंजन की प्रक्रिया थी। यहाँ आल्प्स की पहाड़ियों के साये थे। एक बड़ी संख्या में प्रतिभा संपन्न लोग जिसमें विक्टर ह्यूगो, चोपिन ज्यादातर प्रवासी प्रतिभाएँ थीं। उसकी समस्याएँ ही उनकी ऊर्जा के स्रोत रहे। फ्रॉयड सैनिक बनना चाहते थे परंतु यहूदियों के लिए यह विकल्प नहीं था। बाद में वकालत के पेशे में आना चाहते थे और कई मोड़ों के बाद शोध वैज्ञानिक बनने की ठानी। प्रारंभ में फ्रॉयड के अचेतन के सिद्धांत की खिल्ली उड़ायी गयी। फ्रॉयड एकांत प्रिय थे- उनकी बौद्विकता और एकांतप्रियता एक-दूसरे का जरूरी पोषण करते रहे।

ट्रांजिस्टर की खोज न्यूजर्सी, डब्ल्यू वेक की खोज स्विटजरलैण्ड में हूई, वेंचर कैपिटल न्यूयॉर्क में, पर सब कुछ की खेती हुई सिलीकान वैली के भूगोल में। हालाँकि महान सभ्यताओं के उत्थान अलग-अलग कारणों से हुए पर पतन के कारणों की अद्भूत समानताएँ हैं। उसके फार्मूले को अनेक देशों ने अपनाने की कोशिश की परंतु अभी सफलता की प्रतीक्षा है। सिलिकॉन वैली पहले से ही एशिया महाद्वीप की ओर देख रहा है। इसके अनेक उत्पाद वही बन रहे हैं और बेचे जा रहे हैं।

यहाँ पर एशियन रेस्टोरेंट, मेडिटेशन सेंटर सब स्टूडियो की दुकानें मिल जाएँगी। उत्थान पतन का चक्र हर सभ्यता पर लागू होता है। इंटरनेट ने दुनिया का भूगोल बदल दिया है। आप कहीं भी जा सकते हैं और कहीं भी काम कर सकते हैं। यह भूगोल विहीन कर्मी जहाँ गूगल के दफ्तर में आमने-सामने बैठकें करते हैं। भूगोल मरा नहीं है बल्कि स्थान महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

वियना के सांस्कृतिक वैविध्य, विचारों की बहुलता में एक निरंतर संश्लेषण चलता रहता है। लोग आसानी से कहीं भी आ जा सकते थे। गुस्ताव मेंहलर फ्रॉयड से महत्त्वपूर्ण सुझाव लेते थे। फ्रॉयड और आइन्सटीन की मुलाकातें भी हुयी। दोनों खुद को बहिष्कृत मानते थे। एकांतिक यात्री-अनिकेत, बिना किसी देश के अपनी प्रतिभा के प्रस्फुटन में सभ्यताओं को अनुप्राणित करते रहें। फ्रॉयड बुधवार को लोगों के साथ गोष्ठियों में व्यस्त रहते थे। उनके मौन सिद्धांतों की तीव्र आलोचना होती थी। हर एक को सामाजिक समर्थन की आवश्यकता होती थी, वियना अपनी प्रतिभाओं को संभालता रहा। जैसे सभी स्वर्णिम काल का पराभव होता है, वियना का काल भी धड़ाम से गिरा। जैसे ही 1914 में सेकेवियन हत्यारे ने आर्कड्यूक फ्रेज की हत्या कर दी। वियना की सांस्कृतिक धूप की चमक ढलने लगी। अब धीरे-धीरे धूप की चमक अमेरिका के भूगोल की ओर अग्रसर हो गयी। वियना सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अपनी प्रतिभाओं के बिखराव को नहीं संभाल सकी।

इस पुस्तक का आठवाँ अध्याय ''जीनियस इज वीक सिलिकॉन वैली'' पर आधारित है। आज की सर्वाधिक सशक्त भूगोल सिलिकॉन वैली-सेन फ्रांसिस्को की संस्कृति में समा गयी। यह अध्याय इस प्रश्न से प्रारंभ होता है कि बेंजामिन फ्रैंकलिन, अल्बर्ट आइंस्टीन और स्टीव जॉब में क्या समानताएँ थीं? क्या स्टीव जॉब जीनियस था? उसने दुनिया बदल दी, वह जीनियस था। कुछ का उत्तर है कि उसने किसी चीज का आविष्कार नहीं किया बल्कि दूसरे के आविष्कारों की चोरी की- शायद वह मार्केटिंग का या डिजाइन का जीनियस था। सवाल यह है कि क्या सिलिकॉन वैली इस सम्मान की हकदार है जो एथेंस, मेंकझाऊ या एडिनबर्ग को मिला? इसके अनेक उत्तर हैं पर इस बात से इनकार करना मुश्किल है कि इसके उत्पादों का प्रभाव आज पूरी दुनिया महसूस कर रही है। साधन बदलकर साध्य बदला जा सकता

है।

''जो देश में सम्मानित है वही उगता है''। यहाँ कैल्फिोर्निया की चटक धूप है। इसके तीन ओर विश्वविज्ञान के तीन महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय, कैल्फिोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी और कैल्फ़िोर्निया विश्वविद्यालय विश्व से प्रतिभाओं का चयन करते हैं और उनको सिलिकॉन वैली में पोषित होते हैं। यहाँ का भूगोल अपने सीने पर इतिहास की विरासत लेकर नहीं चलता है। यहाँ भविष्य के स्वप्न द्रष्टा निवास करते हैं। यह शहर भविष्य गढ़ने में मशगूल है। यहाँ के अतीत में 1938 के स्टैनफोर्ड ग्रेजुएट ह्यूलेट पैकार्ड की कहानी- आइरन के डूबने से उत्पन्न रेडियो आविष्कारों का इतिहास है। लेविस टरमन यहाँ मनोविज्ञान के प्रोफेसर थे जिन्होंने बुद्धि मापन के क्षेत्र में जीनियस को मापने का परीक्षण बनाया था।

1927 में टरमन ने एक ऐतिहासिक अध्ययन की शुरुआत की। इसे ''टर्माकट'' अध्ययन भी कहते हैं। एक ऐसी जगह बनी सिलिकॉन वैली जहाँ नये विचारों के साथ प्रयोग की संस्कृति निर्मित हुई। कोई प्रयोग करो अगर असफल हो जाओ तो भूल जाओ। टरमन ने विश्वविद्यालय की दीवारों को खोला सबके लिए। इसमें स्टैनफोई इंडस्ट्रियल पार्क की स्थापना की। वैली की स्थापना में इनका योगदान अविस्मरणीय है। सभी सफल व्यक्ति और जगहें दो स्तर पर एक साथ काम करती हैं। एक उनकी सफलता के मिथक बनाये जाते हैं दूसरे, उनके वास्तविक कारण होते हैं। प्रथम प्रारंभ करने का लाभ सिलिकॉन वैली के भूगोल को प्राप्त हुआ। ऐसे समूहों को वैली चुंबक की तरह आकर्षित करती है। रचनात्मकता संक्रामक होती है- अगर हम सर्जना के माहौल में घिरे हैं तब रचनात्मकता बढ़ती है। यह लोग जोखिम उठाते हैं। जैसे भारत में हर चीज का भारतीयकरण कर देते हैं, वैसे ही सिलिकॉन वैली में संस्थाएँ हैं जो किसी नये विचार को अपनी प्रतिक्रियाओं को अंजाम देने में गति देती हैं। यहाँ का भूगोल नवांगतुकों, नवाचारों, नयी धाराओं के स्वागत के लिए सदैव तैयार रहता है। इसके सांस्कृतिक बनावट में कमजोर क्रिएटिव को अक्सर अनुप्राणित होते देखा गया है। फेसबुक क्या है- कमजोर संबंधों का सुपर मार्केट। यहाँ व्यावहारिकताएँ ही हर जगह समायी हुई हैं। कुछ का मानना है कि सिलिकॉन वैली का भूगोल भाग्य को जन्म देता है। सूरज के प्रकाश की भरपूर उपलब्धता, सागर के तट का सानिध्य और सम्पूर्ण विश्व के अनेक देशों के नागरिकों ने इसका भूगोल सार्वभौमिक कर दिया है। जीनियस को असाधारण जगह नहीं चाहिए बल्कि वह साधारण में अतिरिक्त देखने की क्षमता रखता है। यहाँ सब कुछ परिवर्तनशील है, सब कुछ तरल की तरह प्रवाहमान है- आशावादिता को संवर्द्धित करने का भूगोल है। यहाँ का ग्राहक सम्पूर्ण धरा के लोग हैं। इंटरनेट की क्षमता से कौन परिचित नहीं है जिसने भूगोल का मतलब बदल दिया है। यह आविष्कारों के बीज को एकत्र करने की जगह है- यहाँ जो जगह-जगह से उपजे आविष्कारों को अपने जमीन की उर्वरा शक्ति से उत्पादित कर देती है।

ट्रांजिस्टर की खोज न्यूजर्सी, डब्ल्यू वेक की खोज स्विटजरलैंड में हुई, वेंचर कैपिटल न्यूयॉर्क में, पर सब कुछ की खेती हुयी सिलिकॉन वैली के भूगोल में। हालाँकि महान सभ्यताओं के उत्थान अलग-अलग कारणों से हुए पर पतन के कारणों की अद्‌भूत समानताएँ हैं। उसके फार्मूले को अनेक देशों ने अपनाने की कोशिश की परंतु अभी सफलता की प्रतीक्षा है। सिलिकॉन वैली पहले से ही एशिया महाद्वीप की ओर देख रही है। इसके अनेक उत्पाद वहीं बन रहे हैं और बेचे जा रहे हैं।

यहाँ पर एशियन रेस्टोरेंट, मेंडिटेशन सेंटर, सभी प्रकार के स्टूडियो की दुकानें मिल जाएंगी। उत्थान पतन का चक्र हर सभ्यता पर लागू होता है। इंटरनेट ने दुनिया का भूगोल बदल दिया है। आप कहीं भी जा सकते हैं और कहीं भी काम कर सकते हैं। यह भूगोल विहीन कर्मी जहाँ गूगल के दफ्तर में आमने-सामने बैठकें करते हैं। भूगोल मरा नहीं है बल्कि स्थान महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

अंत में अपने उपसंहार के अध्याय में लेखक ने सेनफ्रांसिस्को का उदाहरण देकर भूगोल के महत्त्व को स्थापित किया है। स्वर्णिम काल एक अरेखीय प्रणाली है। इससे किसी एक कारक के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालना मुश्किल है। यह अंतर संबंधित प्रणाली है। अगर इन शहरों के अध्ययन के आधार पर धन, सहनशीलता, खुली दीवारें आदि को भी मान लिया जाए तो यह कहना मुश्किल है कि यह कब और कहाँ घटित होगा।

क्यों कोई कुछ जगहों सामुदायिक चुनौतियों को सकारात्मक अनुक्रियाएँ दे- और अपनी सर्जनात्मक क्षमताओं को संगठित करके प्रस्फुटित कर दे- कहना कठिन है। सर्जनाएँ कभी-कभी लहरों की सवारी भी करती हैं एवं रचनात्मक परोपकार की तरह घर से ही प्रारंभ होती हैं। शायद इसके लिए नये अनुभवों को ग्रहण करने का खुलापन, थोड़ा प्रोत्साहन, थोड़ी असफलताएँ, थोड़ा जोखिम, थोड़ी बेवकूफी और थोड़ा उत्साह आवश्यक है। ❖❖

महात्मा का वैचारिक पर्यावरण

डॉ. नमिता निंबालकर

संपर्क :
डॉ. नमिता निंबालकर
दर्शन शास्त्र विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई

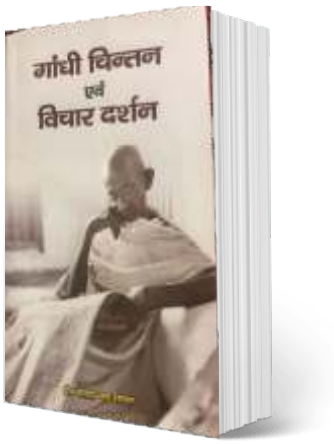

पुस्तक : गाँधी चिंतन एवं विचार दर्शन
लेखक : प्रो. सतीश चंद्र मित्तल
प्रकाशक : अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना, नयी दिल्ली
मूल्य : 200 रु.

'गांधी चिंतन एवं विचार दर्शन' सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो सतीश चंद्र मित्तल द्वारा लिखी वह पुस्तक है, जिसमें गांधीजी के सत्य और अहिंसा के विचारों के धार्मिक, सामाजिक-आर्थिक धर्ममय राजनीति सहित अन्य विषयों का भाष्य किया गया है। समकालीन भारत के महानतम नायक के रूप में गांधीजी का नाम लिया जाता है। भारत को जितना गांधीजी ने समझा, उतना अभी तक किसी ने नहीं समझा। गांधीजी ने भारत के भविष्य के लिए रामराज्य की अवधारणा क्या है, यह बताया तथा एक स्वप्न दिखाया, उतना और किसी ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास को लेकर नहीं सोचा है। यह पुस्तक उन बिंदुओं को उकेरती है जहाँ से यह स्पष्ट होता है कि गांधीजी अपने आप को किसी दायरे में समेट कर नहीं रख रहे थे। वह अपने आप को समस्त भारतीयों का प्रतिनिधि मानते थे।

87 पृष्ठों की इस पुस्तक में गांधी के मन और देश में चल रही हलचलों का बयान दिखता है। लेखक ने भारत - ब्रिटिश, हिंदू - मुस्लिम, गांधी और कांग्रेस, गांधी और मार्क्सवाद के बीच के अंतर्द्वंद को बखूबी बयाँ किया है। गांधीजी ने धर्म को भारत का प्राण कहा है। उनका चिंतन 'बहुजन हिताय' तक सीमित नहीं है जबकि भारतीय हिंदू चिंतन में 'सर्वजन हिताय' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की मान्यता है, जिसे गांधी ने आत्मबल का मूल सिद्धांत मानते हुए उसके साथ कभी भी समझौता नहीं किया।

गांधीजी के समाजवाद के चिंतन पर भाष्य करते हुए लेखक मानते हैं कि गांधीजी का समाजवाद एक व्यापक नैतिक तथा समन्वयात्मक अर्थ रखता है जिसकी जड़ें भारत के अतीत में हैं। मार्क्सवाद के प्रति गांधीजी को तनिक भी आकर्षण नहीं था यद्यपि वह इस बात से इंकार नहीं करते कि मार्क्सवाद शोषितों, गरीबों के लिए कुछ करने के बारे में एक सोच थी। यह गौर करने वाली बात है कि जो मार्क्सवाद गांधीवादी विचारों को अपने लिए सबसे बड़ी बाधा मानता था, आज उसका नामोनिशान नहीं रहा, और वर्तमान में कोरोना महामारी काल में गांधी विचारों की प्रासंगिकता एवं महत्त्व और भी बढ़ गया है।

गांधीजी के धार्मिक विचारों का अवलोकन कर लेखक हिंदू धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए निर्देशित करते हैं कि किस तरह गांधीजी धर्म पर आधारित समाज रचना को महत्त्व देते हैं। मुझे गांधीजी कि उक्तियाँ याद आती हैं, जो कि बहुत ही प्रासंगिक हैं, "मुझे धर्म प्यारा है, इसलिए मुझे पहला दुःख तो यह है कि हिंदुस्तान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है। धर्म का अर्थ मैं हिंदू, मुस्लिम या जरथोस्ती धर्म नहीं करता। लेकिन इन सब धर्मों के अंदर जो धर्म है, वह हिंदुस्तान से जा रहा है, हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं।"

प्रो. मित्तल जी अपनी पुस्तक के द्वारा इस

बात को रेखांकित करते हैं कि देश की नयी पीढ़ी गांधी साहित्य का गंभीर अध्ययन करें तथा उन्होंने गांधी जी के चिंतन को जनमानस तक पहुँचाया। लेखक अपने लेखों द्वारा गांधीजी के उन विचारों से हमे अवगत कराते हैं जिसके बारे में हम अनभिज्ञ थे। यह शायद पहली पुस्तक है जहाँ गांधीजी को ऐतिहासिक दृष्टि से स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया गया है। लेखक मूलतः 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से गांधीजी की प्रासंगिता को उजागर करते हैं, गांधी के अनुकूल वे प्रतिपादित करते हैं कि किस तरह से सिर्फ अंग्रेजों के देश से चले जाने से भारत को सही स्वराज्य नहीं मिल सकता, वे साफ कहते हैं कि हमें पश्चिमी सभ्यता के मोह से बचना होगा।

मूलतः पुस्तक गांधीजी के चिंतन को आम पाठकों तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास है। अतः प्रो मित्तल विस्तार में न जाते हुए भी अपने प्रयोजन को सार्थक करते हैं। शायद वे इस पुस्तक के माध्यम से भावी इतिहासकारों का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं कि विस्तार में गांधी को समझने और समझाने का क्या आधार हो सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पुस्तक को एक गंभीर विषय वस्तु को श्रेष्ठ रीति से प्रतिपादित करने वाली शृंखला में रख कर देखा जाना चाहिए। ❖❖

प्रो. मित्तल जी अपनी पुस्तक के द्वारा इस बात को रेखांकित करते हैं कि देश की नयी पीढ़ी गांधी साहित्य का गंभीर अध्ययन करें तथा गांधी जी के चिंतन को जनमानस तक पहुँचाएँ। लेखक अपने लेखों द्वारा गांधीजी के उन विचारों से हमे अवगत कराते हैं जिसके बारे में हम अनभिज्ञ थे। यह शायद पहली पुस्तक है जहाँ गांधीजी को ऐतिहासिक दृष्टि से स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया गया है। लेखक मूलतः 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से गांधीजी की प्रासंगिता को उजागर करते हैं, गांधी के अनुकूल वे प्रतिपादित करते हैं कि किस तरह से सिर्फ अंग्रेजों के देश से चले जाने से भारत को सही स्वराज्य नहीं मिल सकता, वे साफ कहते हैं कि हमें पश्चिमी सभ्यता के मोह से बचना होगा।

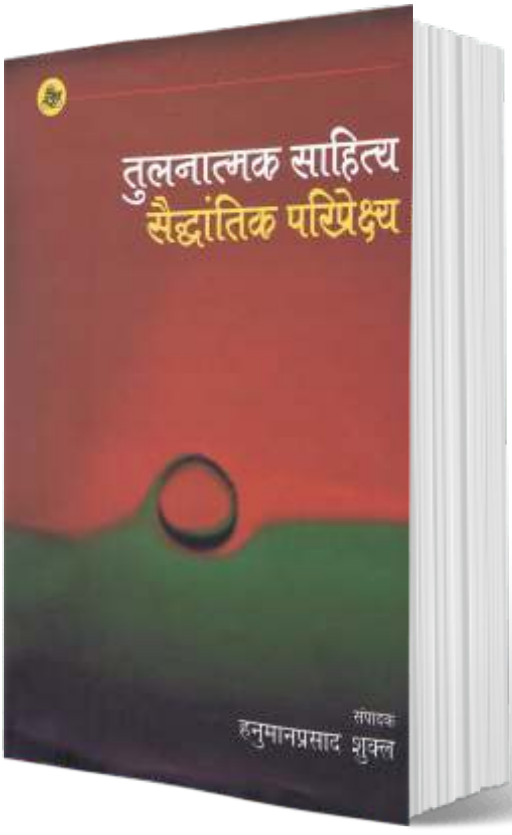

मार्क्सवाद के ध्वंसावशेषों में विचरण

विनोद अनुपम

संपर्क :
बी 53, सचिवालय कालोनी कंकडबाग
पटना - 20

पुस्तक : मार्क्सवाद का अर्धसत्य
लेखक : अनंत विजय
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : प्रथम सं. 2017
मूल्य : 695 रु.

यह भी अद्भुत है कि जो पार्टी निजी संपत्ति के विरोध के आधार पर ही खड़ी हुई थी, देश में शायद सबसे पहले अचल संपत्ति अरजने की शुरुआत उसी पार्टी ने की। शायद ही कोई शहर, कोई जिला मुख्यालय ऐसा हो जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का अपनी जमीन पर अपना सुसज्जित मकान नहीं हो। पटना जैसे शहर में अनेकों बेशकीमती प्रापर्टी की मालिक है कम्युनिस्ट पार्टी।

यह तो एक उदाहरण है। विचार और व्यवहार में विचलन कम्युनिस्ट पार्टियों में शुरु से रहा है, चाहे वह सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी हो, या चीन की कम्युनिस्ट पार्टी। जो पार्टी में जितने उँचे ओहदे पर, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण। तत्कालीन कम्युनिस्ट देशों में यह साफ-साफ दिखता था, जिसकी चर्चा मार्क्सवादी रहे हार्वर्ड फास्ट, सोल्झेनित्सिन और भारत में निर्मल वर्मा जैसे लेखक समय-समय पर करते रहे थे। सोवियत संघ के बारे में कहा जाता था, वहाँ पार्टी पदाधिकारियों के लिए सारी सर्वोत्तम यूरोपीय सुविधाएँ उपलब्ध थीं, जबकि आम जनता को घटिया सा टूथ ब्रश और ब्रेड के लिए लाइनों में लगना पडता था। साम्यवाद मात्र आम जन के लिए था, विदेशी सामानों की दुकानें सिर्फ पार्टी पदाधिकारियों के लिए थीं। पार्टी पदाधिकारी और नेता सोवियत संघ ही नहीं दुनिया के हरेक समाजवादी देशों में संपत्ति जमा करने में लगे रहे।

'मार्क्सवाद का अर्धसत्य' में भी अनंत विजय एक समय में मार्क्सवाद के सिरमौर रहे फिदेल कास्त्रो की विलासिता, उनकी संपत्ति और उनके अफीम कारोबार को रेखाँकित करते हैं। यह एक फिदेल नहीं, हरेक तथाकथित समाजवादी देशों में मार्क्सवादी तानाशाहों की विलासिता की कहानियाँ आज भी पढ़ी-सुनी जा रही है। अपने ही देश में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हमेशा इस बात पर यकीन करते रहे कि भगत सिंह पड़ोसी के घर से होगा। यहाँ के अधिकांश कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने बच्चों को पार्टी में लाने के बजाय उन्हें साम्यवादी देशों में मेडिकल, मैनेजमेंट या इंजीनियरिग की पढाई के लिए भेजा और इस सुविधा का लाभ उठाया।

यह भूमिका सिर्फ इसलिए कि कहीं न कहीं अपने ही कहे और किये पर अविश्वास एक बड़ा कारण रहा होगा कि मार्क्सवाद के विचारों पर आधारित कम्युनिस्ट पार्टियाँ हाशिए पर चली गयीं। कह सकते हैं कि वास्तव में भारत में कम्युनिस्ट पार्टियों ने हमेशा से ही अपनी स्वीकार्यता का एक भ्रम बनाये रखा। 1953 में प्रकाशित एक पुस्तक में कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महासचिव अजय घोष के एक लेख को उद्दृत करते हुए लिखा गया है कि इधर कुछ दिनों से हमने खूब सफलता पाई है, तब भी मजदूरों और किसानों में हमारा प्रभाव अभी तक न कुछ सा ही समझना चाहिए। इस स्वीकारोक्ति के क्या मायने हो सकते हैं। आश्चर्य

नहीं कि जब किसानों, मजदूरों पर प्रभाव पड़ा ही नहीं, तो फिर सफलता क्या मिली?

वास्तव में कम्युनिस्ट पार्टी का दबदबा एक भ्रम रहा है, जिसे तथाकथित स्वार्थी बुद्धिजीवियों द्वारा निजी लाभ-लोभ के लिए फैलाया गया है, इसके लिए प्रगतिशील लेखक संघ, इप्टा, भारत सोवियत मैत्री संघ जैसे तिलस्म तैयार किये गये। फिर सवाल है कि कम्युनिस्ट पार्टियों पर या मार्क्सवाद पर हम इतनी चर्चा क्यों कर रहे। अनंत विजय को 'मार्क्सवाद का अर्धसत्य' जैसी किताब लिखने की जरूरत क्यों पड़ी। वास्तव में आज खतरा कम्युनिस्ट पार्टी से नहीं, हाल के वर्षों में कम्युनिस्ट और कट्टर इस्लाम का जो नया गठजोड़ तैयार हुआ है, खतरा उससे है।

यह भी अपने आपमें अद्भुत स्थिति है कि पूरी दुनिया में किसी भी इस्लामिक मुल्क में कम्युनिस्ट पार्टी का कोई अस्तित्व नहीं है। और चीन जैसे कम्युनिस्ट देश में इस्लाम को पनपने की इजाजत नहीं है। लेकिन भारत में कट्टर इस्लाम और कम्युनिस्ट दोनों के एजेंडे एक हैं। दोनों ही किसी न किसी रूप में देश की नीतियों-रीतियों के खिलाफ मुखर दिखते हैं।

चाहे शाहीन बाग हो या जे.एन.यू. या फिर कश्मीरी आतंकी, जहाँ भी अपनी पूरी कट्टरता के साथ इस्लाम है, कम्युनिस्ट पार्टियाँ उसके साथ खड़ी दिखती हैं। देश को अस्थिर करने वाले इस नये गठजोड को समझने के लिए अनंत विजय की 'मार्क्सवाद का अर्धसत्य' एक जरूरी किताब है। वास्तव में आजादी के आंदोलन से लेकर आजादी के बाद आज तक का इतिहास और वर्तमान गवाह रहा है कि मार्क्सवादियों को इस देश में कभी मजबूत सरकार रुच ही नहीं सकती, उन्हें अनिर्णय वाली सरकारें चाहिए ताकि उनका महत्त्व बना रहे। मार्क्सवाद के आवरण में चल रहे उनके एन जी ओ की कमाई पर सवाल न उठे। अस्थिरता की यही कोशिश नक्सली हिंसा में देखी जा सकती है। मार्क्सवाद के आवरण में खेत, लेवी और जंगल की संपत्ति पर अधिकार का है।

सवाल है यह 'अर्धसत्य' क्यों। इसमें जो भी तथ्य हैं, जो भी विवरण हैं, सब तो आज की तारीख में पूर्ण सत्य हैं। अर्ध सत्य शायद इसलिए कि इस खंड में मार्क्सवाद के व्यवहारिक पक्षों का विवेचन है। इसके सैद्धांतिक पक्ष को शायद किसी अगले खंड के लिए छोड़ दिया गया है। वास्तव में इस बात को कतई नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता कि एक सिद्धांत के रूप में भी मार्क्सवाद विवेचन की माँग करता है। मार्क्सवाद पर एक शोधकर्ता ने वाजिब सवाल उठाते हुए लिखा है, मार्क्सवाद में वर्णित समानता की बात ही प्राकृतिक नहीं है। प्रकृति की पहचान ही विविधता से है, सबों को एक तरह बनाने की बात संभव ही नहीं। मनुष्य है तो किसी में अधिक मेधा होगी, किसी में कम, कोई अधिक परिश्रमी होगा, कोई कम। किसी की ग्राह्य क्षमता अधिक होगी, किसी की कम। हम सबों को एक साथ कैसे देख सकते, कैसे एक साथ रख सकते हैं। सवाल तो मार्क्सवाद के मूल श्रम के सिद्धांत पर भी उठते हैं, किसी पुराने डाक-टिकट का मूल्य लाखों रुपये हो सकता है, जबकि उससे कहीं अधिक मेहनत में उपजाए कद्दू का मूल्य कुछ रुपये। श्रम से मूल्य निर्धारण नहीं हो सकता। विश्वास है अनंत विजय इन सवालों से टकराते हुए मार्क्सवाद के पूर्ण सत्य को भी विवेचित करने की कोशिश करेंगे।

'मार्क्सवाद का अर्धसत्य' से गुजरते हुए लेखक की दृष्टि विस्मित करती है। तस्लीमा नसरीन हों, अमिताभ बच्चन हों, जायरा वसीम हों, फिदेल कास्त्रो हों, श्याम बेनगल हो, अशोक वाजपेयी हो, पुरस्कार वापसी हो, साहित्य अकादमी हो, इतिहास लेखन हो, नक्सलवाद हो, एमनेस्टी इटरनेशनल हो। अनंत की नजर वामपंथियों के खेल की परतें एक-एक कर खोल देती है। अनंत विजय खूब पढ़ने वाले विलक्षण लेखकों में शामिल हैं, जिसकी चर्चा राजेन्द्र यादव ने भी एक बार हंस के अपने संपादकीय में की थी। अनंत की यह विशेषता इस किताब में दिखती है, जहाँ संदर्भ के रूप में सैकडों उद्धरण प्रस्तुत कर अपने तर्क को अकाट्य बनाते हैं। एक फिदेल कास्त्रो पर अपनी राय रखते हुए वे कास्त्रोज सीक्रेट, द सी आई ए एंड क्यूबाज इंटलीजेंस मशीन, 'हवानी ड्रीम्स' और 'द डबल लाइफ आफ फिदेल कास्त्रो' तीन किताबों का संदर्भ देते हैं।

पुस्तक में भूमिका के अतिरिक्त बुद्धिजीवी, वामपंथ और इस्लाम, साहित्यिक जलसा, विवाद और बौद्धिकों की बेचैनी, जब रचनाएँ भी मजहबी हो गयीं, विचारधारा की लड़ाई या यथार्थ की अनदेखी, विचारधारा की जकड़न में आलोचना, साहित्यिक बाजार, मेला और लेखकीय छद्म, प्रगतिशीलता की ओट में राजनीतिक आखेट, बौद्धिक छलात्कार के मुजरिम, जब छीज रहा था वामपंथ जैसे नौ शीर्षकों और कुछ उप शीर्षकों में सामग्रियाँ संयोजित हैं। इन आलेखों में शीर्षक के अनुरूप समकालीन दौर में मार्क्सवाद के नाम पर चल रहे खेल को समझने की साफ-साफ कोशिश की गयी है। अनंत पूरा जोर देकर लिखते हैं, भारत की बर्बादी के नारों के समर्थन में किसी तरह की बात करने वालों को भी देश द्रोहियों की श्रेणी में रखना ही होगा। वो लाख चीखें लेकिन उनके नापाक मंसूबों को बेनकाब करने का वक्त आ गया है।

बुद्धिजीवी, वामपंथ और इस्लाम में अनंत अभिव्यक्ति के सवाल पर से परदा उठाते हुए लिखते हैं, तसलीमा नसरीन की अभिव्यक्ति की आजादी का अधिकार किसी प्रगतिशील लेखक को याद नहीं आया। इस खंड में अनंत वामपंथी बुद्धीजीवियों के इस्लाम के सामने समर्पण को खासतौर पर रेखाँकित करते हैं। वे लिखते हैं, इस्लाम में कट्टरपंथियों का बोलबाला बढते जाने की बड़ी वजह यही है कि उस पर सही प्रतिक्रिया नहीं आती।

'साहित्यिक जलसा, विवाद और बौद्धिकों की बेचैनी' में अनंत विजय जयपुर लिट फेस्ट, रायपुर लिट फेस्ट से लेकर ज्ञानपीठ और हाल के दिनों में तमाम साहित्यिक विवादों का बारीकी से विश्लेषण करते हैं। इन आयोजनों की कई अंतर्कथाएँ रेखाँकित करते हैं। इस तरह के साहित्यिक विमर्श के सहारे वामपंथी लेखक किस तरह अपने राजनीतिक हित साधने की कोशिश में लगे रहते हैं, अनंत विस्तार से कई संदर्भों के साथ परत उतारते हैं। 'जब रचनाएँ भी मजहबी हो गयीं' अनंत उस प्रवृति की आलोचना करते हैं, जब रचना का धर्म उसके रचनाकार के धर्म से निर्धारित किया जाने लगा है। अनंत विजय बांग्ला देश का उद्धरण देते हैं, कि कट्टरपंथियों के विरोध पर बांग्लादेश में गुरुदेव रवींद्र नाथ टैगोर और शरतचंद्र की रचनाओं को कोर्स से इस्लाम विरोध के नाम पर हटा दिया गया। अनंत की चिंता वाजिब है कि आमतौर पर ऐसे कदमों पर वामपंथी लेखक अजीब सी चुप्पी साध लेते हैं।

मार्क्सवादी विमर्श में आमतौर पर संदर्भों की अनदेखी की जाती है। वहाँ बातें तय होती हैं, और आप मानने के लिए बाध्य होते हैं। सवाल उठाने की इजाजत नहीं होती। अनंत उस परंपरा के ठीक विपरीत यहाँ संदर्भों के माध्यम से ही बात करते हैं। पुस्तक में वर्णित अधिकांश घटनाओं में वे किसी पात्र की तरह सक्रिय दिखते हैं, जाहिर है जो उनके लिखे को विश्वसनीय बनाते हैं।

सवाल है यह 'अर्धसत्य' क्यों। इसमें जो भी तथ्य हैं, जो भी विवरण हैं, सब तो आज की तारीख में पूर्ण सत्य हैं। अर्ध सत्य शायद इसलिए कि इस खंड में मार्क्सवाद के व्यवहारिक पक्षों का विवेचन है। इसके सैद्धांतिक पक्ष को शायद किसी अगले खंड के लिए छोड़ दिया गया है। वास्तव में इस बात को कतई नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता कि एक सिद्धांत के रूप में भी मार्क्सवाद विवेचन की माँग करता है। मार्क्सवाद पर एक शोधकर्ता ने वाजिब सवाल उठाते हुए लिखा है, मार्क्सवाद में वर्णित समानता की बात ही प्राकृतिक नहीं है। प्रकृति की पहचान ही विविधता से है, सबों को एक तरह बनाने की बात संभव ही नहीं। मनुष्य हैं तो किसी में अधिक मेधा होगी, किसी में कम, कोई अधिक परिश्रमी होगा, कोई कम। किसी की ग्राह्य क्षमता अधिक होगी, किसी की कम। हम सबों को एक साथ कैसे देख सकते, कैसे एक साथ रख सकते हैं। सवाल तो मार्क्सवाद के मूल श्रम के सिद्धांत पर भी उठते हैं, किसी पुराने डाक-टिकट का मूल्य लाखों रुपए हो सकता है, जबकि उससे कहीं अधिक मेहनत में उपजाए कद्दू का मूल्य कुछ रुपए। श्रम से मूल्य निर्धारण नहीं हो सकता। विश्वास है अनंत विजय इन सवालों से टकराते हुए मार्क्सवाद के पूर्ण सत्य को भी विवेचित करने की कोशिश करेंगे।

धारा के विपरीत लेखन सबसे कठिन होता है, उल्लेखनीय है कि अनंत की किताब उस दौर में सामने आयी जब देश में मार्क्सवादी किसी का लेखक होना न होना तय कर रहे हैं। बहरहाल 'मार्क्सवाद का अर्धसत्य' आज के लिए एक जरूरी किताब इसलिए भी है कि मार्क्सवाद के नाम पर देश को कमजोर करने का खेल चला आ रहा है, उसे समझने के लिए यह पुस्तक एक दृष्टि देती है, इस किताब का उपयोग इस उद्देश्य के लिए संदर्भ ग्रंथ के रूप में किया जा सकता है। ❖❖

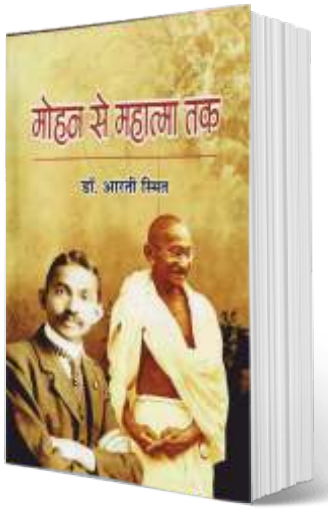

सेपियंस : इतिहास का नैतिक पर्यवेक्षण

सन्नी कुमार
कथाकार

लेखक ने बीएचयू से इतिहास की पढ़ाई की है तथा इसी विषय से यूजीसी नेट उत्तीर्ण हैं।
लेखक ने 'मास कम्युनिकेशन एंड जर्नलिज्म' की भी पढ़ाई की है।
सम्प्रति : स्वतंत्र रूप से इतिहास अध्ययन तथा लेखन

संपर्क : 9718196765

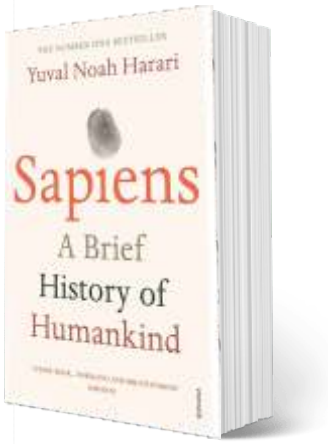

पुस्तक : सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास
लेखक : युवाल नोआ हरारी
प्रकाशक : पेंगुइन रेंडॉम हाउस
प्रकाशन वर्ष : 2015

भूमिका : आज इस ग्रह पर मानव प्रजाति की 'सफलता' बिल्कुल स्वाभाविक सी लगती है,मानो हमेशा से ऐसा ही रहा हो। धरा पर जीवन की उत्पत्ति के साथ आज की मानव प्रजाति, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में होमो सेपियंस कह देते हैं, की सर्वोच्चता को नाभिनालबद्ध कर देना एक किस्म की नादानी है। आमतौर पर भले ही हममें से अधिकांश लोग सेपियंस की सफलता का 'परिणाम' देखकर अचंभित नहीं होते लेकिन यहाँ तक आने की 'प्रक्रिया' को जानना निश्चित ही रोचक होगा। मसलन आज जिस प्रकार मानव प्रजाति तमाम उद्योगों के केंद्र में स्थापित हो गयी है, यह कैसे संभव हुआ होगा? यह संचालक शक्ति अनायास ही सेपियंस के हाथ लग गयी या फिर यह क्रमशः हुआ होगा? आज जिस ऊंचाई पर हमारे कदम टिके हैं उसका पहला चिह्न कैसा था? आखिर कैसे सेपियंस कदम बढ़ाते गये तथा सामने आने वाली बाधाओं से लड़ते-जीतते यहाँ तक पहुँच गये? इतना ही नहीं, थोड़ा पीछे मुड़कर यह देखने की भी कोशिश कर सकते हैं कि जिस जीवन शैली को हम आज अपना रहे हैं, वह ऐसी ही क्यों है?

हर एक चीज जिससे हमारा जीवन घिरा है, चाहे वह व्यक्ति हो या विचार या फिर कोई व्यवस्था उसकी आज तक की यात्रा कैसे संपन्न हुई, जिज्ञासाओं का ऐसा ही अनंत क्षेत्र प्रस्तुत पुस्तक 'सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास' का प्रस्थान बिंदु है। हिब्रू विश्वविद्यालय, यरुशलम में इतिहास का अध्यापन करने वाले 'युवाल नोआ हरारी' अपनी इस पुस्तक में उन तमाम ऐतिहासिक यात्राओं को शामिल करते हैं जिनका समुच्चय आज का हमारा जीवन है। मूलतः हरारी उन प्रक्रियाओं की खोज करते हैं जो वर्तमान के निष्कर्ष के लिए जिम्मेदार हैं। चूँकि हरारी पेशे से इतिहासकार हैं इसलिए वो 'रूबीकान नदी पार करने वाले हर व्यक्ति के बारे में नहीं बताते बल्कि उनकी जिज्ञासा जूलियस सीजर तक केंद्रित रहती है'। वस्तुतः समीक्षाधीन पुस्तक लेखक की 'पुस्तक त्रयी' का पहला पड़ाव है जो मानव प्रजाति के अतीत की कहानी कहता है। इसके अलावा लेखक अपनी कृति 'ट्वेन्टी वन लेसंस फॉर ट्वेन्टी फस्ट सेंचुरी' में वर्तमान की तथा 'होमो डेयस' में मानव प्रजाति के भविष्य की कहानी कहते हैं।

पाठ का महत्त्व और कहन की शैली : मानव प्रजाति के विकास की जिस कहानी को कहने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है उस पर पहले भी काफी कहा जा चुका है। इसलिए निश्चित रूप से यह किसी 'नये विषय' पर लिखी गयी पुस्तक नहीं है। स्वाभाविक रूप से इसमें अनेक तथ्यों व प्रसंगों की पुनरावृत्ति भी है इसलिए यह 'नये तथ्यों की खोज' भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कथ्य में भी यह किसी 'नयी विधा' को नहीं अपनाता। इस नकारात्मक श्रेणी में अगर एक और कड़ी जोड़ना चाहें तो कह सकते हैं कि यह कोई 'नया निष्कर्ष' भी नहीं देता है। दिलचस्प है कि पुस्तक और लेखक भी किसी प्रकार के नयेपन का दावा नहीं करते। तो फिर सवाल उठता है कि जब इसमें नया कुछ है ही नहीं तो फिर यह इतनी सफल और लोकप्रिय कैसे हुई? इस सवाल का एक अमूर्त जबाव यह हो सकता है कि पुस्तक किसी नयेपन के पीछे न भागने के बाद भी एक अलग अनुभव संसार निर्मित करने में सफल हो जाती है। यानी तथ्य व कथ्य की पुनरावृत्ति भी इस संयोजन से की गयी है कि पाठक लेखक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और अतीत की उन घटनाओं के बारे में पुनर्विचार के लिए राजी हो जाता है। यह इस पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता है।

यह पुस्तक एक विशाल कालखंड की विवेचना प्रस्तुत करती है जो लाख वर्ष पूर्व मानव की अनेक प्रजातियों की उपस्थिति से लेकर आज बिल्कुल नये किस्म का मानव रचे जाने की संभावना

वाले समय तक विस्तारित है। इतने विस्तृत समय और इसमें शामिल विज्ञान, राजनीति तथा समाज का आपसी संबंध ही इस पुस्तक का केंद्र है। हरारी ने काफी बारीकी से इस समय की 'ऐतिहासिक' व्याख्या की है। यहाँ ऐतिहासिक शब्द का अर्थ प्रामाणिकता से है। यानी हरारी समय की एक क्रमबद्ध तथा सुसंगत कहानी कहते हैं।

यद्यपि इस पैरा की शुरुआत इससे की गयी है कि यह किसी नये विषय पर लिखी गयी पुस्तक नहीं है किंतु साथ ही अब इसमें यह परंतुक भी जोड़ना होगा कि एक ही विषय के अलग अलग हिस्सों को 'एक साथ एक जगह' लाने की यह अनूठी पहल है। इसके अतिरिक्त कहन की शैली इतनी रोचक है कि वो सहज ही पाठक को संवाद में शामिल कर लेती है। लेखक ने अपने तर्कों से सहमत कराने के लिए प्रासंगिक उदाहरणों का उपयोग किया है जिससे पुस्तक अपनी प्रामाणिकता बनाये रखते हुए भी काफी सरस और आकर्षक हो जाती है। ऐतिहासिक विवेचना प्रस्तुत करते हुए भी लेखक पुस्तक को 'फुट नोट्स' से बचाता है तथा इसे अकादमिक उलझाव से निकालकर औपन्यासिक सरलता तक ले जाता है। इससे लेखक का निष्कर्ष भी कलुषित नहीं होता है और पुस्तक पाठकों का विस्तार भी पा जाती है। यही वजह है कि यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई। वस्तुतः जिन तीन चीजों - वृहद् परिदृश्य, वृत्तांत और उसके वर्णन- में मदद के लिए लेखक विभिन्न शुभचिंतकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, वही इस पुस्तक को पढ़ने की तीन मुख्य वजहें भी हैं।

पुस्तक संरचना : पुस्तक चार खंडों-संज्ञानात्मक क्रांति, कृषि क्रांति, मानव-जाति का एकीकरण तथा वैज्ञानिक क्रांति - में विभाजित है। इनमें प्रत्येक खंड एक-दूसरे से इस मायने में पृथक है। ये अलग समय या फिर अलग विषय की विवेचना करते हैं किंतु इस मामले में परस्पर संबद्ध हैं कि ये सभी अंततः 'वर्चस्व' की ही कहानी से जुड़े हैं। ये सभी कहानियाँ कुल साढ़े चार सौ पन्नों में सिमटी हैं। अब बेहतर यह होगा कि प्रत्येक खंड के 'टेक्स्ट' पर थोड़ी चर्चा हो ताकि हम पुस्तक के बारे में कोई भी जायज राय कायम कर सकें। प्रस्तुत समीक्षा में प्रत्येक खंड का उसी अनुक्रम में लेकिन अलग शीर्षक से विश्लेषण किया गया है।

सामान्य से विशेष तक : पुस्तक यहीं से शुरू होती है कि कैसे एक महत्वहीन प्राणी से शुरू हुई सेपियंस की यात्रा सबसे महत्वपूर्ण प्राणी में तब्दील हो गयी। आज जिस कद-काठी का मनुष्य दिखता है उसके उद्गम 25 लाख वर्ष पूर्व के अफ्रीकी वानर के रूप में हुआ था, जिसे तकनीकी भाषा में 'ऑस्ट्रालोपीथेकस' कहते हैं। इसके बाद इसका विस्तार ग्लोब के अलग-अलग हिस्सों में हुआ तथा वहाँ की जलवायु से अनुकूलन के क्रम में अनेक मानव प्रजातियों का विकास संभव हुआ। यूरोप और पश्चिमी एशिया के हिस्से जिन मानव प्रजाति से आबाद हुए, उन्हें 'होमो नियेंडरथलेंसिस' (नियेंडरथल्स) कहा गया। इसी प्रकार एशिया के शेष हिस्सों में 'होमो इरेक्टस', जावा द्वीप पर 'होमो सोलोऐंसिस' तथा फ्लोरेस द्वीप पर 'होमो फ्लोरेसिएंसिस' नामक मानव प्रजाति विकसित हो रही थीं। जिस समय मनुष्य यूँ पूरी दुनिया में फैल रहे थे, उस समय भी पूर्वी अफ्रीका में मनुष्यों का विकास हो रहा था और नयी प्रजातियाँ जन्म ले रही थीं। इन्हीं में से एक था 'होमो सेपियंस', आज का मनुष्य।

अब सवाल है कि ये होमो सेपियंस कैसे विकसित हुए? क्या तमाम मानव प्रजातियाँ एक सीधी वंशावली साझा करती हैं जिसके अंतिम उत्तराधिकारी होमो सेपियंस हुए या फिर एक साथ कई मानव प्रजातियाँ थीं जिनमें परस्पर समन्वय या संघर्ष के बाद सिर्फ सेपियंस बच गये? हरारी दूसरे विकल्प को मानते हैं तथा इससे संबंधित दो सिद्धांतों- इंटरब्रीडिंग थ्योरी तथा रिप्लेसमेंट थ्योरी- की चर्चा करते हैं। दरअसल, इंटरब्रीडिंग थ्योरी यह कहती है कि जब सेपियंस पूर्वी अफ्रीका से अन्य जगहों की ओर फैले तो उनका सामना अन्य मानव प्रजातियों जैसे नियेंडरथल्स से हुआ और दोनों एक-दूसरे से आकर्षित हुए तथा परस्पर प्रजनन किया। इससे दोनों प्रजातियाँ एक-दूसरे में घुलती-मिलती गयीं और एक हो गयी। इसके विपरीत रिप्लेसमेंट थ्योरी यह कहती है कि ये प्रजातियाँ इतने अलग-अलग गुण साझा करती थीं कि इनका परस्पर एक होना और प्रजनन करना संभव

नहीं है। या तो विजित प्रजाति ने दूसरे का संहार कर दिया या फिर उसके नष्ट हो जाने का इंतजार किया।

हरारी अपना निष्कर्ष इन दो छोरों के बीच तलाशते हैं और कहते हैं कि कोई ऐसा मुकाम निश्चय ही रहा होगा जब दो आबादियाँ एक-दूसरे से पूरी तरह भिन्न रही होंगी लेकिन जो कभी-कभार संसर्ग करने और संतान उत्पन्न करने में सक्षम रही होंगी। इसके बाद एक और उत्परिवर्तन ने इस आखिरी संयोजक सूत्र को काट दिया होगा और वे विकास के अलग-अलग रास्तों पर चले गये होंगे। हालाँकि हरारी सेपियंस पर तंज कसते हुए यह भी कहते हैं कि अपनी तरह का 'अकेला' प्राणी मानने की उत्कंठा में भी सेपियंस ने नियेंडरथल्स को खत्म करने की कोशिश की होगी। आज नस्ल, रंग और धर्म के आधार पर विनाश के लिए एकजुट हो जाने वाला सेपियंस अपनी मूल पहचान के लिए हिंसक हो गया हो तो क्या आश्चर्य?

फिर हरारी सेपियंस की कुछ ऐसी चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा करते हैं जिनसे इन्हें अन्य प्रजातियों पर बढ़त हासिल हुई और जिनसे इनकी जीवन-प्रक्रिया निर्धारित हुई। 'दो पैरों' पर चलना ऐसी ही एक विलक्षण योग्यता थी जिसने सेपियंस को दूर तक देखने, हथियार चलाने और रचनात्मक होने में मदद पहुँचायी। हालाँकि पीठ का दर्द भी इसी विशेषता का परिणाम है, अन्यथा यह समस्या अन्य किसी प्राणी में नहीं होता। साथ ही मनुष्य जिस प्रकार अन्य प्राणियों की तुलना में 'अविकसित' संततियों को जन्म देता था उसने व्यापक देखभाल की जरूरत के साथ समाजीकरण को प्रोत्साहित किया। इससे मनुष्यों को यह सहूलियत भी मिल गयी कि वो अपनी संतानों को किसी खास साँचे में ढाल सकता है। फिर, आग की खोज से सेपियंस पका हुआ भोजन करने लगा जिससे आँत का आकार क्रमशः सिकुड़ने लगा और मस्तिष्क का आकार बढ़ने लगा। मनुष्य

दूसरी व्यवस्था जो साम्राज्यवाद कहलाती है उसने राजनीतिक एकीकरण को मूर्त किया। दरअसल, साम्राज्यवाद एक किस्म की संस्कृति तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि अपनी सरहदों का विस्तार विभिन्न संस्कृतियों तक करता रहा। इस प्रकार अलग-अलग जीवन शैली से संचालित होने वाले लोग एकशक्ति से शासित होने लगे जिनके विधानों ने उनको एकता दिखाने के लिए मजबूर किया। इतना ही नहीं मुट्ठी भर विजेताओं ने दुनिया भर के पराजित क्षेत्रों में अपनी राजनीतिक प्रणाली और सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनाने की व्यवस्था कर दी।

अन्य प्राणियों से बड़ा मस्तिष्क धारण करता है और इसलिए 'अधिक सोच' पाता है। हरारी सेपियंस की सोचने और संप्रेषण की इस क्षमता को ही 'संज्ञानात्मक क्रांति' कहते हैं।

वस्तुतः सेपियंस के पास संप्रेषण के रूप में ऐसी लचीली भाषा थी जिसमें कुछ संकेतों और ध्वनियों के संयोग से अंतहीन बात कही जा सकती है। इनसे अपने आस-पास की सूचनाओं को ग्रहण करने और उसे प्रसारित करना संभव हो पाया जिसने मनुष्य को जटिल कार्ययोजना निर्मित करने और उसे पूरा करने में सक्षम बनाया। इसके अलावा मनुष्य में 'कल्पना' करने की अद्‌भुत क्षमता है। शायद यह एकमात्र ऐसा प्राणी है जो अवास्तविक चीजों की कल्पना कर सकता है और उस पर भरोसा जता सकता है। इस विशेषता से मनुष्य ने आत्मा, राष्ट्र तथा कंपनी जैसी कल्पना की तथा इस आधार पर न केवल अजनबियों को परस्पर जोड़ लिया बल्कि अपने जीवन को तेजी से बदलता भी गया। इसके बाद हरारी इस खंड में आरंभिक मानवों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर विचार करते हैं तथा उसके काफी कुछ अस्पष्ट होने की बात स्वीकारते हैं। साथ ही लेखक इसकी भी विस्तार से चर्चा करते हैं कि कैसे मनुष्य जहाँ-जहाँ गये वहाँ के स्थानीय प्राणियों को नष्ट करते गये। वो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दरअसल सेपियंस का विकास पर्यावरणीय विनाश की कीमत पर ही संभव हुआ है।

दक्षता और असमानता : आज से लगभग दस हजार साल पहले मनुष्य ने खाद्य संग्राहक की भूमिका त्याग दी और खाद्य उत्पादक की हैसियत हासिल कर ली। यह एक क्रांतिकारी बदलाव था क्योंकि इससे मानव जीवन एक जगह स्थायी होकर बसने लगे। इस स्थायी बसावट ने मनुष्य की सामाजिक संरचना को आश्चर्यजनक रूप से जटिल और विकसित बना दिया। आज की हमारी हैसियत खाद्य उत्पादक क्षमता से ही निर्धारित हुई है, सो इसका महत्व जगजाहिर है। पर दिलचस्प ढंग से हरारी इस कृषि क्रांति को 'तमाम अन्यायों' और 'असमानता' के केंद्र में रखते हैं।

हरारी कहते हैं कि कृषि उत्पादन ने सीमित अर्थों में खाद्य सुरक्षा जरूर उपलब्ध करायी किंतु साथ ही इस सुरक्षा ने जनसंख्या विस्फोट और 'अतिरिक्त अनाज' पर नियंत्रण के खेल ने व्यापक असमानता को जन्म दिया। फिर इसने एक दूसरी किस्म की असुरक्षा उत्पन्न की मसलन फसलों की रक्षा। इसके अतिरिक्त एक ही प्रकार के खाद्य 'गेहूँ' पर निर्भरता ने पोषकता भी कम की। यहाँ तक कि वो एक या दो फसलों पर निर्भरता को अकाल की आवृत्ति से भी जोड़ते हैं। सबसे बढ़कर इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि एक कृषक एक भोजन खोजी से अधिक श्रम करके भी उससे बदतर खुराक पाने को मजबूर हुआ। इसके अलावा भोजन की सुरक्षा से मनुष्य का शेष श्रम जीवन को और अधिक मुश्किल और विलासी बनाने में निवेश हुआ। कृषि क्रांति के साथ ही एक अन्य प्रक्रिया जन्म ले रही थी वो थी जानवरों को पालतू बनाना। जानवरों के मनुष्योपयोगी होने के निश्चित ही मानव जीवन आसान हुआ लेकिन साथ ही इसने 'अन्य प्राणियों' पर क्रूरता

बरतने का चलन भी शुरू किया, जो आज तक जारी है और किसी को इस पर सोचने की फिक्र नहीं होती या सीमित अर्थों में होती है। हरारी पशुओं पर इस यंत्रणा की कहानी को 'क्रांति के शिकार' कहते हैं। एक जगह रोचक ढंग से हरारी कहते हैं कि मनुष्यों ने गेहूँ को पालतू नहीं बनाया बल्कि गेहूँ ने मनुष्यों को पालतू बनाया और अपने आस-पास बसने के लिए बाध्य किया।

कृषि ने मानव जीवन में एक जो दिलचस्प परिवर्तन किया वो यह कि 'भविष्य की चिंता' को पहले से कहीं अधिक निर्णायक बना दिया। अब भविष्य को गढ़ने की कवायद जीवन के केंद्र में आ गयी जिसने मिथकों पर विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि जीवन व्यवस्थित हो। हरारी इसके लिए दो दिलचस्प उदाहरणों की तुलना करते हैं। एक 1776 ईसापूर्व की 'हम्मूराबी संहिता' और एक 1776 ईस्वी का 'अमेरिकी स्वतंत्रता का घोषणापत्र'। दोनों अपनी तरह से स्थायित्व पूर्ण और समृद्ध समाज की स्थापना के लिए विधान रचते हैं जबकि दोनों दो छोर पर हैं। पूर्ववर्ती विधान जहाँ श्रेष्ठ जन, सामान्य जन और गुलाम में भरोसा करता है, वहीं परवर्ती सबकी स्वतंत्रता और मौलिक अधिकार पर भरोसा रखता है। हरारी कहते हैं कि इन दोनों ही संहिताओं में कुछ भी वास्तविक नहीं है, न तो श्रेष्ठ जनों में कोई जैविक श्रेष्ठता होती है और न ही प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज वास्तव में होती है। ये सब हमारी कल्पना है और हम इस पर इसलिए भरोसा करते हैं क्योंकि इससे हम बेहतर और समृद्ध समाज बना सकेंगे। इस खंड के अंतिम अध्याय का शीर्षक 'इतिहास में कोई न्याय नहीं है' देते हुए हरारी कृषि क्रांति को इस बात का दोषी मानते हैं कि इसने सहकार की जिन व्यवस्थाओं को जन्म दिया वो ऊंच-नीच की श्रेणी वाला है। यहाँ कुछ लोगों के पास सारी शक्तियाँ और सुख केंद्रित हो गये तथा शेष को इसे हर हाल में जारी रखने का उद्यम करना

कृषि ने मानव जीवन में एक जो दिलचस्प परिवर्तन किया वो यह कि 'भविष्य की चिंता' को पहले से कहीं अधिक निर्णायक बना दिया। अब भविष्य को गढ़ने की कवायद जीवन के केंद्र में आ गई जिसने मिथकों पर विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि जीवन व्यवस्थित हो। हरारी इसके लिए दो दिलचस्प उदाहरणों की तुलना करते हैं। एक 1776 ईसापूर्व की 'हम्मूराबी संहिता' और एक 1776 ईस्वी का 'अमेरिकी स्वतंत्रता का घोषणापत्र'। दोनों अपनी तरह से स्थायित्व पूर्ण और समृद्ध समाज की स्थापना के लिए विधान रचते हैं जबकि दोनों दो छोर पर हैं। पूर्ववर्ती विधान जहाँ श्रेष्ठ जन, सामान्य जन और गुलाम में भरोसा करता है वहीं परवर्ती सबकी स्वतंत्रता और मौलिक अधिकार पर भरोसा रखता है। हरारी कहते हैं कि इन दोनों ही संहिताओं में कुछ भी वास्तविक नहीं है। न तो श्रेष्ठ जनों में कोई जैविक श्रेष्ठता होती है और न ही प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज वास्तव में होती है। ये सब हमारी कल्पना है और हम इस पर इसलिए भरोसा करते हैं क्योंकि इससे हम बेहतर और समृद्ध समाज बना सकेंगे।

पड़ता है। चमड़ी के रंग के आधार पर बरता जाने वाला नस्लीय भेदभाव, लिंग आधारित अंतर तथा धार्मिक व वर्ण व्यवस्था के आधार पर हरारी भेदभाव की व्यापक और संरचनात्मक कहानी कहते हैं। अगर कृषि क्रांति समृद्धि का द्वार खोल रही थी तो यह भी विचार करना चाहिए कि यह समृद्धि किसके हिस्से आने वाली थी और किसे इसकी कीमत चुकानी थी।

संयोजक शक्तियों का प्रादुर्भाव : मानव जीवन जिस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों के तहत गुजरता है वो निश्चित ही दो समूहों के बीच हम और वे की दूरी बनाते हैं। हरेक की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे अन्य से अलग करती हैं। इनमें से हरेक संस्कृति स्वयं को दूसरों के प्रभाव से बचाये रखना चाहती है तथा सार्वभौम होने की चेष्टा से रहित होती है। आरंभिक मानवों का सामाजिक सहकार ऐसा ही था। मानव ही क्यों प्राणिजगत के सभी जीवों में सीमित सदस्यों के साथ ही निबाह करने का गुण होता है। यहाँ तक एक जंगल के जानवर अमूमन दूसरे जंगल के जानवरों की चिंता नहीं करते और न ही उनसे संपर्क साधने की कोशिश करते हैं। पर, ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी में तीन ऐसी वैश्विक व्यवस्थाओं का जन्म हो रहा था जो पूरी मानव जाति को 'एक सूत्र' में बांधने की निष्ठा रखती थी। इनमें एक वित्तीय व्यवस्था थी, दूसरी साम्राज्यवादी व्यवस्था तथा तीसरी संगठित धार्मिक व्यवस्था। हरारी कहते हैं कि ये तीनों ही व्यवस्थाएँ ऐसी थीं जो हम और वे की दीवार लाँघकर सबको हम मानती थीं। एकीकरण की यह काल्पनिक व्यवस्था मानव जीवन की सच्चाई बन गयी। एकीकरण की यह प्रक्रिया किस तरह संपन्न हुई हरारी इसकी रोचक व्याख्या करते हैं।

अपने आरंभिक दौर में मानव आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करता था तथा भोजन से लेकर औषधि तक स्वयं जुटाता था। आगे कबीलाई व्यवस्था में भी यह प्रक्रिया कुछ सदस्यों के समूह के भीतर संपन्न होती रही तथा एक-दूसरे की सहायता से काम चल जाता था। अर्थात् मूल्य की इकाई परस्पर सहयोग था। आगे जब गाँव बसे तब भी वो अपने ढाँचे के भीतर लगभग आत्मनिर्भर थे तथा वस्तु-विनिमय के माध्यम से लेन-देन संपन्न कर लेते थे किंतु आगे जब बड़े-बड़े शहर विकसित होने लगे तथा आर्थिक जटिलता विकसित होने लगी तब 'मुद्रा' का उदय हुआ। यानी चाहे अनाज खरीदना हो या जूता धातु की मुद्रा चुकाकर स्वामित्व हासिल किया जा सकता था। इस प्रकार सोने-चाँदी जैसी धातुओं ने सहयोग की सीमा का विस्तार किया तथा परस्पर अजनबियों को आर्थिक लेन-देन के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार मुद्रा में लोगों को जोड़ने की एक जादुई शक्ति थी, आगे डॉलर और रुपये जैसी मुद्राओं ने

पूरी दुनिया को आपस में जोड़ दिया। वस्तुतः, ये मुद्राएँ इतनी शक्तिशाली हैं कि इससे भूख भी मिटाई जा सकती है, शिक्षा भी हासिल की जा सकती है और न्याय भी पाया जा सकता है। हरारी कहते हैं कि पैसे ने एक 'सार्वभौमिक भरोसे' को जन्म दिया जिसकी मदद से कोई भी दो लोग किसी मुहिम के लिए परस्पर सहयोग कर सकते हैं। पैसे ने अपरिचितों के बीच मध्यस्थता निभायी और उन्हें परस्पर जोड़ दिया।

दूसरी व्यवस्था जो साम्राज्यवाद कहलाती है उसने राजनीतिक एकीकरण को मूर्त किया। दरअसल, साम्राज्यवाद एक किस्म की संस्कृति तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि अपनी सरहदों का विस्तार विभिन्न संस्कृतियों तक करता रहा। इस प्रकार अलग-अलग जीवन-शैली से संचालित होने वाले लोग एक शक्ति से शासित होने लगे जिनके विधानों ने उनको एकता दिखाने के लिए मजबूर किया। इतना ही नहीं मुट्ठी भर विजेताओं ने दुनिया भर के पराजित क्षेत्रों में अपनी राजनीतिक प्रणाली और सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनाने की व्यवस्था कर दी। आज उपनिवेश रहे अधिकांश देश राजनीतिक रूप से आजाद हो जाने के बाद भी उपनिवेशक देश की विशेषताओं को साझा करते हैं। हिंदुस्तान के संदर्भ में अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व इसका अच्छा उदाहरण है। वस्तुतः साम्राज्यवाद ने संस्कृति की विविधता को इस हद तक कमजोर कर दिया कि वो दूसरी संस्कृतिजन्य विशेषताओं को ग्रहण करने में कम से कम प्रतिरोध करने लगे और कई बार तो स्वयं पहल कर परिवर्तित होने लगे। आगे भूमंडलीकरण ने इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया तथा लोग परस्पर और करीब आ गये।

तीसरी व्यवस्था संगठित धर्म के आधार पर लोगों को एकजुट करने की धार्मिक व्यवस्था है। वस्तुतः यह माना जाता है आरंभिक मानव भी कुछ-कुछ अर्थों में आध्यात्मिक जीवन जीता था तथा पराभौतिक शक्तियों में उनका भरोसा था। किंतु उनकी आस्था स्थानीय देवी, देवताओं तक ही सीमित थी। कबीला बदल जाने से देवता बदल जाते थे क्योंकि उनकी जरूरतें और उनका परिवेश बदल जाता था। हरारी कहते हैं कि जैसे-जैसे यह सामाजिक जीवन विस्तृत होता गया वैसे-वैसे विस्तृत आस्थाओं को समेटने वाले सूत्रों की भी आवश्यकता पड़ी। बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम जैसे संगठित धर्म इसी रूप में सामने आये जो निश्चित सिद्धांतों के साथ सभी मनुष्यों को लक्ष्य कर रहे थे और इसकी प्राप्ति के लिए प्रचार भी करते थे। इस प्रकार धर्म ने सरहदों और संस्कृतियों की सीमा लांघ कर अपनी स्वीकृति चाही और अनजान लोगों में एकजुटता का भाव पैदा किया। इस कड़ी में हरारी मूर्ति पूजकों और बहुदेववादियों को भी शामिल करते हुए कहते हैं कि यह अपनी प्रकृति में इतना उदार होता है कि गैर व अन्य धार्मिकों के प्रति भी सहिष्णुता बरतता है। कुल मिलाकर हरारी 'धर्म को एक संयोजक' शक्ति मानते हैं तथा इस क्रम में विभिन्न धर्मों के उदय और उसकी कार्यप्रणाली पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हैं।

विज्ञान के साये में :

पुस्तक का अंतिम खंड जिसे हरारी ने 'वैज्ञानिक क्रांति' का शीर्षक दिया है, अत्यंत रोचक है। यह खंड मूलतः वैज्ञानिक खोजों और तकनीकी विकास से मानव जीवन में आये परिवर्तन की कहानी कहता है। इसके अंतर्गत लेखक ने ढेर सारे पक्षों पर छोटी-छोटी निष्कर्षनुमा टिप्पणियाँ की हैं जिनसे सहमत-असहमत हुआ जा सकता है लेकिन वो इतने प्रभावी और रोचक हैं कि उन पर विचार किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इस खंड की शुरुआत दिलचस्प तरीके से होती है तथा लेखक कहते हैं कि 'वैज्ञानिक क्रांति ज्ञान की क्रांति नहीं बल्कि अज्ञान की क्रांति है'। अर्थात् मानव प्रजाति ने यह स्वीकार कर लिया कि वो सब कुछ नहीं जानती, जबकि पहले धार्मिक विश्वास ऐसा करने से रोकते थे, इसलिए उसके जानने का मार्ग खूब प्रशस्त हुआ। इस वैज्ञानिक चेतना ने धर्म की अनिश्चित और बिखरी भविष्यवाणी के विपरीत निश्चित और सूत्रबद्ध ज्ञान को विकसित किया। अब गति और बल के कुछ नियमों के सहारे तमाम चीजों के बारे में निश्चित राय कायम की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त यह वही दौर था जब वैज्ञानिक सिद्धांतों और उस पर आधारित प्रौद्योगिकी अनुप्रयोगों को एक साथ जोड़ दिया गया है। इन सबका सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि हुई तथा वो प्रगति के आदर्श में भरोसा करने लगे। चूँकि पहले मनुष्य का जीवन अधिक कष्टप्रद होता था इसीलिए वो अतीत के किसी कल्पित जीवन को ही आदर्श माना करते थे। किंतु, वैज्ञानिक क्रांति ने इस धारणा को ध्वस्त दिया और मानव प्रजाति को आगे बढ़ते रहने के लिए अनियंत्रित छूट दे दी। यहाँ तक कि वह 'गिलगिमेश परियोजना' से आगे बढ़ते हुए अमरत्व की कोशिश को भी साकार कर सकता है।

इसके बाद हरारी इस प्रश्न के सहारे आगे बढ़ते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति तो ठीक है लेकिन आखिर इसका संचालन कौन कर रहा है और उसका इसके पीछे क्या प्रयोजन है? इसके जबाव में हरारी कहते हैं कि पहले साम्राज्यवादी और अब पूँजीवादी इच्छाओं के अनुकूल ही वैज्ञानिक विकास नियंत्रित हो रहा है क्योंकि इसके पीछे कोई भी शक्ति सिर्फ इसलिए खर्च नहीं करती कि उसे विज्ञान के सिद्धांतों के प्रति लगाव है बल्कि इससे वो अपने कुछ लक्ष्यों को भी पाना चाहता है। यहीं हरारी एक रोचक प्रसंग यह भी छेड़ते हैं कि आखिर क्यों यूरोपीय समाज इस वैज्ञानिक तकनीकी विकास में बढ़त ले गया जबकि वो तत्कालीन अन्य समाजों के समान ही था।

इसके जबाव में वो कहते हैं कि जहाँ एशियाई और मुस्लिम साम्राज्य 'ज्ञात क्षेत्रों' को जीतने की आकांक्षा रखते थे, वहीं यूरोपीय समाज 'अज्ञात क्षेत्रों' की खोज कर रहा था। इस प्रकार यूरोपीय समाज अपने अज्ञान की खोज में आगे निकल गया और शेष अपने ज्ञान का अतिक्रमण नहीं कर सके।

पुस्तक के अंतिम हिस्से में लेखक पूँजीवादी व्यवस्था की चर्चा करता है कि कैसे एडम स्मिथ ने 'स्वार्थ ही परमार्थ है' के सूत्रीकरण के माध्यम से लोगों को इस बात के लिए राजी कराया कि बिना किसी का हिस्सा हड़पे अपना हिस्सा बढ़ाया जा सकता है और यह भी कि कैसे मेरा बढ़ा हुआ हिस्सा निश्चित रूप से दूसरों का भी हिस्सा बढ़ाएगा। आगे का पाठ इस रूप में बढ़ता है कि निश्चित रूप से पूँजीवाद ने जनसंख्या को सुरक्षित रखा है और सकल समृद्धि में भी बढ़ोतरी की है किंतु इसने जीवन को कहीं अधिक असमान, यांत्रिक, मुश्किल और नीरस बना दिया है। घड़ी की सुइयों से बंधे और कुछ भौतिक सुविधाओं को जुटा लेने की कवायद में एकाकी जीवन व्यतीत करने की बाध्यता ने जीवन-दर्शन को पूरी तरह से बदल दिया है। राज्य का ढाँचा इतना मजबूत हो रहा है कि समाज और समुदाय को उसमें पाँव रखने की जगह नहीं मिल पा रही। परिवर्तनों की तीव्रता इतनी अधिक है कि दशक भर के भीतर के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आ-जा रहा है। इंटरनेट के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवाद ने अधिक से अधिक वस्तुओं के संग्रहण को सुख का पर्याय बनाने की कोशिश की जिससे बड़े पैमाने पर मानवीय बेचौनी को जन्म दिया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर सेपियंस ने इतनी दक्षता हासिल कर ली है कि हरारी कहते हैं कि जीनों के हेर-फेर से यह सेपियंस कहीं अपने से अलग मानव प्रजाति न उत्पन्न कर ले जो शारीरिक और जैविक संरचना में तो साम्यता रखे पर सोच-विचार की दृष्टि से एकदम अलग हो। हरारी इसे 'सेपियंस का अंत' कहते हैं। वस्तुतः लेखक सेपियंस को इतना शक्तिशाली मानते हैं कि वह कुछ भी कर सकने में सक्षम है पर वह इसके प्रति संशय जताते हैं कि इस मानव प्रजाति के पास इस ताकत के इस्तेमाल करने की कोई योजना भी है। क्या ऐसे असंतुष्ट और गैरजिम्मेदार देवताओं से ज्यादा खतरनाक कोई और चीज हो सकती है, जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि वे क्या चाहते हैं? इसी के साथ पुस्तक समाप्त हो जाती है।

निष्कर्ष : हरारी ने यद्यपि किताब का नाम 'सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास' रखा है परंतु इसका एक बड़ा हिस्सा वो वर्तमान पर खर्च करते हैं तथा कुछ हिस्सा भविष्य की चिंताओं पर निवेश करते हैं। इस प्रकार हरारी एक इतिहासकार की भूमिका से बाहर आकर एक नैतिक उपदेशक बन जाते हैं जब वो इतिहास की व्याख्या के क्रम में भविष्य को सुधारने की कवायद में जुट जाते हैं। इतना ही नहीं कई बार वो इतनी मूल्यपरक और निष्कर्षात्मक टिप्पणी करते हैं कि ऐतिहासिक विश्लेषण तक सीमित रहने के बजाय घटनाओं का आत्मपरक विश्लेषण करने लग जाते हैं। जैसे वे सेपियंस को अपनी समकक्ष प्रजातियों के संहार का दोषी तो ठहराते हैं लेकिन उसको पुष्ट करने के लिए ऐतिहासिक साक्ष्यों की बजाय संभावनामूलक विचारों का सहारा लेते हैं। ऐसा वे कई जगह करते हैं जब वे एकदम उत्तेजित निष्कर्ष धारण करते हैं किंतु उसके पक्ष में तथ्य या आँकड़े प्रस्तुत नहीं करते। इसके उदाहरण के रूप में 'कृषि क्रांति सबसे बड़ा धोखा है' वाक्यांश को लिया जा सकता है। यद्यपि इसके अपने कुछ दुष्परिणाम हैं किंतु इससे इसकी सफलता का महत्व कम नहीं हो जाता। फिर नस्ल-भेद से लेकर लिंग-भेद जैसी तमाम असमानताओं के लिए कृषि क्रांति को दोष देना, इसकी इकहरी व्याख्या प्रस्तुत करती है। वस्तुतः हरारी पुस्तक में ढेर सारी सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षों की चर्चा करते हैं। चूँकि सब पर समान हैसियत से और समान विस्तार से लिखना संभव नहीं हो सकता इसलिए हरारी ने वहाँ व्यक्तिगत आग्रह को अधिक बल दिया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक मानव प्रजाति को जिस प्रकार 'ताकतवर किंतु दिशाहीन' के रूप में परिभाषित करती है, वह एक अतिरेकी विचार प्रतीत होता है। यद्यपि विज्ञान नित नये ढंग से सक्षम हो रहा है किंतु यह गड़बड़ी ही लायेगा इसका न तो कोई ठोस प्रमाण है और न ही सेपियंस के प्रति ऐसा अविश्वास जायज है।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद यह कहना होगा कि यह पुस्तक अपनी दृष्टि और संदर्भों में रोचक व विचारणीय है। यद्यपि लेखक कई बार जल्दबाजी में निष्कर्ष तक पहुँच जाते हैं किंतु वो यात्रा इतनी जरूर होती है कि पाठकों को पर्याप्त मानसिक खुराक उपलब्ध हो जाए। सबसे बढ़कर पुस्तक 'वर्चस्व' को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की मानसिकता का निषेध करती है और उसे दूसरी तरफ से भी देखने की तरफदारी करती है। आखिर सफलता के गुण ही क्यों गाये जाए उसकी कीमत क्यों न आँकी जाए। पुस्तक इसी भाव को धारण करती है तथा पाठकों के मस्तिष्क में पहले से स्थापित विचारों को धक्का देती है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि एक संतुलित विचार प्रणाली के लिए यह पुस्तक एक आवश्यक चारा है। भाषाई रोचकता और प्रसंगों की प्रचुरता इसके लंबे समय तक स्मृतियों में टिके रहने की भी व्यवस्था करती है। एक पुस्तक पर थोड़े से घंटे निवेश करने के लिए इतना बहुत है। ❖❖

मानव सभ्यताओं के असमान विकास के मूल कारण

प्रो. नवीन कुमार शर्मा

संपर्क :
प्रो. नवीन कुमार शर्मा,
वनस्पति विज्ञान विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय
विश्वविद्यालय, अमरकंटक
मध्य प्रदेश-484887
ई-मेल : naveen.sharma@igntu.ac.in

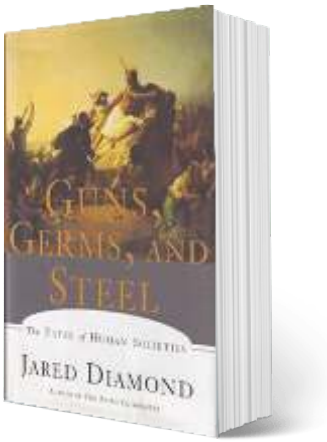

पुस्तक : 'गन्स, जर्म्स एंड स्टील : द फेट्स ऑफ ह्यूमन सोसाइटीज'
लेखक : प्रो. जेरेड डायमंड
प्रकाशक : टॉर्टल बैक पब्लिशर
प्रकाशन वर्ष : 2017
मूल्य : 599 रु.

वर्ष 2020 को कोविड-19 महामारी के प्रादुर्भाव और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों में "ब्लैक लाइव्स मैटर" आंदोलन के पुनःउभार तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर उनके प्रभाव के लिए लंबे समय तक याद रखा जाएगा। समय-समय पर समाज को निर्णायक आकार देने वाली घटनाएँ हमेशा से समाज विज्ञानिकों तथा चिंतकों के लिए आकर्षण का केंद्र रही हैं। क्या हमें फ्रांसिस गालटन के नस्लीय श्रेष्ठता (कुछ नस्लों के बौद्धिक, नैतिक और अनुवांशिक अधार पर श्रेष्ठ होने का विचार) के सिद्धांत पर पुनर्विचार करना चाहिए? क्या संचार माध्यमों की व्यापकता नयी महामरियों के क्षैतिज विस्तार और वंचित समाजों पर पड़ने वाले उसके विनाशकारी प्रभाव के लिए जिम्मेदार है? जिसकी तरफ महात्मा गांधी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में इंगित करते है। आधुनिक समाज एक तकनीकीधर्मी समाज है। क्या अति समर्थवान प्रभावशाली तकनीकों/प्रौद्योगिकी का विकास एक नये प्रभु समाज की स्थापना करने में सहायक होगा। आज हमें इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। मार्च 1997 में प्रकाशित अमेरिकी भूगोलवेत्ता एवं लेखक प्रोफेसर जेरेड डायमंड की बहुप्रशंसित पुस्तक 'गन्स, जर्म्स एंड स्टील : द फेट्स ऑफ ह्यूमन सोसाइटीज' एक ऐसी ही कृति है जो अंतिम हिमयुग के बाद मानव विकास के 13000 वर्षों का मूल्यांकन करती है। विभिन्न महाद्वीपों में मानव समाज के विकास की अलग गति और कुछ सभ्यताओं का अपने समकालीन सभ्यताओं से तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभुत्वमान, गतिशील और नवाचारोन्मुख होना पुस्तक का केंद्र बिंदु है। कृति पुरा इतिहास और इतिहास के पारस्परिक संबंधों की व्यापक संलग्नता को भी व्याख्यायित करती है।

पुस्तक अपनी भूमिका न्यू गिनी के एक स्थानीय नेता याली के उस यक्ष प्रश्न से लेती है जिसमें वह लेखक से पूछता है कि - ऐसा क्यों है कि आप श्वेत लोगों ने इतनी प्रचुरता में मानव उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया और उसे यहाँ ले आये, जबकि हम अश्वेत लोगों के पास अपनी खुद की ऐसी वस्तुएँ नितांत सीमित हैं। चार खंडों और बीस अध्यायों में प्रो. डायमंड याली के द्वारा इस प्रश्न का यथोचित उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है। इसके पीछे नस्लीय हीनता जैसे कारक होने का पूर्णतया प्रतिकार करता है (संदर्भ अध्याय 18) और उनका मानना है कि महाद्वीपों के भूगोल का अलग-अलग होना ही इसका मूल कारण है (भौगोलिक नियतवाद)। अंतिम हिमयुग के समय तक सभी तात्कालिक मानव सभ्यताओं में जानवरों का शिकार और वनोपज इकट्ठा करना ही मानव जीवन को संपोषित करने का एक मात्र तरीका था। तकनीकी रूप से भी ये सभी सभ्यताएँ लगभग समान थीं। परंतु इनमें से कुछ वातावरण (महाद्वीपों की भौगोलिक अवस्थापना, आकार, संचार की सुगमता) जैसे यूरेशिया और उत्तरी अफ्रीका ऐसे रहे जिन्होंने मानव समाज निर्माण की प्रक्रिया (जनसंख्या वृद्धि और उसका उचित संवर्धन) के लिए जरूरी संसाधनों और नवाचार को प्रोत्साहित किया। मध्य-पूर्व एशिया ऐसा ही एक क्षेत्र था, जहाँ संगठित कृषि (अधिक पैदावार और पोषण प्रदान करने वाली फसलों) और मानवोपयोगी जानवरों के पालतूकरण के विकास ने स्थायी रूप से बसे हुए अपेक्षाकृत बड़े मानव समाजों की स्थापना में मदद की। ध्यातव्य हो कि मध्यकाल से ही उच्चस्थ न्यूगिनी में टारो और केले की खेती होती रही है। परंतु अपेक्षाकृत लंबे समय में तैयार होनेवाली कम प्रोटीन युक्त ये फसलें बड़ी जनसंख्या का पेट भरने में असमर्थ थीं। बहरहाल, अन्न की तात्कालिक समस्या से मुक्त मनुष्य ने अन्य नवाचारों के तरफ ध्यान देना शुरू किया। समय बीतने के साथ जलवायु परिवर्तन एवं अत्यधिक जनसंख्या घनत्व

के कारण मध्य-पूर्व की उर्वरा भूमि जब बंजर होने लगी तो मनुष्य ने वहाँ से पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ क्षैतिज प्रयाण किया और आज के यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों तक फैल गया (पारिस्थितिकीय नियतिवाद)। वह अपने साथ उपजाऊ चुनिंदा फसलें तथा पालतू जानवरों को भी अपने साथ ले गया। एक ही अक्षांश में होने के कारण नये क्षेत्रों की जलवायु मध्य-पूर्व एशिया के लगभग समान थी परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में मानवपोषित फसलें और जानवर अच्छी तरह से पुष्पित और पल्लवित हुए। यूरेशिया के पूर्व-पश्चिम की भौगोलिक अभिविन्यास की तुलना में अमेरिकी महाद्वीप के उत्तर-दक्षिण विस्तार के कारण उन क्षेत्रों में कृषि, प्रौद्योगिकी और नवाचार के प्रसार की दर लगभग नगण्य रही। उपजाऊ फसलों और मानव उपयोगी जानवरों के अभाव, भौगोलिक बाध्यताओं के कारण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, दक्षिण सहारा के नीचे की अफ्रीकी सभ्यताएँ, आस्ट्रेलियन आर्बोरिजिनल समाज में आदिम प्रवृत्ति बनी रहीं।

लगभग 1500 ई. तक विभिन्न मानव समाजों का राजनैतिक एवं तकनीकी ढाँचा कमोबेश एक जैसा ही बना रहा। प्रो. डायमंड यूरोप के बढ़ते प्रभाव और उनके द्वारा स्थानीय उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकी सभ्यताओं को विजित करने के तीन मुख्य कारण मानते हैं – सामरिक विजय (कांक्वेस्ट) जिसमें बंदूक और बारूद के व्यापक प्रयोग से बड़े पैमाने पर मूल निवासियों का नरसंहार किया गया। सन् 1532 में तत्कालीन इंका साम्राज्य की राजधानी कहामारका के युद्ध में स्पेनिश जनरल फ्रांसिस्को पिजारो और उसके 168 व्यापारी-योद्धा/धर्म प्रचारकों ने हजारों की संख्या में इंका योद्धाओं को चंद घंटो में मौत के घाट उतर दिया और राजा आताहुआल्पा को बंदी बना लिया।

अमेरिकी और अन्य महाद्वीपों में यूरोपियन विजय का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण कारक महामारी फैलाने वाले नवीन प्रजाति के रोगाणु (जैसे चेचक, खसरा, इन्फ्लुएंजा) थे, जिन्हें यूरोपियन व्यापारी-योद्धा/धर्म प्रचारक अपने साथ इन क्षेत्रों में ले गये। लंबे संसर्ग के कारण यूरोपियन योद्धाओं में तो इन रोगाणुओं के प्रति रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास हो चूका था, किंतु इसके संसर्ग में आये मूल निवासियों में इसने एक भयावह महामारी का रूप ले लिया। एक अनुमान के मुताबिक 1492 में कोलंबस के अमेरिका पहुँचने के समय मूल अमेरिकियों की जनसंख्या लगभग दो करोड़ थी। अगले 200 सालों में इस जनसंख्या का लगभग 95% भाग महामारियों के कारण समाप्त हो गया। इसके विपरीत जब यही यूरोपियन व्यापारी-योद्धा /धर्म प्रचारक अफ्रीका के उष्ण कटिबंधीय सभ्यताओं (खोइसान लोगों) के संपर्क में आते हैं तो मलेरिया, पित्त ज्वर जैसी बीमारियों के कारण इन्हें व्यापक जन-धन की हानि उठानी पड़ी। ऐसी जगहों पर यूरोपियन उपनिवेशवाद को अपनी जड़ें जमाने में काफी लंबे समय तक संघर्ष करना पड़ा। यूरोपियन अपनिवेशवाद की जड़ों को मजबूत करने में तीसरा सबसे मजबूत कारण पश्चिमी यूरोप में इस्पात आधारित उद्योग-धंधों का विकास रहा, जिसने विजित उपनिवेशों में एक व्यापक रेल नेटवर्क बनाने में उनकी सहायता की और यूरोप में औद्योगिक क्रांति को मजबूत किया। इस्पात के विकास ने युद्ध के बेहतर हथियार बनाने में भी सहयोग किया। पुस्तक के उपसंहार में समाज निर्माण में विज्ञान की भूमिका का मूल्यांकन किया गया है।

गत 23 वर्षों में पुस्तक के 20 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, 10 लाख से ज्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं और कई भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। पुस्तक को पुलित्जर समेत अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। समीक्षात्मक रूप से कतिपय मानव-विज्ञानिकों और समाज-विज्ञानिकों को छोड़ दें तो अधिकतर प्रतिक्रियाएँ सकारात्मक ही रही हैं। लेकिन, इसका कदापि ये आशय नहीं है कि ये समीक्षाएँ तथ्यहीन और अनुचित हैं। लेखक पर एक आरोप तथ्यों के सुविधानुसार चयन को लेकर है। दूसरा एक प्रमुख आरोप पुस्तक के यूरोप केंद्रित होने का है जिसका उत्तर देते हुए प्रो. डायमंड पाठकों का ध्यान इतिहास लेखन की उस विडंबना की तरफ खीचते हैं जहाँ ज्यादातर लेखन सभ्य यूरोपीय एवं उत्तर अफ्रीकी समाजों तक ही केंद्रित रहा है। मूल सभ्यताओं जैसे सब-सहारा, अमेरिकी, दक्षिण-पूर्व एशिया, ऑस्ट्रेलिया के इतिहास उनके यूरोपियों के द्वारा विजित होने के बाद ही लिखे गये हैं। आधुनिक अमेरिका और पश्चिमी यूरोपीय देशों के वर्चस्व के लिए लेखक पूँजीवाद, व्यापारी वैज्ञानिक सोच, प्रौद्योगिकी का एकांगी विकास और नये और खतरनाक रोगाणुओं के प्रादुर्भाव को प्रमुख कारक मानते हैं। अंतिम अध्यायों में लेखक ने सिंगापुर, बैंकाक, चीन के विकास पर औचित्यपूर्ण चर्चा की है। 20 वें संस्करण के पुरालेख में लेखक ने अपनी तरफ से पुस्तक पर तमाम आपत्तियों का यथोचित जबाब देने का प्रयास किया है। पुस्तक 'गन्स, जर्म्स एंड स्टील' न केवल अकादमिक दृष्टि बल्कि सामान्य मानविकी की समझ की दृष्टि से भी पठनीय है। समाज विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान के इतिहास में रुचि रखने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को इसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। समाज को मूर्त रूप देने वाले कारकों एवं इसमें वांछित सुधार लाने की आवश्यकता है। लेखक का मानना है कि यूरेशियन सभ्यता श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता से निर्मित नहीं हुई, बल्कि अवसर, आवश्यकता और विकास की एक श्रृंखला का परिणाम है, जिन्हें कुछ पूर्व परिस्थितियों ने संभव बनाया। ❖❖

अँधेरे का सच

शंकर शरण

संपर्क :
4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास
श्रीअरविन्दो मार्ग
नयी दिल्ली - 110016

पुस्तक : भारत में इस्लामी साम्राज्यवाद की कहानी
लेखक : सीताराम गोयल
प्रकाशक : वाइस ऑफ इंडिया
प्रकाशन वर्ष : 2019

यह पुस्तक भारत के प्रत्येक हिंदू घर और प्रत्येक विचारशील भारतीय के घर में होनी चाहिए। इस बात पर आश्चर्य हो सकता है, किंतु कहने का कारण है। हजारों वर्ष से विश्व में भारत की पहचान हिंदू देश के रूप में रही है। किंतु, यह पहचान अब खतरे में है। यह पुस्तक इस का ध्यान दिलाते हुए एक गंभीर स्थिति से अवगत कराती है।

उपनिषद जैसे शास्त्रों की सहज शिक्षा अब भारत में लुप्तप्राय हो चुकी। घर-घर में रामचरित मानस वाली सांस्कृतिक चेतना हिंदुओं में तेजी से घट रही है। बाह्याचार, तीर्थों में भीड़, आदि सच्ची चेतना नहीं है। इसके बल से विकट साम्राज्यवादी मतवादों का मुकाबला नहीं हो सकता, जिनकी योजनाएँ कटिबद्ध, दीर्घकालीन और अंतराष्ट्रीय हैं। इसी पृष्ठभूमि में, अब केवल सच्चे इतिहास की जानकारी भारत में भी हिंदुओं की चेतना का आधार बचा है। यही कारण है कि हिंदू-विरोधी मतवादियों ने एकमत से यहाँ इतिहास-शिक्षण को विकृत करने की परियोजना लागू की।

जैसा सच्चिदानंद वात्स्यायन (अज्ञेय) ने लिखा था, "कोई नहीं चाहता कि हमें कुछ याद रह जाय – क्योंकि कुछ याद न रहने पर ही यह संभव होता है कि प्रतिदिन जो हमें बताया जाता रहे उसे हम स्वीकार करते चलें। वही 'वैज्ञानिक सत्य' होगा, वही 'ऐतिहासिक तथ्य' होगा, वही 'आधुनिक दृष्टि' होगी!" इससे भी इतिहास-लेखन का महत्व समझा जा सकता है।

जो सीमित और एकांगी इतिहास ब्रिटिश काल में जाने-अनजाने लिखा गया, वह स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं द्वारा और भी धुँधला किया गया। बल्कि, जान-बूझ कर विकृत किया गया। नतीजतन हमारे नेता अपने ही बनाये प्रपंच में फँस गये। जब ख्वाजा निजामी, जिन्ना, आदि ने मुसलमानों को शासक-कौम ('मास्टर रेस') बताते हुए भारत पर एकाधिकार जताया, तो राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता इसकी सुसंगत काट नहीं कर सके, जब कि इतिहास कुछ और था। इस प्रकार, इतिहास के प्रति बेपरवाही से भी देश का आकस्मिक खूनी विभाजन संभव हुआ। दुर्भाग्यवश, स्वतंत्र भारत में उस एकांगी, विकृत इतिहास को और भी बिगाड़ा गया। नेताओं को इसके दुष्परिणाम का आभास तक नहीं हुआ। उसके सर्वोच्च पदधारी वही विकृत इतिहास यथावत् पढ़ाने पर गर्व भी करते हैं। हिंदू नेता ठीक धर्म-रक्षा और समाज-रक्षा पर विचारशून्य हैं।

वस्तुतः इस पुस्तक को लिखने का कारण एक बाकायदा राजकीय निर्देश था, जो 1981-82 ई. के लगभग प्रकाशित हुआ था। उसमें भारत के स्कूल, कॉलेजों में कैसा इतिहास पढ़ाया जाए, इस के लिए निर्देश थे। सीताराम गोयल ने उन्हीं निर्देशों की एक-एक कर आलोचना करते हुए इतिहास की सच्ची झलक इस पुस्तक में दी है।

वे निर्देश थे - भारत में मुस्लिम शासकों को विदेशी नहीं कहना चाहिए, 'सिवा उन आरंभिक

आक्रमणकारियों के जो यहाँ बस नहीं गये थे' (यद्यपि इसकी कोई सूची नहीं दी गयी, कि किन को विदेशी कहाँ जाएगा और किन्हें नहीं); मुस्लिम शासन से पहले के भारत का 'गुणगान नहीं किया जाएगा'; हिंदू जनता पर मुस्लिम शासकों के अत्याचारों, आदि को महत्व नहीं दिया जाएगा; भारतीय संस्कृति केवल हिंदू संस्कृति नहीं है, बल्कि इसमें इस्लाम का भी योगदान है; आदि। इसलिए, 'राष्ट्रीय एकता' के लिए इतिहास को इन्हीं निर्देशों के अनुसार लिखा और पढ़ाया जाए।

उन निर्देशों का व्यवहारिक अर्थ था कि इतिहास पढ़ाने के बजाए छिपाया जाए! पहला निर्देश ही लें तो सब से आरंभिक मुस्लिम आक्रमणकारी अरब थे जो 8वीं सदी के दूसरे दशक में सिंध पर कब्जे में सफल हुए। लेकिन वे सिंध में बस गये और सिंध और मुलतान पर शासन करते रहे। आक्रमणकारियों का दूसरा दौर तुर्कों का था, जिन्होंने 963 ई. में गजनी पर कब्जा किया। वहाँ से सुबुक्तिगीन और उसके बेटे महमूद गजनवी ने अफगानिस्तान, भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र और पंजाब के बड़े भू-भाग को जीत लिया। जब महमूद 1030 ई. में मरा, तब तक तुर्क इन सभी भागों में बस चुके थे। फिर उन्होंने राजस्थान के नागौर पर भी कब्जा किया, और वहाँ भी बस गये। बाद के गजनवियों की राजधानी लाहौर बनी, और वे वहीं रहते रहे जब तक कि 1186 ई. में मुहम्मद गोरी ने उनकी सत्ता पलट नहीं दी। यह आक्रमणकारियों का तीसरा दौर था। इसने 1192-95 ई. में हरियाणा, अजमेर, अलीगढ़, बयाना तथा गहड़वाल राज्य पर कब्जा कर लिया। 1206 ई. में गोरी की हत्या तक उसके सेनापतियों ने दक्षिण बिहार, पश्चिमी व उत्तरी बंगाल तथा बुंदेलखंड के कुछ भागों को जीत लिया। अंततः दिल्ली में 1210 ई. में शम्सी वंश का राज्य कायम हुआ, जिसके बाद भारत के कई प्रांतों में कई मुस्लिम राजवंश बने।

बल्कि, कई मामलों में ब्रिटिश शासक अधिक उदार थे। सभी मुस्लिम शासकों ने हिंदुओं का बलात् धर्मांतरण कराया, हिंदू मंदिर तोड़े, तथा हर हिंदू भावना और संस्था को अपमानित कर चोट पहुँचायी। सभी मुल्लों और सूफियों ने हिंदू धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाई और घृणा प्रकट की। किंतु कोई हिंदू इस्लामी दावों, कायदों पर संदेह का एक शब्द भी नहीं बोल सकता था। जबकि ब्रिटिश शासकों ने चर्च-मिशनरियों को हिंदुओं का धर्मांतरण बलपूर्वक कराने की कभी इजाजत नहीं दी। उन्होंने हिंदू मंदिरों को कभी अपवित्र नहीं किया, न हिंदू धर्म संस्कृति को अपमानित किया। हिंदू लोग क्रिश्चियनिटी के दावों पर खुले आम प्रश्न उठा सकते थे, जिस पर ब्रिटिश प्रशासक कोई ध्यान तक नहीं देते थे।

किंतु उस निर्देश से 1210 ई. से ही यहाँ के सभी मुस्लिम शासकों को विदेशी नहीं कहना चाहिए। तब भारत का जो अर्थ हुआ, उसमें सिंध, अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत और सतलज पार के पंजाब को छोड़ दिया गया है! जबकि ये सभी प्रांत तब निस्संदेह भारत के अंग थे। विदेशी भी उसे हिंद के ही रूप में जानते थे।

विदेशियों को देशी में बदलने के लिए दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापना को निर्णायक मानना बेतुका है। बारहवीं सदी तक दिल्ली कोई बड़ा नगर नहीं था। तब कन्नौज और वाराणसी, गुजरात में अन्हिलवाड़, पाटन, महाराष्ट्र में देवगिरि, कर्नाटक में द्वारसमुद्र, तमिलनाडु में मदुरई, आंध्र प्रदेश में वारंगल, उड़ीसा में जाजपुर, बंगाल में नवद्वीप, बिहार में उदंतपुर, तथा मध्य प्रदेश में त्रिपुरी, उज्जैन और कालिंजर अधिक बड़े नगर तथा सत्ता केंद्रों के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण थे। मुलतान, ब्राह्मणाबाद, गजनी, काबुल, पेशावर, और लाहौर भी पहली बार मुस्लिम कब्जे के समय अधिक बड़े और महत्त्वपूर्ण भारतीय केंद्र थे।

विदेशी आक्रमणकारियों और साम्राज्यवादियों को देशी बनाने का आधार सबसे विचित्र है। किसी आक्रमणकारी को यहाँ बस जाने मात्र से भारतीय मान लिया जाए, चाहे वह हर भारतीय चीज से घृणा और हर अरबी, फारसी, तुर्की चीज की सराहना करता रहे। चाहे वह क्रूरता पूर्वक लाखों-लाख भारतीयों का खात्मा और उनसे भी अधिक को बल-छल से धर्मांतरित कराता रहे। लाखों-लाख हिंदू पुरुषों-स्त्रियों को पूरी इस्लामी दुनिया में गुलाम और रखैलियों के रूप में बेचता रहे। भारतीय कला, विज्ञान और साहित्य की महान कृतियों को भारी पैमाने पर नष्ट करता रहे। यह कैसा तर्क है!

मगर यही भारत में गत दो पीढ़ियों को पढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार, भारत को खत्म करने का घोषित मतवाद रखने वाले को भारतीय मानना सिखाया जा रहा है। यदि यह देश के लिए घातक नहीं तो और क्या है?

वस्तुतः, यहाँ अपनी जीत के बारे में मुसलमान तारीखनवीसों के विवरण अधिक सच हैं। उन्होंने इस्लाम की जीत, हिंदू मंदिरों के विध्वंस, लूट और लोगों को गुलाम बनाकर बाहर बेचने के विस्तृत वर्णन लिखे हैं। वामपंथी इतिहासकारों ने भारत में मुसलमानों के 'आगमन' की बात इस तरह की है मानो वे किसी टूरिस्ट बस में बैठ कर आये थे, और प्रेमवश यहीं रह गये।

यह ठीक है कि बाद में आये ब्रिटिश शासकों का अपना गृह देश था, जहाँ वे यहाँ से लूट का माल ले जाते थे और अंततः जहाँ वे लौट गये। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है, लेकिन तुर्कों

के मामले में बेकार हो जाता है। तुर्क लोग अपना मूल स्थान खोकर आवारा लड़ाके बन गये थे। उन्होंने ट्रांसआक्सियाना, सिंकियांग, खुरासान और ईरान के उत्तरी भागों पर आक्रमण किये। कुछ का कत्ल किया, बाकी के साथ शादियाँ की, और इन सभी जगहों को अपना घर बना लिया। यही उन्होंने कौंस्टेंटीनोपल में भी किया, जिसे आज तुर्की कहते हैं। भारत में भी उन्होंने वही करने की कोशिश की, लेकिन हिंदुओं के कड़े, निरंतर प्रतिरोध के कारण विफल रहे। पर, तुर्कों का कोई गृह देश ही नहीं था, जहाँ वे लूट का माल ले जाते या खुद वापस जाते।

लेकिन, सीताराम गोयल पूछते हैं, इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह लूटा धन कहाँ जाता, जब तक कि हमलावरों का मुख्य काम विजित लोगों को लूटना, मारना हो? यदि महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी को विदेशी हमलावर मानें, क्योंकि वे उत्तर भारत से माल लूट कर गजनी ले गये। तो वही तर्क मामलूकों, खिलजियों, तुगलकों, लोदियों, सूरों, मुगलों पर भी लागू है, जो भारत के दूसरे भागों से लूट कर माल दिल्ली लाते थे। वही तर्क स्थानीय मुस्लिम राजवंशों पर भी लागू होना चाहिए जो लूट कर माल जौनपुर या पांडुआ, या धार और मांडू या पाटन और अहमदाबाद, या दौलताबाद और बीदर और गुलबर्गा, या अहमदनगर और बीजापुर और गोलकुंडा ले जाते थे।

जिन तर्को से तुर्कों, मुगलों को भारतीय कहने की जिद की जाती है, उससे ब्रिटिश भी देशी कहे जाएंगे। उन्होंने मुगलों से बढ़कर यहाँ शानदार महल, चौपाल, चर्च, पर्वतीय स्थल, और नयी दिल्ली समेत बड़े-बड़े नगर बनाये। विशाल औद्योगिक, व्यापारिक परियोजनाएँ, राजमार्ग, रेलवे, आदि खडा किया। ब्रिटेन में आज भी ऐसे असंख्य परिवार भारत से अपने पुराने संबंधों पर गर्व करते हैं।

मुस्लिम शासकों ने अपने लिए विलासिता पूर्ण शानदार महल बनवाये। उन्होंने मस्जिदें और मदरसे भी बनवाये, और असंख्य मुल्लों को संरक्षण दिया। अपने और अपनी चुनी हुई बीवियों के लिये बगीचों से घिरी और रत्नों से जड़ी बड़ी-बड़ी कब्रें बनवायी। खानकाह और दरगाहें बनवाया और उन्हें धन दिया जिनमें सूफी रहते, गाते, नाचते और प्रचार करते थे। यह सभी इमारतें इतिहास की पुस्तकों में वर्णित हैं। उनकी तस्वीरें पर्यटकों द्वारा खींची जाती हैं। वे यही छाप छोड़ती हैं कि मुस्लिम शासन के अधीन मध्यकालीन भारत चमक-दमक वाली जगह थी। उन भवनों में रचित कला-कारीगरी, पोशाक, हस्तलेख, फारसी पद्य-गद्य, कुरान और हदीस पर अरबी व्याख्याएँ, दरबारी संगीत, नृत्य, इस्लामी सूफियों के संवाद जोड़ दें। किसी प्रदर्शनी में इन सबको इकट्ठे देखकर यही छाप पड़ेगी कि मुस्लिम शासन में भारत उन्नति का स्थान था। मगर, केवल मुसलमानों के लिए!

दरअसल, भारत में मुस्लिम शासन विदेशी शासन का प्रारंभिक और अधिक क्रूर नमूना था। किसी भी बड़े मुस्लिम शासक ने कोई भारतीय भाषा सीखना या बोलना स्वीकार नहीं किया। गौरव का स्थान हमेशा अरबी, फारसी, तुर्की को रहा, जैसे ब्रिटिश राज में अंग्रेजी का था। सत्ता के सारे पद अरब, तुर्क, फारसी, अबीसीनियाई मुस्लिमों के लिए सुरक्षित थे, जैसे ब्रिटिश राज में गोरे ब्रिटिश लोगों या यूरोपीय लोगों के लिए थे। मुस्लिम शासकों की पोशाक, भोजन, पेय, उनके शौक, सुंदर लड़के-लड़कियों का मोल लगाना-उन की पूरी जीवन शैली में भारतीयता उतनी ही नगण्य थी, जैसी बाद के ब्रिटिश शासकों में।

बल्कि, कई मामलों में ब्रिटिश शासक अधिक उदार थे। सभी मुस्लिम शासकों ने हिंदुओं का बलात् धर्मांतरण कराया, हिंदू मंदिर तोड़े, तथा हर हिंदू भावना और संस्था को अपमानित कर चोट पहुँचाई। सभी मुल्लों और सूफियों ने हिंदू धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ायी और घृणा प्रकट की। किंतु, कोई हिंदू इस्लामी दावों, कायदों पर संदेह का एक शब्द भी नहीं बोल सकता था। जबकि ब्रिटिश शासकों ने चर्च-मिशनरियों को हिंदुओं का धर्मांतरण बलपूर्वक कराने की कभी इजाजत नहीं दी। उन्होंने हिंदू मंदिरों को कभी अपवित्र नहीं किया, न हिंदू धर्म संस्कृति को अपमानित किया। हिंदू लोग क्रिश्चियनिटी के दावों पर खुले आम प्रश्न उठा सकते थे, जिस पर ब्रिटिश प्रशासक कोई ध्यान तक नहीं देते थे।

जवाहरलाल नेहरू जी ने तर्क दिया है कि मुगल शासकों ने हिंदू स्त्रियों से विवाह किया। इसलिए उनकी संतानें भारतीय हो गयीं। लेकिन उन्होंने इसे नजरअंदाज किया कि हरेक मुस्लिम शासक, अधिकारी इसे अपना अधिकार समझता था कि अपने हरम में चाहे जितनी हिंदू स्त्रियाँ जबरन उठा ले जाए। वह अनगिनत हिंदू रखैलें भी रखता था। किंतु कोई हिंदू किसी मुस्लिम लड़की से विवाह का सपना भी नहीं देख सकता था, चाहे वह हिंदू परिवार से धर्मांतरित हुई मुस्लिम लड़की ही क्यों न हो। किसी मुस्लिम लड़की से प्रेम भी करने की सजा हिंदू के लिए मौत थी। ऐसा कुछ यहाँ ब्रिटिश राज में न था। वे मनमाने तौर पर भारतीय स्त्रियों पर हाथ नहीं डालते थे। वे ब्रिटिश स्त्रियों से भारतीयों का विवाह भी नहीं रोकते थे।

अतः केवल इस तर्क से, कि वे आक्रमणकारी यहीं रह गये, या हिंदुओं से जबरन धर्मांतरित हुए मुसलमानों के वंशज अब अपने को उन मुस्लिम शासकों के वारिस समझते हैं, उनको देशी नहीं माना जा सकता। यदि स्वतंत्र भारत के शासक अपने अज्ञानवश

या क्षुद्र राजनीतिक उद्देश्यो से इतिहास विकृत करने की माँग करते हैं, तो यह हिंदू समाज के पैर के नीचे से अंतिम आधार खिसकाने जैसा है। इसीलिए, सच्चे या विकृत इतिहास की गंभीर भूमिका को समझना चाहिए। इस दृष्टि से, यह एक बहुमूल्य पुस्तक है, जिसमें प्रमाणिक स्रोतों से यहाँ इतिहास-लेखन और विमर्श पर होते रहे सभी विवादित मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

गत चार दशकों से यहाँ जो विकृत इतिहास पढ़ाया जा रहा है, इसके पहले संकेत पर ही वरेण्य इतिहासकार रमेशचंद्र मजूमदार ने कहा था, कि ऐसा इतिहास पढ़ाने से अच्छा है कि यह विषय ही न पढ़ाएँ! पर उलटा ही होता गया। तमाम असुविधाजनक सच्चाइयों पर चुप्पी रखते हुए दुष्प्रचार फैलाया गया। इसमें वामपंथी इतिहासकारों ने और सक्रिय भूमिका निभायी। उनका मुख्य प्रचार यह है कि मध्यकालीन भारत में हिंदू और मुसलमान एक जैसी स्थिति में थे। जब कि स्वयं मुस्लिम लेखकों, विद्वानों, कवियों ने लिखा है कि वह मुसलमानों की शान का जमाना था।

निस्संदेह, इस्लाम ने एक ऐसे बड़े देश पर साम्राज्य कायम किया जो अपने वैभव में अतुलनीय था। यहाँ अनगिनत मुस्लिम शासकों, लेखकों, सूफियों, आदि ने इस पर बार-बार गर्व प्रकट किया है कि 1. लाखों-लाख घृणित काफिरों को दोजख भेज दिया गया, 2. मूर्तिपूजा के हजारों स्थलों को खत्म किया गया, 3. हजारों ब्राह्मणों और भिक्षुओं को मार डाला गया और अन्य को गो-मांस खिलाया गया, 4. भारी मात्रा में बहुमूल्य चीजें लूटी गयीं और उसे प्रोफेट मुहम्मद द्वारा तय नियम के अनुसार मुसलमानों में बाँट लिया गया, 5. लाखों-लाख पुरुषों और स्त्रियों और बच्चों को पकड़ कर दूर-दराज इस्लामी देशों में गुलाम और रखैलों के रूप में बेचा गया, 6. बड़ी आबादी की सत्ता और सुविधा हथियाई गयी, जिसे दासता में रखा गया, और 7. तलवार के बल पर इस्लाम का वर्चस्व बनाया गया।

लेखक ने आशा व्यक्त की है कि इस तरह मामले को साफ-सुथरा रखने से अधिकांश मुस्लिम सकारात्मक रूप से प्रतिक्रिया देंगे। उन युवाओं के मन-मस्तिष्क और हृदय को सामान्य मानवीय मूल्यों के प्रति खोलने, और उस कैद-मानसिकता से बाहर लाने की दिशा में कम-से-कम एक अच्छी शुरुआत होगी, जिसमें अधिकांश मुस्लिम सदियों से रह रहे हैं।

पुस्तक के छोटे परिशिष्ट में उन आपत्तियों का भी लेखक ने उत्तर दिया है जो पाठक जगत से आयी थी, जब मूल अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुयी थी, तब से लगभग चार दशक बाद उन बातों, विवादों, संदेहों, निराकरणों की मूल्यवत्ता कितनी यथावत है, यह हिंदी पाठक स्वयं देख सकेंगे।

मुस्लिम शासकों ने अपने लिए विलासिता पूर्ण शानदार महल बनवाये। उन्होंने मस्जिदें और मदरसे भी बनवाये, और असंख्य मुल्लों को संरक्षण दिया। अपने और अपनी चुनी हुई बीवियों के लिए बगीचों से घिरी और रत्नों से जड़ी बड़ी-बड़ी कब्रें बनवायी। खानकाह और दरगाहें बनवायी और उन्हें धन दिया जिनमें सूफी रहते, गाते, नाचते और प्रचार करते थे। यह सभी इमारतें इतिहास की पुस्तकों में वर्णित हैं। उनकी तस्वीरें पर्यटकों द्वारा खींची जाती हैं। वे यही छाप छोड़ती हैं कि मुस्लिम शासन के अधीन मध्यकालीन भारत चमक-दमक वाली जगह थी। उन भवनों में रचित कला-कारीगरी, पोशाक, हस्तलेख, फारसी पद्य-गद्य, कुरान और हदीस पर अरबी व्याख्याएँ, दरबारी संगीत, नृत्य, इस्लामी सूफियों के संवाद जोड़ दें। किसी प्रदर्शनी में इन सबको इकट्ठे देखकर यही छाप पड़ेगी कि मुस्लिम शासन में भारत उन्नति का स्थान था। मगर, केवल मुसलमानों के लिए!

यहाँ मुस्लिम शासन का वर्णन प्रसिद्ध तारीखे-वसाफ के लेखक अब्दुल्ला वसाफ बिन फदलुल्लाह ने इन शब्दों में किया है, "बुतपरस्ती को झुकाने और बुतों (मूर्तियों) को तोड़ने के लिए मजहबी सुरूर की रौ ऊँची फड़कती थी... मुहम्मदी सेनाओं ने इस्लाम के लिए उस नापाक जमीन पर बायें-दायें, बिना कोई मुरव्वत मारना और कत्ल करना शुरू किया, और खून के फव्वारे छूटने लगे। उन्होंने इस पैमाने पर सोना और चाँदी लूटा जिसकी कल्पना नहीं हो सकती, और भारी मात्रा में जवाहरात और तरह-तरह के कपड़े भी... उन्होंने इतनी बड़ी संख्या में सुंदर और छरहरी लड़कियों और लड़कों और बच्चों को कब्जे में लिया, जिसका कलम वर्णन नहीं कर सकती.. संक्षेप में, मुहम्मदी सेनाओं ने देश को बिलकुल ध्वस्त कर दिया और वहाँ के बाशिंदों की जिंदगी तबाह कर दी और शहरों को लूटा, और उनके बच्चों पर कब्जा किया, ऐसा कि अनेक मंदिर उजाड़ हो गये और देवमूर्तियाँ तोड़ डाली गयीं और पैरों के नीचे रौंदी गयीं, जिनमें सबसे बड़ा था सोमनाथ। उसके टुकड़े दिल्ली लाये गये और जामा-मस्जिद के रास्ते में उसे बिछा दिया गया ताकि लोग याद रखें और इस शानदार जीत की चर्चा करें ... सारी दुनिया के मालिक, अल्लाह की शान बनी रहे।"

इस प्रकार, सच्चा इतिहास यह है कि हिंदुओं के लिए वह काल अंधकार का लंबा युग था जो तभी खत्म हुआ जब 18वीं सदी के मध्य में मराठों, जाटों और सिखों ने इस्लामी साम्राज्यवाद की कमर तोड़ दी। इस

पुस्तक में इस अध्याय का भी संकेत है कि भारत कोई बार-बार हारने वाला देश नहीं है। कार्ल मार्क्स के शब्दों में, ''किसी न किसी बाहरी हमलावर से शासित होने वाला'' देश नहीं था। अकबर और उस के बाद की थोड़ी अवधि को छोड़, यहाँ किसी मुस्लिम शासक का राज दीर्घ या सशक्त नहीं हो पाया था।

उस इतिहास को विस्तार से जानना ही भारत की सच्ची राष्ट्रीय एकता को बल पहुँचाएगा। इस्लामी हिंसा के सदियों के इतिहास के कारण ही नायपॉल ने भारत को 'एक घायल सभ्यता' की संज्ञा दी थी। हमें सच का सामना करना चाहिए। भारत में इस्लामी शासन उतना ही भयावह परिणामदायक रहा था जितना बाद में आया क्रिश्चियन शासन। मुसलमानों ने भारत में एक आतंककारी सभ्यता बनायी।

सीताराम गोयल ने ध्यान दिलाया है कि यह सारा इतिहास स्वयं इस्लामी स्रोतों से ही उपलब्ध हुआ है। हिंदुओं ने उसकी कोई तफसील नहीं रखी। लोक-कथाओं, कहावतों में उसकी गाथा जरूर चलती आयी। किंतु अकादमिक लेखन गत सात-आठ सदियों के मुस्लिम तारीखनवीसों और कुछ अन्य विदेशियों ने ही मोटी-मोटी ऐतिहासिक किताबों में लिखा है। वे सभी सामग्रियाँ पश्चिमी और भारतीय विद्वानों के एक समूह द्वारा सावधानी पूर्वक व्यवस्थित, तुलनीय, संपादित, टिप्पणियाँ जोड़कर स्पष्ट की गयीं और अनूदित की गयीं।

उन विद्वानों ने कुल मिलाकर इसमें अत्यंत श्रमसाध्य और सत्यनिष्ठ काम किया है। उसमें किसी गंभीर विकृति या गलत प्रस्तुति का उदाहरण मुश्किल से मिलेगा। अन्य विद्वानों ने यह शोध भी किया कि अधिकांश मुस्लिम सुलतानों, बादशाहों, मुल्लों और सूफियों ने जो राक्षसी काम किये, क्या

सीताराम जी के अनुसार, एक स्वस्थ और मानवीय शिक्षा व्यवस्था ने उन तमाम तथ्यों को हमारे मुस्लिम युवा लड़के-लड़कियों के समक्ष रखा होता, और उनके सामने कुछ यह प्रस्ताव दिया होता : "मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार ये सभी बातें और काम यहाँ मुस्लिम शासकों, सूफियों, और मजहबी जानकारों ने किये हैं; ये सभी काम उन दूसरे देशों में भी मुस्लिम शासकों, सूफियों ने किए जहाँ-जहाँ इस्लामी सेनाएँ गयीं और अपना कब्जा किया; ये सभी काम कुरान और सुन्ना और शरीयत में निरूपित इस्लाम के सिद्धांतों से मेल खाती हैं। हमारी आपसे एक मात्र अपील यह है कि आप इन सबका मूल्यांकन स्वभाविक मानवीय विवेक, मनुष्य की स्वभाविक नैतिक समझ, और मानवीय भाईचारे के प्राथमिक सिद्धांतों से करें।

वह सब इस्लाम के सिद्धांतों द्वारा अनुमोदित हैं? क्या वे कुरान, प्रोफेट के सुन्ना (व्यवहार) और शरीयत से मेल खाते हैं? सभी विद्वानों ने कमो-बेश एकमत पाया कि वे तमाम अत्याचार इस्लाम की मूल किताबों में इतने स्पष्ट शब्दों में अनुमोदित हैं कि उसमें रंच-मात्र गलतफहमी की भी गुंजाइश नहीं। इस्लाम के नायक उचित ही गर्व कर सकते हैं कि उन्होंने इस्लाम की सीख और प्रोफेट की विरासत का पूरी विश्वसनीयता से पालन किया।

सीताराम जी के अनुसार, एक स्वस्थ और मानवीय शिक्षा व्यवस्था ने उन तमाम तथ्यों को हमारे मुस्लिम युवा लड़के-लड़कियों के समक्ष रखा होता, और उनके सामने कुछ यह प्रस्ताव दिया होता :- "मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार ये सभी बातें और काम यहाँ मुस्लिम शासकों, सूफियों, और मजहबी जानकारों ने किये हैं; ये सभी काम उन दूसरे देशों में भी मुस्लिम शासकों, सूफियों ने किये जहाँ-जहाँ इस्लामी सेनाएँ गयीं और अपना कब्जा किया; ये सभी काम कुरान और सुन्ना और शरीयत में निरूपित इस्लाम के सिद्धांतों से मेल खाते हैं। हमारी आपसे एक मात्र अपील यह है कि आप इन सबका मूल्यांकन स्वभाविक मानवीय विवेक, मनुष्य की स्वभाविक नैतिक समझ, और मानवीय भाईचारे के प्राथमिक सिद्धांतों से करें। बिना मुल्लों और सूफियों की छलपूर्ण लफ्फाजियों, अथवा अलीगढ़ और स्तालिनवादी संप्रदाय के इतिहासकारों की जाली दलीलों का उपयोग किये। आपमें सहज मानवीय बुद्धि, चेतना और नैतिकता उतनी ही है, जितनी किसी भी अन्य समुदाय के युवाओं में। हम आपके निर्णय की प्रतीक्षा करेंगे।"

लेखक ने आशा व्यक्त की है कि इस तरह मामले को साफ-सुथरा रखने से अधिकांश मुस्लिम सकारात्मक रूप से प्रतिक्रिया देंगे। उन युवाओं के मन-मस्तिष्क और हृदय को सामान्य मानवीय मूल्यों के प्रति खोलने, और उस कैद-मानसिकता से बाहर लाने की दिशा में कम-से-कम एक अच्छी शुरुआत होगी, जिसमें अधिकांश मुस्लिम सदियों से रह रहे हैं।

पुस्तक के छोटे परिशिष्ट में उन आपत्तियों का भी लेखक ने उत्तर दिया है जो पाठक जगत से आयी थीं, जब मूल अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। तब से लगभग चार दशक बाद उन बातों, विवादों, संदेहों, निराकरणों की मूल्यवत्ता कितनी यथावत है, यह हिंदी पाठक स्वयं देख सकेंगे। ❖❖

कथा अनुपस्थित संवेदना की

डॉ. कृष्णा शर्मा
कथाकार

संपर्क :
डॉ. कृष्णा शर्मा
उप-प्राचार्या, पीजीडीएवी महाविद्यालय
पता : एफ-2201, सनशाईन, हिलियूस,
सेक्टर – 78, नोएडा (उत्तर प्रदेश)
-201301
फोन न. 9871726471
ई-मेल : krishnasharmapgdav@gmail.com

पुस्तक : कौन ठगवा नगरिया लूटल हो
लेखक : मालती जोशी
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2019

पाँच दशक से अधिक कथा-लेखन में निरंतर सक्रिय मालती जोशी का नवीनतम कथा संग्रह 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' में चौदह नयी कहानियाँ उनके रचना-संसार की एक 'मुकम्मल तस्वीर' प्रस्तुत करने में पर्याप्त सक्षम हैं। मालती जी किसी 'कथा आंदोलन' की लेखिका नहीं हैं और न ही 'विमर्शों' के दायरे में बंधी हुई हैं। 'विमर्श' के बंधे- बंधाये सांचे से उनकी रचनाएँ नहीं निकलतीं, -- न कथ्य और वस्तु के स्तर पर और न ही शिल्प के स्तर पर। 'नयी' 'पुरानी' कहानी के विवादों से सर्वथा परे उनकी कहानियाँ पहली दृष्टि में एक बंधे-बंधाये ढर्रे की कहानी प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि किसी भी मायने में यह एक ढर्रे की कहानियाँ न होकर मानवीय मनोभावों को बड़ी ही सहजता से व्यक्त करने वाली कहानियाँ हैं। कहना न होगा कि मानवीय मनोभावों को किसी एक ढर्रे में बाँध कर नहीं देखा जा सकता है। हाँ, यह आवश्यक है कि इन तमाम कहानियों के केंद्र में एक ऐसी संवेदना की दरकार अवश्य दिखती है, जिसे हम प्रायः अपने आस-पास 'अनुपस्थित' पाते हैं।

अपने लेखन के विषय में वे पुस्तक की भूमिका 'मैं और मेरी कहानियाँ' में इस तथ्य को स्वयं ही स्पष्ट कर देती हैं- "मेरा लेखन जितना बहुआयामी रहा है, जीवन उतना ही सीधा-सपाट रहा, आम मध्यवर्गीय लड़कियों की तरह मैं पली, बढ़ी और ब्याही गयी। जीवन भर गृहिणी बनी रही। बच्चों की परवरिश की, मेहमानों की आवभगत की, बड़े-बुजुर्गों की सेवा की- इसके साथ जितना बन सका, जैसा बन सका - लिखती रही।" जीवन जितना बहुआयामी हो सकता है, उतनी ही बहुआयामी ये कहानियाँ हैं। मालती जी पारिवारिक परिवेश को जीवंत करने वाली लेखिका हैं - परिवार में जो उतार-चढ़ाव, वाद-विवाद, सहमति-असहमति, समर्पण, अहंकार सब कुछ साथ-साथ चलता है, और यही सब कुछ इन कहानियों में अलग-अलग रंगों में बड़ी ही तफ्सील से मिलता है। एक 'अडोप्टेड चाइल्ड' की अपने वास्तविक माता-पिता के प्रति क्या भाव हो सकते हैं अनुमान लगाना कोई दुष्कर कार्य नहीं है- 'नाराज थी, उनसे नफरत थी।' लेकिन यह नाराजगी और नफरत की जिंदगी कैसे एकदम पलट जाती है- "पर जिस दिन पहली बार अमृता को गोद में लिया उस दिन सारी नाराजगी, सारी नफरत ममता के ज्वार में बह गयी। समझ गयी कि कोई बहुत बड़ी मजबूरी रही होगी नहीं तो अपने कलेजे के टुकड़े को कोई यूँ ही छोड़कर नहीं जाता। और मजबूरी क्या होगी, हम-आप समझते हैं।" दरअसल मालती जी की कहानियाँ ठूँठ विद्रोह की कहानियाँ नहीं हैं, संघर्ष की कहानियाँ हैं, संघर्ष भी जितना दूसरे से है उससे कहीं अधिक अपने से है, अपनी बात रखने, अपने को व्यक्त कर पाने का संघर्ष है। मालती जी की कहानियों की स्त्री अपनी स्वतंत्रता परिवार के बाहर नहीं ढूँढती, बल्कि पारिवारिक परिवेश में रहकर ही वह अपनी 'इयत्ता' को प्रमाणित करती है- "शर्म, संकोच लिहाज ये शब्द तो इस घर से विदा ही हो चुके हैं। न आपको अपनी पत्नी को कोसते शर्म आती है, न बेटी को घर से निकलते संकोच होता है, न बेटी बाप का लिहाज कर रही है, तो मैं अकेली ही सभ्यता का मुखौटा क्यों लगाये रखूँ? मुझे भी अपनी बात कहने का हक होना चाहिए। और अपनी बात कह कर रहूँगी।" और वह बेधड़क होकर जब अपनी बात कह देती हैं तो जिस आत्मतोष का अनुभव हो सकता है, समझना मुश्किल नहीं है- "यह मुँह बाये मुझे देखते ही रह गये। ऐसे धाराप्रवाह भाषण की उन्होंने मुझसे अपेक्षा नहीं की होगी। उन्हें क्या, खुद मुझे अपने पर

आश्चर्य हो रहा था।" यह आश्चर्य दरअसल वही आत्मसंतोष है, जो अपने भीतर की पीड़ा-दर्द और उपेक्षा को साक्षात् चुनौती देकर निकलता है, यह 'चुनौती' उस 'पनौती' के जवाब में है जिसे वह वर्षों-वर्षों तक झेलती रहीं- 'तुम तो ऐसी पनौती बन कर आयी हो कि एकदम ठन ठन गोपाल हो गया हूँ।... यह पनौती शब्द कानों में हथौड़े की तरह बज रहा था। ऐसा भी नहीं है कि यह शब्द मैंने पहली बार सुना हो।' और फिर इस अपमान के समक्ष तन कर खड़ी हो जाती है और चुनौती देती है तो खुद को ही बड़ा संतोष होता है- "पता नहीं कितने दिनों से कितनी बातें मन पर बोझ बनी हुई थीं। एक साथ बाहर निकल गयी, अच्छा लगा।" मालती जी की कहानियों में मध्यवर्गीय परिवारों की ही दास्तान है, क्योंकि यह मालती जी की जानी-पहचानी दुनिया है। मध्यवर्ग ही वास्तव में नैतिकता की रक्षा करता है। सारे सामाजिक और धार्मिक रस्मों-रिवाज निभाता है। मध्यवर्ग के छोटे-छोटे दुःख, छोटी-छोटी समस्याएँ उनकी कहानियों में अनायास हैं। उनसे जब पूछा गया कि अन्य वर्गों के बारे में वह कभी नहीं लिखती तो उन्होंने कहा 'इसका उन्हें अनुभव नहीं है। उधार के अनुभवों से वह कभी नहीं लिखतीं।'

मालती जोशी की कहानियों का घरेलूपन ही उनकी शक्ति है। उनकी दुनिया घर-आँगन में ही सिमटी है, परिवार ही उनकी कहानियों का केंद्र है। उनके कथा साहित्य को पढ़ते हुए एक ऐसी लेखिका से मुलाकात होती है जो बोलती कम है पर उसका आशय यह कतई नहीं है कि वह समझौतावादी हैं। वह बेटी हैं, बहन हैं, पत्नी हैं, माँ हैं और न जाने क्या क्या हैं और उसकी उपलब्धि यह भी है कि अपने सभी रूपों में, उसने खामोशी से अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान देने का निरंतर प्रयास किया है। लेखिका स्वयं को एक आम मध्यवर्गीय महिला के रूप में ही समझती हैं। उन्हें अपने बारे में कोई मुगालता नहीं है कि वह कोई बड़ी साहित्यकार बन गई हैं। यह कहना उचित होगा कि जीवन के इस मोड़ पर भी लेखिका के पाँव जमीन पर ही हैं। आज एक अक्षर लिखना शुरू करने से पूर्व कलम संभालते ही स्वयं को श्रेष्ठता की दौड़ में शामिल करने की जुगाड़बाजी और पुरस्कारों के लिए जोड़तोड़ करने की पैंतरेबाजी बहुत आम है। इस दृष्टि से मालती जोशी भीड़ में होते हुए भी अपने आचरण और व्यवहार की बदौलत स्वयं को भीड़ से अलग साबित करने में पूरी तरह सफल रही हैं।

यदि परिवार उनकी प्राथमिकता रही है तो परिवार भी उनकी उपलब्धियों से हमेशा गौरवान्वित अनुभव करता रहा है। वह किसी भी राजनीतिक दल, सामाजिक संस्था या लेखकीय संगठन की सदस्य नहीं हैं। उनका मानना है कि जिसके पास संवेदनशील मन है वह किसी भी दुःख, अन्याय, अत्याचार को अनदेखा नहीं कर सकता। उन्हें कथा बीज ढूँढने के लिए कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता।

ऐसा नहीं है कि परिवार में हमेशा पुरुष ही गलत होता है, स्त्री भी कहीं गलत हो सकती है - परिवार का यही सच है। इसलिए 'नो सिम्पथी प्लीज' कहानी की मुख्य पात्रा को जब यह पता चलता है कि उसकी ही बहन ने अपने होने वाले पति को विवाह से चार दिन पूर्व यह संदेश भेजा था कि वह इस विवाह को मना कर दे क्योंकि वह किसी और को चाहती है,- अपने माँ-बाप के सामने मुँह खोलने की हिम्मत नहीं थी तो मुझसे कहा जा रहा था कि शादी के लिए मना कर दीजिए। मेरे माँ-बाप क्या किराए के थे? उनके प्रति मेरी कोई जवाबदेही नहीं थी? मना करने का क्या कारण बताता मैं और उस पर कौन विश्वास करता। दुनिया वाले तो यही समझते कि हमने कोई बड़ी सी माँग रखी होगी। तुम्हारी दीदी ने शादी की पहली रात को ही ऐलान कर दिया कि आपका सिर्फ मेरे तन पर अधिकार है। मन से मैं कभी आपको स्वीकार नहीं कर सकूँगी और एक हमारी दीदी थी जो जिंदगी भर सहानुभूति बटोरती रहीं। हमेशा कहती - इनके खानदान के लिए मैं शहीद हो गयी।' तो इस कहानी की नायिका अपनी बहन (स्त्री) के पक्ष में नहीं, उसके प्रति (पुरुष) के पक्ष में बिना किसी हिचक के बोलती है- 'तुम नहीं, शहीद तो यह भला आदमी हुआ है दीदी। तुम्हारे असफल प्रेम की वेदी पर उसकी बलि दी गयी। जिंदगी भर यह व्यक्ति अपने अनकिये अपराध की सजा भुगतता रहा है। उपेक्षा झेलता रहा। पर मजाल है कि किसी को हवा भी लगने दी हो।' मालती जोशी की कहानियों में हमेशा ही पुरुष 'पूर्व- निर्धारित' खलनायक नहीं है, कहीं-कहीं स्त्री भी इस भूमिका को निभाती है जैसा कि 'निर्वाचन' में है। इन कहानियों में यदि एक केंद्रीय तत्त्व की खोज की जाए तो वह मानवीय संबंधों में निरंतर कहीं गुम होती हुई संवेदना है जो मृत्यु के मातम भरे वातावरण को भी एक अवसर के रूप में देखता है। 'इसी बहाने' कहानी में एक परिवार में एक मात्र

कमाऊ सदस्य की मृत्यु हो जाने पर अड़ोसी-पड़ोसी और मित्र-दोस्तों के परिवार भविष्य की चिंता करते दिखायी देते हैं और सगे संबंधी,- सगी बहने इस मौके को अपने बेटे के लिए उस शहर में लड़की देखने के लिए करती हैं और बड़ी ही निर्लज्जता से कहती हैं- "नहीं रे, अभी सवा महीने तक इस घर में कोई शुभ कार्य नहीं हो सकता। सगाई अब अपने घर जाकर ही करूँगी। इसी बहाने लड़की वाले भी मेरा घर देख लेंगे। और तुम लोगों को भी जरूर आना है - सगाई में न सही पर शादी में जरूर आना।" दरअसल मालती जोशी की कहानियाँ पाठक पढ़ते-पढ़ते जीने लगता है। इस संग्रह की 'घुटन' ऐसी ही कहानी है जो आम मध्यवर्गीय परिवार की उस स्त्री की दास्तान है जिसके तमाम स्वप्नों, योग्यताओं और आकांक्षाओं को बड़ी ही क्रूरता से कुचल दिया जाता है, और फिर विवाह के पश्चात परिवार के दायित्व को स्वीकारते हुए भी एक

'इसी बहाने' कहानी में एक परिवार में एक मात्र कमाऊ सदस्य की मृत्यु हो जाने पर अड़ोसी-पड़ोसी और मित्र-दोस्तों परिवार के भविष्य की चिंता करते दिखायी देते हैं और सगे संबंधी,- सगी बहने इस मौके को अपने बेटे के लिए उस शहर में लड़की देखने के लिए करती हैं और बड़ी ही निर्लज्जता से कहती हैं- "नहीं रे, अभी सवा महीने तक इस घर में कोई शुभ कार्य नहीं हो सकता। सगाई अब अपने घर जाकर ही करूंगी। इसी बहाने लड़की वाले भी मेरा घर देख लेंगे। और तुम लोगों को भी जरूर आना है - सगाई में न सही पर शादी में जरूर आना।" दरअसल मालती जोशी की कहानियाँ पाठक पढ़ते-पढ़ते जीने लगता है।

दिन उसकी पीड़ा सामने आ ही जाती है – "वैभवी - मैंने मन ही मन उससे कहा, अच्छा हुआ जो तुम इन असुरों के - मेरा मतलब है बेसुरों के घर में नहीं आयी। नहीं तो गाना क्या गुनगुनाना भी भूल जाती। तुम्हारे तमगों की खूब नुमाइश होती। तुम्हारी ट्राफियाँ अलमारी में सजायी जातीं। तुम्हारे सर्टिफिकेट फ्रेम में जड़ दिये जाते। पर तुम्हारे स्वर कंठ में ही घुटकर रह जाते। वैसे ही जैसे मेरे रंग बेरंग हो गए हैं, जैसे मेरे शब्द निशब्द हो गए हैं।" कुल मिलाकर मालती जोशी की इन कहानियों में बार-बार स्त्री की पीड़ा, उपेक्षा और हीनता समझने का अनुभव सामने आता है, कहीं वह इसको बेमन से विवशता से स्वीकारती भी हैं तो कहीं खुलकर सामने भी आ जाती हैं। स्त्री-प्रश्न और स्त्री मुद्दे तो इन कहानियों में हैं लेकिन वे विमर्श के आग्रह में नहीं हैं, ये कहानियाँ विमर्श की नहीं 'संघर्ष' की कहानियाँ हैं। ❖❖

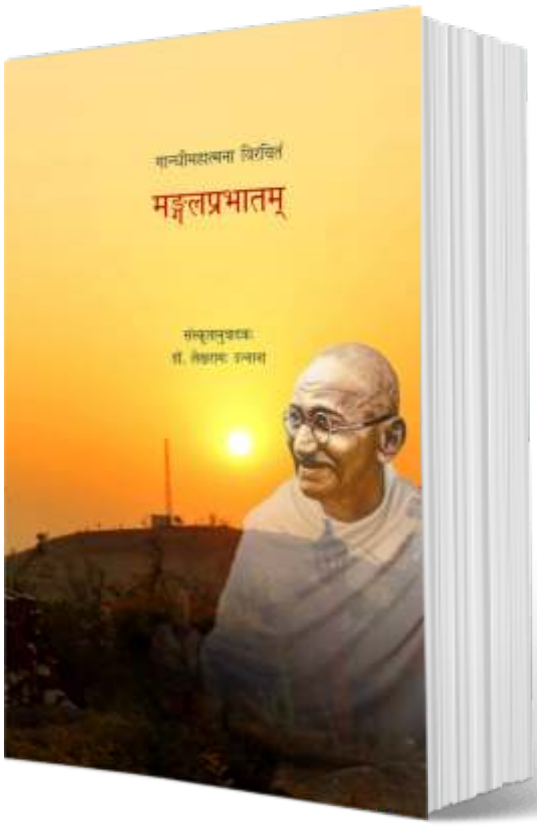

विश्वसभ्यता के विकल्प का विमर्शीय रेखांकन

डॉ. विश्वनाथ मिश्र

संपर्क :
एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीतिशास्त्र विभाग
आर्य महिला पीजी कालेज
(काशी हिंदू विश्वविद्यालय)
वाराणसी

पुस्तक : भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ
लेखक : अम्बिकादत्त शर्मा
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2015

अम्बिकादत्त शर्मा की भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अपनी कृति 'भारतीयता के सामासिक अर्थ-संदर्भ' में भारतीयता को समझने-समझाने की कोशिश पूर्ववर्ती ऐसे ही उपक्रमों से तीन अर्थों में भिन्न है। प्रथम, यह रचना भारतीय अतीत की अंधभक्ति पूर्ण गौरव-गान से संबंधित नहीं है। द्वितीय, यह रचना किसी पश्चिमी विश्वदृष्टि में आकंठ डूबकर परंपरा भंजन से संबंधित नहीं है। तृतीय, यह रचना शेष दुनिया से काटकर अलग-थलग भारत की चर्चा पर केंद्रित नहीं है। फलतः इस रचना का वैशिष्ट्य यह है कि यह न तो 'वेदों की ओर लौटो' के दयानंद के प्रतिक्रियात्मक दृष्टि की तरह भारतीयता के प्रति संकीर्ण है, न ही यह विवेकानंद की तरह भारतीय आध्यात्मिकता के साथ पाश्चात्य भौतिक प्रगति के समन्वय के समझौतावादी दृष्टि की तरह भारतीयता के प्रति सशंकित है, न ही यह गोविंदचंद्र पाण्डे के 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर' की तरह भारतीयता के प्रति मात्र दार्शनिकतावादी है। अम्बिकादत्त शर्मा की 'भारतीयता के सामासिक अर्थ-संदर्भ' नामक यह कृति यदि किसी अन्य ऐसी ही रचना से साम्य रखती है तो वह निश्चय ही महात्मा गांधी का ''हिन्द स्वराज'' है। दोनों में अंतर इतना है कि गांधी की अभिव्यक्ति में अवधारणात्मक विमर्श को छुपा देने वाली सरलता है तो वहीं इस पुस्तक में अभिव्यक्ति अपने अवधारणात्मक गांभीर्य के कारण किंचित् सघन हो गयी है। प्रो. शर्मा के इस ग्रंथ में ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं गांधी ''हिन्द स्वराज'' में और गहरे उतर रहे हों और भारत की आत्म छवि के बहाने पुरी दुनिया को आइना दिखा रहे हों और इन सब को दार्शनिक गहराई में उतरकर विमर्श तक पहुँचा रहे हों। इतना होने पर भी इस ग्रंथ की एक न्यूनता है जो ऐसे किसी गंभीर ग्रंथ में नहीं होनी चाहिए। वह न्यूनता यह है कि इसमें जितने गहरे विचार हैं, उतने इसके क्षैतिज विस्तार नहीं हैं। भारतीय संस्कृति के एकत्व या सामासिकता का प्रतिपादन वास्तव में अकाट्य तरीके से तभी संभव है जब इसके मूल और शाखा-प्रशाखा सभी पर उतने ही गहराई से विचार किया जाए जितने गहराई से इस ग्रंथ में भारत के आत्मतत्त्व (आत्मप्रतिमा) पर विचार किया गया है। इसके लिए विश्लेषणगत ईकाइयों (संकेतों) को इतिहास के विभिन्न काल खंडों में तथा भौगोलिक स्तर पर पूरब से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण तक को समाहित करना होगा, क्योंकि वह सांस्कृतिक एकत्त्व आज भी प्रच्छन्न नहीं अपितु प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है।

प्रो. शर्मा की पुस्तक में जो नौ अध्याय हैं, वे पृथक्-पृथक् रूप में भी पूर्ण हैं। यदि उनमें कुछ कमी है भी तो वे एक-दूसरे अध्यायों के साथ सहयोजित होने पर पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। 'विश्व सभ्यता और सांस्कृतिक संकट' से आरंभ करके 'पुरुषार्थ संतुलनवाद के मूलभूत सूत्र' तक पहुँचना एक दृष्टि से हिमालय की चोटी से हिंद महासागर के गहराई में उतरने जैसा है। इस नियोजन के माध्यम से लेखक ने समकालीन संकटापन्न विश्व सभ्यता के लिए वैकल्पिक भारतीय सभ्यताबोध का प्रस्ताव भी किया है। वास्तव में विश्व सभ्यता और सांस्कृतिक संकट से अभिहित प्रथम अध्याय जिस विमर्श को प्रस्तुत करता है, वह यह है कि आज विश्व सभ्यता तो निर्मित हो चुकी है किंतु विश्व संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ है। संस्कृतियाँ तो अभी भी वही हैं जो पाश्चात्य पुनर्जागरण से पूर्व थीं, जिन्हें प्रो. शर्मा ने अतीत में हमवतन बताया है वास्तव में वही संस्कृतियाँ तो आज निस्तेज हो रही हैं। ऐसा भी नहीं है कि इससे मात्र हिंदू, चीनी, इस्लामिक संस्कृतियाँ ही प्रभावित हैं बल्कि स्वयं ईसाई संस्कृति भी प्रभावित है जो स्वयं पूँजीवादी-उदारवादी समीकरण के साथ इस अभियान की सहायिका भी है।

प्रो. शर्मा ने विज्ञान, तकनीक, यूरोप केंद्रीयता, मनुष्य का निर्दैवीकरण, मनुष्य का मानकीकरण, अमर्यादित उपभोग और समानुभूति के अभाव को वैश्विक सभ्यता के सांस्कृतिक संकट

के रूप में पहचान की है। वास्तव में थोरो की यह चिंता कि 'हमें हाथ पैर (भौतिकता) को फैलाने की जगह (वर्तमान सभ्यता) तो मिल जाती है पर हमारी आत्मा कोने में ही सिमटी रहती है, सार्त्र के दर्शन के प्रामाणिक चयन के अभाव में 'परायेपन' की पीड़ा और रूसो के दर्शन की यह चिंता कि वर्तमान सभ्यता में मनुष्य का नैतिक पतन हो गया है, वही चिंता है जो प्रस्तुत अध्याय में सारभूत रूप में प्रकट हुई है। वैश्विक सभ्यता के सांस्कृतिक संकट की चर्चा के क्रम में प्रो. अम्बिका दत्त शर्मा भारत के भी सांस्कृतिक संकट की चर्चा करते हैं और इसका समाधान भारत की उस संस्कृति में ढूँढ़ते हैं जो तमाम उतार-चढ़ाव के बावजूद विद्रूप नहीं हुई है।

इस आत्मप्रतिमा की स्थापना हेतु वांछित दृष्टि एवं प्रयत्न क्या हो सकते हैं? मार्क्सवादी विश्वदृष्टि यूरोपीय सभ्यता के समक्ष वैकल्पिक सभ्यता का प्रस्ताव क्यों नहीं रख सकी? इन दो प्रश्नों पर विचार प्रो. शर्मा ने प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय अध्याय ''हिन्द स्वराज' : सभ्यताबोध और उसका प्रतिपक्ष' में किया है। इस अध्याय में भारतीय सभ्यताबोध के प्रतिपक्ष के रूप में मात्र पूँजीवादी-उदारवादी सभ्यता की ही चर्चा नहीं हुई है। अपितु कम्युनिस्ट मैन्युफेस्टो के बहाने मार्क्सवादी सभ्यताबोध की भी चर्चा हुई है। साथ ही भारतीय सभ्यताबोध की आत्मप्रतिष्ठा हेतु महात्मा गांधी के ''हिन्द स्वराज'' की अत्यंत मूलगामी दृष्टि से विवेचना की गयी है। मूलतः सत्ता संघर्ष एवं वर्चस्व की स्थापना हेतु संपूर्ण शीत युद्ध काल में पूँजीवादी और मार्क्सवादी सभ्यता के बीच जितना बाह्य विरोध दिखता है उतना वह है नहीं। दोनों की विश्वदृष्टि एक ही है। दोनों ही वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति एवं औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में मनुष्य की मुक्ति के सूत्र खोजते हैं। परंतु विज्ञान एवं तकनीक और इनसे जुड़े विशेषज्ञ भी मनुष्य की नियति को अपनी मुठ्ठी में कैद कर लेते हैं। इस तथ्य से उदारवाद और मार्क्सवाद दोनों ही आँख बंद किए हुए हैं।

इस रोग का निदान जिसे प्रो. शर्मा महात्मा गांधी के शब्दों में व्यक्त करते हैं, वह है- 'द्वेष भाव सिखानेवाली सभ्यता के स्थान पर प्रेमभाव सिखाने वाली सभ्यता का निर्माण'। यह प्रेमभाव सिखाने वाली सभ्यता भारतीय संस्कृति के मूल्यों में है, यह प्रेमभाव भोग से नहीं अपितु योग से निःसृत होता है। इस सभ्यता के निर्मायक सूत्रों को उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता के गांधी दृष्ट आधुनिक रूपांतरण में खोजा है। इसे भारतीय सभ्यता का गांधीवादी रूपांतरण कहना ही अधिक सम्यक् होगा, क्योंकि आधुनिक कहते ही पश्चिम की पकड़ में आ जाना है। इसी कारण ''हिन्द स्वराज'' में आधुनिक सभ्यता की मीमांसा करते हुए गांधी जब भारतीय विकल्प को प्रस्तुत करते हैं तब कहीं भी प्रायः आधुनिक अवधारणाओं की शब्दावली एवं भाषा में अपने मंतव्य को नहीं प्रकट करते हैं। उनकी शब्दावली एवं अवधारणा भी भारतीय ही है।

प्रो. शर्मा ने 'हिन्द स्वराज' के प्ररिप्रेक्ष्य में भारतीय सभ्यता की आत्म प्रतिमा प्रस्तुत करते हुए गांधी के भाषा-विमर्श को अछूता छोड़ दिया है। इसके लिए उन्होंने 'वैचारिक स्वराज और भाषिक राजपथ' नाम से लिखे गये तृतीय अध्याय का प्रणयन किया है। यह अध्याय एक तरह से के.सी. भट्टाचार्य के 'स्वराज इन आइडियाज' का उत्तर आख्यान है, जिसमें वैचारिक स्वराज के लिए 'भाषिक स्वराज' की पूर्व गृहीति को आवश्यक बताया गया है। इस अध्याय में पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु स्वतंत्र भारत में अपनाये गये विचारों एवं उसकी प्राप्ति हेतु बनायी गयी रणनीतियों की हकीकत को यदि किसी एक ही संदर्भ से अर्थान्वित किया जा सकता है तो वह है राजभाषा के प्रति हमारी सरकारों का नजरिया। घोषित तौर पर आज भी हमारी कोई राजभाषा है नहीं और राजभाषा के रूप में 'हिंदी' सरकारी फाइलों और कुछ प्रोजेक्टों में कैद है। भाषा यदि संस्कृति की वाहक है और लोक मानस की निर्मात्री तथा निर्मिति है, भाषा यदि राष्ट्र की चेतना का, व्यष्टि के अंतस में उतरने का माध्यम है तब नेहरू मंत्रिमंडल से लेकर आज तक की सरकारों ने जिस तरह हिंदी भाषा को आई.सी.यू. में भर्ती करके आक्सीजन की सप्लाई रोक रखी है, उसका औचित्य एवं निहितार्थ क्या है? आज भी वह सरकारों की ओर से उसी तरह उपेक्षित क्यों है? इन प्रश्नों के उत्तर की खोज करते हुए लेखक ने हमारे स्मृति पटल से ओझल हो रहे अनेक रोचक एवं तंद्राभंजक दृष्टांतों एवं उद्धरणों का उल्लेख किया है। स्वतंत्र भारत में गांधी के उत्तराधिकारी नेहरू ने जिस स्वराज का सूत्रपात गांधी के भाषाई विमर्श को धकियाकर आरंभ किया उसमें संपर्क भाषा (मात्र दस वर्ष हेतु) होते हुए भी अंग्रेजी को राज्याश्रय से बढ़कर सम्मान प्राप्त हुआ। आज भारत में भारत को निर्मूल करने की आत्म प्रवंचित विद्वत्समूह द्वारा जो प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है वह पश्चिम से आयातित

राजनीतिक-आर्थिकी एवं तकनीकी से कहीं ज्यादा अंग्रेजियत के भूत का कमाल है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिंदी का जो कुछ भी विकास हुआ है उसे प्रो. शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि यह स्वैच्छिक प्रयत्नों से हुआ है। इनमें हिंदी सिनेमा और लोकप्रिय राजनीति करने वाले हिंदी भाषी क्षत्रों का भी योगदान है। भले ही उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य हिंदी भाषा का विकास न होकर हिंदी भाषा के प्रति जननिष्ठा को वोट में बदलता रहा हो।

इस अध्याय में लेखक ने भारत रत्न भगवानदास के तर्कों के साथ अपनी सहमति दिखाते हुए विभाजित भारत में हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग के प्रति गांधी-दृष्टि के प्रति गहरी आपत्ति प्रकट की है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। ऐतिहासिक तथ्यता का तर्क तो यही कहता है कि जब हमारे हमवतन मुस्लिम भाइयों के एक बड़े समूह ने हमसे नाता तोड़ लिया तो हमें उनकी भाषा को पकड़े रहने की क्या जरूरत है? परंतु, प्रो. शर्मा को यह भी विचार करना चाहिए कि जितने बड़े मुस्लिम समूह ने हमसे स्वेच्छा से नाता तोड़ा उससे बड़े मुस्लिम समूह ने स्वेच्छा से हमारे ही साथ रहना स्वीकार किया। तब क्या हम अपनी शर्तों पर उन्हें अपनी भाषा से बहिष्कृत करके दंडात्मक न्याय का परिचय देंगे। एक तो हमारी हिंदी भारतीय संस्कृति की ही तरह समावेशी प्रकृति की है, दूसरे संस्कृत निष्ठता इसका प्राण है। प्राण संकट में डालकर तो इसका विकास हिंदुस्तानी में भी नहीं हो सकता है। अतः हिंदी की जीवन-शक्ति को बनाये रखते हुए उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग हिंदी की संप्रेषणीयता में इजाफा ही करेंगे। हाँ, इतना जरूर है कि इन शब्दों के प्रयोग में देवनागरी संस्करण से छेड़-छाड़ नहीं होनी चाहिए। हिंदी के विकास में स्वेच्छा से हमारे साथ रह रहे मुस्लिम भाइयों का भी योगदान अपेक्षित है और उन्हें भी भारत में रहने के अपने ही ऐतिहासिक निर्णय की निरंतर स्मृति हेतु अपने लेखन एवं बोल-चाल में हिंदी-निष्ठा को बढ़ावा देना चाहिए। आखिरकार जिस शैतानी सभ्यता से आज सनातन धर्मी हिंदू दो-चार हो रहे हैं, उसी शैतानी सभ्यता से हमारे हमवतन मुस्लिम भाई भी तो हो रहे हैं और हम दोनों ही अपना-अपना राग अलापते हुए इस शैतानी सभ्यता की गुलामी से मुक्त नहीं हो सकते हैं।

भारत के मर्म को उसके अतीत के बजाय उसके वर्तमान में समझने और उसे स्वतंत्र्योत्तर भारत के विमर्श हेतु आधार भूमि के रूप में स्वीकार करने के कौन-कौन से मूल भूत अर्थ-संदर्भ हो सकते हैं? इस प्रश्न पर लेखक ने 'स्वातंत्र्योत्तर भारत के मूल-भूत अर्थ-संदर्भ' नामक चतुर्थ अध्याय में बड़े ही मार्मिक एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया है। इस अध्याय में भारतीयता की पहचान लेखक ने सांस्कृतिक राष्ट्र के रूप में की है जो भारत के राजनीतिक राष्ट्र की अस्मिता से अधिक सबल एवं अखण्ड है। लेखक की यह दृष्टि बाल गंगाधर तिलक एवं मदन मोहन मालवीय के राष्ट्र चिंतन से सायुज्य रखती है। इस दृष्टि का भारतीयता के स्वत्व से यदि संबंध न होता और सही मायने में अंग्रेजी शासन की एकसूत्रता से ही भारतीय राष्ट्र निर्मित हुआ तो भारत कब का छिन्न-भिन्न हो चुका होता।

15 अगस्त 1947 को जो उद्भूत हुआ, उससे भारत की संस्कृति नहीं निर्मित हुई बल्कि एक अखंड संस्कृति राजनीतिक दासता से मुक्त हुई। इस मुक्ति हेतु उसने एक बड़ा सांस्कृतिक बलिदान किया। इस बलिदान के बाद भी उसने अपनी सन्निहित एकता के इतिहास बोध का ही परिचय दिया और सांस्कृतिक राष्ट्र ने ही राजनीतिक राष्ट्र के ऊपर अपनी आत्म प्रतिमा को स्थापित किया। लेखक की यह स्थापना अत्यंत मूलगामी है कि भारत यदि विभाजन के बाद राजनीतिक राष्ट्र के रूप में अपना परिचय देता तो भारत को 'हिंदू राष्ट्र' बनने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। किंतु, भारत का 'हिंदू राष्ट्र' नहीं बनना एक सांस्कृतिक राष्ट्र का 'महाविमर्श' था और ऐसे विमर्श हजारों वर्षों की निस्पृहता से ही उद्भूत होते हैं। यह एक घटना ही यह साबित करने के लिए पर्याप्त थी कि वास्तव में सांस्कृतिक रूप से भारत गुलाम हुआ ही नहीं था। लेखक ने इसे ही भारतीयता के उस मूलभूत अर्थ-संदर्भ के रूप में पहचान की है जिसकी स्वातंत्र्योत्तर भारत में साधना की जानी चाहिए थी। किंतु भारत के परा-ऐतिहासिक अर्थ-संदर्भ (स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद) की विडंबना यह रही कि भारत के तथाकथित नेहरूवादी राष्ट्र निर्माताओं ने उस भारत को निर्मित करने का उपक्रम चलाया जिस भारत को मैकाले और हीगल जैसे पश्चिमी पैरोकारों ने गढ़ा था- एक संस्कृति विहीन, आत्म प्रतिमा एवं इतिहासबोध से रहित भारत। एक ऐसा भारत जो अपने कमाने और खाने के लिए भी यूरोपीय तौर-तरीकों की नकल कर सके। यह भूरे साहिबों द्वारा खुद से ओढ़ी गयी दासता थी।

क्या है सांस्कृतिक भारत और कैसा है उसका स्वरूप? इस प्रश्न पर पुस्तक के पाँचवे अध्याय 'भारतीय संस्कृति की सामासिकता पर पुनर्विचार' में लेखक ने एक विशिष्ट दृष्टिकोण से विचार किया है। ऊपर से देखने पर यह दृष्टि एडवर्ड सईद द्वारा 'ओरिएण्टलिज्म' में प्रयोग की गई 'स्ट्रेटिजिकल लोकेशन मैथडोलॉजी' की तरह प्रतीत होती है। इस पद्धति का प्रयोग अत्यंत सुदीर्घ इतिहास एवं विस्तृत फलक वाले विषयों को समेटने के लिए रणनीतिक तरीके से विश्लेषण की इकाईयों को चुनने का तरीका। इस तरह से चुने गये संकेतक आंगिक होते हुए भी सर्वांग का परिचय देते हैं। इस दृष्टि से धर्म और मोक्ष को लेखक ने भारतीय संस्कृति का मौलिक तत्त्व बताया है। इसमें 'धर्म' वैदिक संस्कृति और 'मोक्ष' आर्येत्तर संस्कृति से उद्भूत है, पर दोनों एकीकृत होकर भारतीय संस्कृति के पारावार की रचना करते हैं। वास्तव में चतुर्वर्ग से त्रिवर्ग और फिर त्रिवर्ग से द्विवर्ग के द्वारा भारतीय संस्कृति का संधान करना मात्र एक ऐसी रणनीतिक योजना नहीं है जिसके आधार पर कोई यह कह सके कि विकृतियाँ हमारी नहीं हैं, संस्कृति

ही हमारी है। बल्कि यह ऐसा आधार है जो पर्यवेक्षक को भारतीय संस्कृति के अंतस में गहरे तक उतारती है। प्रो. शर्मा ने भारत के सभी दार्शनिक संप्रदायों एवं लोक मानस में धर्म एवं मोक्ष के विमर्श को जिस तरह विश्लेषित किया है वह 'स्ट्रैटेजिकल लोकेशन मैथडोलॉजी' से बहुत आगे निकल जाता है और सर्वसमावेशी दृष्टिपरक हो जाता है। इसी दृष्टि से प्रो. शर्मा ने अर्थ पुरुषार्थ को यज्ञ और योग से जोड़ा है। इस तरह भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम व्यष्टिमूलक होते हुए भी समष्टिमूलकता में अन्विति प्राप्त कर लेते हैं।

'मूलगामी भारतीय नैतिक दृष्टि' नामक छठे अध्याय में लेखक ने इस प्रश्न पर आचार संहिता मूलक नीति विमर्श (भारतीय) और दार्शनिकता मूलक नीति दर्शन (पाश्चात्य) के संदर्भ में सारगर्भित चिंतन किया है। वास्तव में पश्चिम का अ-ऐतिहासिक, अ-सामाजिक एवं अहंवादी व्यक्ति (पाश्चात्य ज्ञानोदय में वर्णित मनुष्य का स्वरूप) आचार संहिता मूलक नीति चिंतन जो धर्मोपदेश की तरह होते हैं, क्यों स्वीकार करेगा? वह तो इसे तब स्वीकार करेगा जब इसके पीछे संप्रभु शक्ति से दंडित होने का भय हो। इसी कारण पश्चिम में दार्शनिकता मूलक नीति दर्शन की ही गुंजाइश बनती है जिसे ताकत के बल पर लागू किया जा सकता है। भारत में आचार मूलक होने के कारण ही संपूर्ण नीति विमर्श के बाद उपदेशक (कृष्ण द्वारा अर्जुन को उपदेश का उदाहरण) यह कह सकता है कि अब जैसा अच्छा लगे वैसा करो और इसके लिए तुम्हें कहीं और नहीं बल्कि अपने ही शरण में (आत्म प्रकाशित धर्म बोध) जाने की जरूरत है। लेखक ने आचार संहिता मूलक नीति दर्शन के जिस बृहद् परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत किया है और वास्तव में जो भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित नैतिक दृष्टि है, वह 'न्याय' को एक अत्यंत विराट स्वरूप प्रदान करता है। पश्चिम के विधिक न्याय की अवधारणा में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अतः जब भी कर्तव्या कर्तव्य के गहन मीमांसा की जरूरत पश्चिम में होती है, वे दौड़े-दौड़े प्राकृतिक न्याय की शरण में चले जाते हैं।

जब भारत की नैतिक दृष्टि व्यक्ति या ग्रंथ सापेक्ष नहीं है तब भारत में सांप्रदायिक समस्या क्यों है? लेखक की स्थापना है कि यह समस्या कुछ धर्मों के आस्था प्रणाली और उनके औचित्य विधान के कठोर एकीकरण से उपजी कट्टरता के समाधान तलाशने का प्रश्न है। ऐसी कट्टरता उन धर्मों में अधिक होती है जिनमें आस्था प्रणाली और औचित्य विधान के पार्थक्य की संभावना कम होती है। फलतः वे 'पर' को 'अपवित्र' मानते हैं जिनका या तो नाश किया जाना चाहिए या पवित्र बनाने हेतु धर्मांतरण कराना चाहिए। सनातन संस्कृति में अनुज्ञात इतिहास से ही आस्था प्रणाली एवं औचित्य विधान का पार्थक्य मिलता है। यह पार्थक्य ही उस सहिष्णुता, उदारता, एवं परस्पर सम्मान के भाव की भूमि तैयार करता है, जिससे धार्मिक सह-अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

इस तरह देखा जाए तो इस पुस्तक के सातवें अध्याय में पहुँचकर भारतीयता के सामासिक अर्थ-संदर्भ की मीमांसा पूर्ण हो जाती है। बाकी के दो अध्याय 'आधुनिकता, अंतरधर्म संघर्ष और बौद्ध धर्म' तथा 'पुरुषार्थ संतुलनवाद के मूलभूत सूत्र' प्रकीर्ण प्रकृति के अध्याय हैं, जिनमें लेखक ने बौद्धेत्तर प्रसारवादी धर्मों (आठवाँ अध्याय) को आईना दिखाया है और अहिंसक हुए बिना धार्मिक प्रसार के बौद्ध मार्ग के विकल्प को उद्घाटित किया है। साथ ही इसी अध्याय में आधुनिकता के पर्याय सार्वभौम मानव बुद्धि के स्थान पर महायानी बौद्ध दर्शन के प्रज्ञा और करुणा को आधुनिकता के पार्श्व प्रभावों से मुक्ति का वाहक बताया है। इसी तरह अंतिम अध्याय में लेखक ने भारतीय संस्कृति के पुरुषार्थ संतुलन की विश्वदृष्टि को विश्व सभ्यता के निर्माण हेतु प्रस्तावित किया है, जिसमें जीवन के श्रेय और प्रेय, ज्ञान एवं कर्म, आस्था एवं भक्ति, साधन एवं साध्य तथा दैहिक एवं आत्मिक का संतुलन है। साथ ही इसमें आस्था प्रणाली एवं औचित्य विधान का सह-अस्तित्व भी है। यह संतुलन एंथ्रोपोसेंट्रिक न होकर कास्मोसेंट्रिक है।

इस संपूर्ण पुस्तक के संदर्भ में यदि एक ही ठोस बात कहनी हो तो यह कहा जा सकता है कि यह एक 'दार्शनिक स्टेट्समैन' की कृति है जो अपने राष्ट्र को जड़ से चोटी तक और अतीत से भविष्य तक देख रहा है और उस दृष्टि को 'पिक्टोरियल लैंग्वेज' में व्यवस्थित कर रहा है। इसी तरह इस रचना की एक ही कमी को ठोस रूप में उजागर करना हो तो वह यह है कि इतनी गहरी अंतर्दृष्टि रखने वाले लेखक को जो भारत के अतीत, वर्तमान और उसके राजनीतिक मर्म के साथ-साथ दार्शनिक मर्म को समझ रहा हो उसे एक अध्याय भारत को समझने के पद्धतिशास्त्र पर भी लिखना चाहिए था। इस पुस्तक की वह विशिष्टिता जिसके कारण प्रत्येक जागरूक पाठक को इसे पढ़ना चाहिए वह यह है कि इसमें मात्र भारत की आत्म प्रतिमा को ही विमर्श का विषय नहीं बनाया गया है, बल्कि अवांतर रूप से संपूर्ण मानवजाति के अस्तित्वात्मक समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय प्रस्ताव एवं भारतीय संस्कृति की क्षमता पर भी विचार किया गया है। ❖❖

जल-प्रबंधन से उपजी विसंगतियाँ

विपुल सिंह

संपर्क :
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

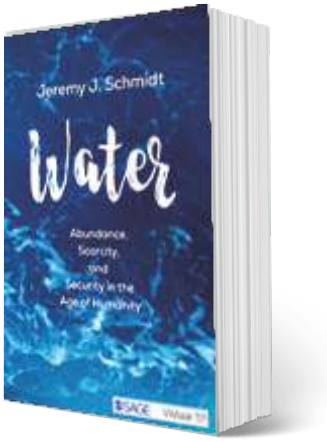

पुस्तक : वाटर
"जल : मानवता के युग में प्रचुरता, कमी और सुरक्षा"
लेखक : जेरेमी जे. श्मिट,
प्रकाशक : सेज, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
मूल्य : 2519 रु.

संपूर्ण विश्व में अब सूखा बार-बार पड़ने लगा है। जलवायु वैज्ञानिक जलवायु परिवर्तन के परिणामस्वरूप पड़ने वाले प्रकृति के इन अनियंत्रित व्यवहारों को करीब से देखते हैं। जेरेमी श्मिट ने अपनी पुस्तक 1977 के कैलिफोर्निया सूखे के साथ प्रारंभ की है। उस वक्त जब अमेरिका के पहले मुख्य जल विज्ञानी लूना लियोपोल्ड से इस मुद्दे को उठाने का अनुरोध किया तब वह - 'नदियों के प्रति सम्मान' और 'जल प्रबंधन' जैसे समाधान के साथ आये। यह पुस्तक उक्त तथ्य के बिलकुल विपरीत स्थिति लेती है, और तर्क देती है कि दुनिया में जल की बहुत सारी समस्याएँ 'जल प्रबंधन के दर्शन' का परिणाम हैं। जेरेमी श्मिट का मुख्य तर्क पॉल क्रुटजेन और यूजीन स्टोइमर द्वारा लोकप्रिय एंथ्रोपोसीन के इक्कीसवीं सदी के विचार के इर्द-गिर्द घूमता है। एंथ्रोपोसीन का मुख्य सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि मानव और उनकी गतिविधियों ने पिछली दो शताब्दियों से प्रकृति को प्रभावित किया है। मानवजनित या मानव प्रेरित परिवर्तनों पर बहस करते हुए एंथ्रोपोसीन सैद्धांत इस बात पर जोर देता है कि दुनिया के भविष्य के लिए व्यक्ति और राज्य सामूहिक रूप से उत्तरदाई हैं।

वैचारिक रूप से, निहित प्रस्ताव यह है कि प्रकृति में पहले से ही अज्ञात परिवर्तन लाने के लिए उसी बल को आने वाली पीढ़ियों के लिए एक दुनिया बनाने के लिए विनियमित किया जा सकता है। इसी अनुक्रम में, जेरेमी श्मिट यह बताते हैं कि कैसे जल को भी संसाधन के रूप में देखा जाने लगा। चूँकि संसाधनों को प्रायः राज्य से संबंधित माना जाता था, इसलिए किसी भी अन्य संसाधनों की तरह जल को भी प्रबंधित करने की वस्तु माना जाता था। लेकिन जब हमने ऐसा किया, तो इसने हमारे "लोगों पर शासन करने की अभिवृत्ति" (पृ. 12) को प्रभावित किया। अपने कथन को सिद्ध करने के लिए, उन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों में प्रचलित शासन के विचार का पता लगाया है। यह वह समय था जब डब्ल्यू. जे. मैकगी का जल प्रबंधन और संरक्षण का सिद्धांत बहुत लोकप्रिय हुआ था। मैकगी ने स्पष्ट रूप से प्रचारित किया कि जल 'एक संसाधन' (पृ. 79) है। धीरे-धीरे, संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग सभी संसाधनों को राज्य की निगरानी में लाने की आवश्यकता के बारे में आश्वस्त थे। यह सब भूमि और जंगल पर शासकीय नियमन से प्रारंभ हुआ, और धीरे-धीरे जल भी मात्रात्मक दृष्टि से निश्चित और नियंत्रित होने लगा। जल को नियंत्रित करने का एक सामान्य सूत्र 'वैश्विक जलअभिशासन' के रूप में एक शताब्दी बाद स्पष्ट हुआ (पृ. 88)। इसलिए जैसा कि जल प्रबंधन के बारे में जल वैज्ञानिकों के बीच विश्व स्तर पर स्वीकार किये गये विचार के विपरीत, इस पुस्तक से पता चलता है कि जल की कई समस्याएँ जल प्रबंधन के दर्शन का परिणाम हैं। श्मिट जल प्रबंधन के दर्शन की उत्पत्ति को 1885 से चिह्नित करते हैं जब यह प्रारंभ में चार्ल्स लेल द्वारा होलोसिन अर्थात अंतिम हिम युग के बाद से एक ग्रह की स्थिति के रूप में व्यक्त किया गया था। (पृ. 8) उनका तर्क है कि यद्यपि एंथ्रोपोसीन एक ऐसी अवधि को अनुकूलित करने के लिए अस्तित्व में आया, जिसमें मानव भूवैज्ञानिक प्रक्रिया में भी बहुत परिवर्तन करता है, लेकिन धीरे-धीरे भू-प्रणाली पर मानव गतिविधि के मात्रात्मक प्रभावों की अवधारणा विकसित हुयी और तद्नुसार प्रभाव पड़ा। इस प्रकार, एंथ्रोपोसीन की अवधारणाओं ने एक वर्णनात्मक अभिव्यक्ति निर्धारित की थी जिससे प्रकृति पर शोध करने वाले विद्वान बच नहीं सकते थे। इसने 'अंतःविषय वैज्ञानिक नेटवर्क' की ओर अपना मार्ग बदल दिया, जो जल को भू-प्रणाली के हिस्से के रूप में ही समझता था (पृ.12)। "साधारण जल" की विस्तृत कहानी ने पहली बार यह बताया था कि पहले जल "प्रचुर मात्रा में" उपलब्ध था, परंतु अब कुप्रबंधन के कारण 'दुर्लभ' हो गया है, और मानव के विकास और स्वास्थ्य को लेकर उत्पन्न होने वाले अंतरराज्यीय संघर्ष से बचने के लिए जल का कुशल प्रबंधन अब आवश्यक हो गया है (पृ. 41)।

यह पुस्तक जेम्स स्कॉट के "सीइंग लाइक

ए स्टेट" की ओर संकेत करती है जिसका बल इस बात पर है कि 'उच्च आधुनिकतावाद' ने प्रकृति को प्राकृतिक संसाधनों में परिवर्तित कर दिया। जल से संबद्ध पूर्व-आधुनिक समझ को नौकरशाही की पारखी नजर समझ पायी, जिसने 'वैज्ञानिक तर्कसंगतता के आधार पर लेखांकन के नये रूपों' को स्थापित किया (पृ. 28)। टेनेसी वैली अथॉरिटी (टी.वी.ए.) 'उच्च आधुनिकतावाद' का जल-विभाजक क्षण था, जब बाँधों के निर्माण और बिजली के उत्पादन को महत्त्वपूर्ण रूप से देखा गया था, और 'जल की आपूर्ति के विज्ञान का धन के विज्ञान के साथ तेजी से गठबंधन किया गया था' (पृ. 114)। जेरेमी श्मिट यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि कैसे टी.वी.ए. दुनिया भर में जल प्रबंधन के मामले में अनुसरण करने के लिए एक मॉडल बन गया है। मॉडल इतना प्रभावशाली था कि इसे सभी अंतरराष्ट्रीय जल-विभाजक कार्यक्रमों के लिए खांका माना जाने लगा। जेम्स स्कॉट ने इस तरह के 'गोद' लेने पर आगाह किया है और कहते हैं कि यह "एक ऐसी इच्छा है, जिसके घातक दोष हैं"।

जेरेमी श्मिट यह भी लिखते हैं कि कैसे टी.वी.ए. ने दुनिया के सामने विकासशील देशों के यह मॉडल प्रस्तुत किया कि उनके प्रचुर मात्रा में उपलब्ध जल को एक संपत्ति के रूप में उपयोग किया जा सकता है। इसका मुख्य जोर आपूर्ति-पक्ष के जल प्रबंधन पर था क्योंकि यह 'भौतिक धन प्रदान करेगा' और 'अंतरराष्ट्रीय वित्तीय प्रतिपालकों को उन्हें बनाने के लिए आवश्यक ऋण से किराए को निकालने का अवसर' प्रदान करेगा (पृ. 114)। उसका कहना है कि डेविड लिलिएनथल ने इस नये 'अमेरिकी उदारवाद' को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न विकासशील देशों की यात्रा की (पृ. 114)। यही कारण है कि 1951 में कई अन्य यात्राओं के बीच, 'मिस्टर टी.वी.ए.', (लिलिएनथल का उपनाम) ने सिंधु बेसिन का भी दौरा किया, जो भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद का एक हिस्सा था, और उन्होंने प्रस्ताव दिया कि टी. वी.ए. मॉडल को "राजनीतिक संकट को रोकने के लिए" लागू किया जा सकता है (पृ. 11)। यह ध्यान देने योग्य है कि शीत युद्ध के वर्षों के दौरान, 'संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ज्यादा से ज्यादा विकासशील देशों को अपने अपने पक्ष में लाने के लिए बाँधों को सबसे अधिक उपयोगी मानने लगे थे (जॉन मेकनील, "समथिंग न्यू अंडर द सन, न्यूयॉर्क : डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन, 2000)। संयुक्त राज्य अमेरिका ने टी.वी.ए. मॉडल को बढ़ावा दिया और विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं के माध्यम से एशियाई और दक्षिण अमेरिकी देशों के कई बाँध निर्माणों को वित्तीय सहायता प्रदान करवायी। इस प्रकार, बाँधों ने न केवल अंतरराष्ट्रीय वित्तीय प्रतिपालकों को उन्हें बनाने के लिए दिये गये ऋण से हितों को निकालने की अनुमति दी बल्कि इसके माध्यम से 'कम्युनिस्टों की सभी सामाजिक निर्दयता को दूर करने' का प्रयास भी किया गया था (पृ. 10)। शीघ्र ही अर्थशास्त्री, इंजीनियर, कृषिविद् और योजनाकार, जिन्होंने टी.वी.ए., अमेरिकी कृषि विभाग या ट्रेजरी विभाग में कार्य किया था, वे विभाग संयुक्त राष्ट्र में स्थानांतरित हो गये। 'मेटीस' को दबाने के लिए राज्य द्वारा 'टेकने' को तैनात किया गया था। अर्थात् कौशल और ज्ञान कई वर्षों के अभ्यास के माध्यम से हासिल किया गया। बाँधों के बुरे प्रभाव को संपूर्ण विश्व में शीघ्र ही महसूस किया जाने लगा। एक और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व, जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका और बाद में दुनिया के बाह्य हिस्सों में जल प्रबंधन की समझ को बदल दिया, वह हैं गिल्बर्ट एफ. व्हाइट, जो मानते थे कि आपूर्ति पक्ष प्रबंधन के अतिरिक्त 'जल और मांग की गतिशीलता' भी महत्त्वपूर्ण हैं। 1992 में, पर्यावरण और विकास पर एकीकृत जल संसाधन प्रबंधन और संयुक्त राष्ट्र का संयुक्त सम्मेलन "जल की कमी" से जुड़ा था (पृ. 155)। यह "वैश्विक विकास संभाषण" (पृ. 60) में सर्वोच्च बन गया और संपूर्ण विश्व में इसे संस्थागत बना दिया गया। यह तब हुआ जब जल तेजी से 'आर्थिक वस्तु' बन गया।

अपनी पुस्तक के अंतिम खंड में जेरेमी श्मिट हमें एंथ्रोपोसीन के मुद्दे पर वापस लाते हैं और आशा करते हैं कि हम जल को एक संसाधन के रूप में देखना भूल जाएंगे। वह सुझाव देते हैं कि हम आज की जल की समस्याओं से निपटने के लिए परंपरागत व्यवस्था को बदल सकते हैं। वह एल्डो लियोपोल्ड का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने पर्यावरण के लिए संसाधनों, संरक्षण और मानव संबंधों को अलग तरह से देखा। लियोपोल्ड के लिए, "भूमि" केवल शाब्दिक अर्थ में भूमि नहीं थी, लेकिन इसमें"जल, पौधे और जानवर" सभी सम्मिलित थे। इस प्रकार 'भूमि' (पृ. 216) की श्रेणी में सब कुछ समाहित किया गया। लियोपोल्ड कहते हैं कि हम इन सभी प्रणालियों का प्रबंधन कर सकते हैं, लेकिन यह भी जरूरी है कि हम जंगली घास से लेकर पौधों तक यानि पारिस्थितिक तंत्र के प्रत्येक हिस्से को संरक्षित रखें। श्मिट, लियोपोल्ड की पारिस्थितिक सोच की वकालत करते हैं, जिसमें सभी प्रजातियाँ और जीव "हमारे साथ भूमि साझा करने के हकदार थे" (पृ. 18)।

श्मिट ने विभिन्न प्रकार की स्रोत सामग्रियों का उपयोग किया है और उनकी पुस्तक इस प्रकार बहुत आकर्षक है। यह पर्यावरण के इतिहास, विशेष रूप से जल इतिहास के क्षेत्र में काम करने वाले शोधार्थियों के लिए रुचिकर होगी। ❖❖

खामोश इतिहास का मुखर संस्मरण

सुमित सौरभ

संपर्क :
सुमित सौरभ
भुनेश्वर सदन
श्री कृष्णा नगर, मोतिहारी
बिहार-845401
मो-8816876226
sawravfem@gmail.com

पुस्तक : आपातकाल के संस्मरण
संपादक : प्रो. (डॉ) अरुण कुमार भगत
प्रकाशक : पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2019
मूल्य : 895 रु.

आपातकाल, स्वतंत्र भारत के इतिहास की ऐसी कलंकित तथा अलोकतांत्रिक घटना है, जो भारी राजनैतिक -सामाजिक उथल-पुथल का कारण बना। आपातकाल के दौरान जनता के सभी नागरिक अधिकार समाप्त कर दिये गये। प्रेस पर सेंशरशिप लागू की गयी। प्रशासनिक हलकों में भारी उलट फेर किया गया। प्रतिरोध की हर आवाज को कुचलने का प्रयास किया गया। भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में न कभी इसके पहले ना कभी इसके बाद, किसी राजनैतिक फैसले के विरोध के कारण, इतने बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ हुईं। 21 महीने (25 जून 1975 - 21 मार्च 1977) के आपातकाल के बाद संपन्न छठे लोकसभा चुनाव में इंदिरा सरकार की भारी शिकस्त के साथ लोकतंत्र के इतिहास के इस काले अध्याय का अंत हुआ।

ये आपातकाल से संबंधित सामान्य बाते हैं। आपातकाल पर उपलब्ध साहित्य में यह सामान्य रूप से मौजूद है। लेकिन आपातकाल पर इन सब से अलग भी बहुत कुछ है, जिन्हें दर्ज नहीं किया गया। एक तरफ आपसी सहयोग की कहानियाँ हैं तो दूसरी तरफ सत्ता के आतंक के कारण अपनों की बेरुखी की कहानियाँ भी हैं। अलग-अलग संगठनों के साथियों के बीच आपसी सहयोग तथा समन्वय की कहानियाँ हैं तो सत्तासीन पार्टी से संबद्ध कार्यकर्ताओं तथा कम्युनिस्टों की मुखबिरी की कहानियाँ हैं। एक तरफ लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए हर तरह की यातना झेलने का साहस करने वाले कार्यकर्ताओं की कहानियाँ हैं तो दूसरी तरफ सत्ता की चाटुकारिता, व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित दमन की कहानियाँ भी हैं। सहयोग तथा बेरुखी, त्याग-बलिदान तथा चाटुकारिता इत्यादि जैसे विरोधाभाषी स्थितियों की अनेक कहानियाँ, भारत की स्वतंत्रता की इस दूसरी लड़ाई में शामिल हरेक व्यक्ति की स्मृति में सुरक्षित हैं। इन स्मृतियों को लिपिबद्ध करा कर सहेजने तथा संपादित करने का महत्त्वपूर्ण तथा श्रमसाध्य कार्य, प्रो. (डॉ.) अरुण कुमार भगत ने अपनी पुस्तक 'आपातकाल के संस्मरण' में किया है। पुस्तक में कुल 44 व्यक्तियों के संस्मरण को संकलित किया गया है।

पिछले 24 वर्षों से आपातकाल पर निरंतर किये जाने वाले शोध कार्य, लेखन तथा संपादन से प्राप्त अनुभवों ने प्रो. भगत को वह अंतर्दृष्टि प्रदान की है, जिसके कारण वह आपातकाल के उन मार्मिक तथा जीवंत अनुभूतियों, संदर्भों, तथा घटनाओं को लिपिबद्ध कराने में सफल रहे हैं, जो अब तक सामने नहीं आ पायी थीं। लोकतंत्र के एक सामान्य प्रहरी के जीवन को आपातकाल ने किस तरह प्रभावित किया? उनके परिवारवालों ने आपातकालीन समय को कैसे झेला? उनकी मनःस्थिति कैसी थी? गिरफ्तार साथियों के परिवारवालों को किस प्रकार सहायता पहुँचायी गयी? इत्यादि। जैसे आपातकाल के कई अनछुए पहलू, जिन्हें आपातकालीन इतिहास का मानवीय पहलू कहा जा सकता है, को पुस्तक में शामिल किये गये विभिन्न संस्मरणों के माध्यम से पहली बार, सामने लाया गया है, जो लिपिबद्ध होने के अभाव में इतिहास से गायब होने की स्थिति में पहुँच चुके थे। पुस्तक की भूमिका लिखते हुए वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. कमल किशोर गोयनका ने भी इस तरफ इशारा करते हुए लिखा है, 'हमारे सामने ही हमारे दमन और पीड़ा के इतिहास को लुप्त किया जा रहा था।'

इन विभिन्न संस्मरणों के माध्यम से प्रो. भगत ने एक विशेष कालखंड का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। यहाँ संस्मरणकर्ता इतिहास को प्रस्तुत करने का एक माध्यम भर नहीं

है, बल्कि खुद को इतिहास लेखन की प्रक्रिया में शामिल रखते हुए, अपने-अपने अनुभवों को अतीत की पोटली से निकाल कर हमारे सामने बिखेर दिया है। ऐसा इतिहास प्रस्तुत किया है, जिसे रोलॉड बार्थ के शब्दों में कहें तो 'इतिहास, जो खुद को लिखता प्रतीत होता है।' उदहारण के लिए शिव बरुआ आपातकाल को याद करते हुए लिखते हैं' आपातकाल ने नागरिकों की आजादी छीन ली थी। वामपंथी, विशेषकर सोवियत संघ के सेवक भाकपा ने तानाशाही का समर्थन ही नहीं किया, अपितु जनसभाएँ कर उसकी प्रशंसा करने लगे। ये अलग बात है कि उन्हें सुनने के लिए उनके ही पेड कार्यकर्ता हुआ करते थे। मार्क्सवादी ढुलमुल नीति अपनाये हुए थे। सरकारी संत विनोबा भावे से आशा थी कि वे इंदिरा गांधी से बात कर आपातकाल हटवाएँगे। उन्होंने आपातकाल को 'अनुशासन पर्व' कह दिया और मौनव्रत में रहे।' (पृ-169)

पुस्तक को पढ़ते हुए बार-बार यह विचार सामने आता है कि आपातकाल पर उपलब्ध विशाल साहित्य के बावजूद आपातकाल के सामाजिक-मानवीय संदर्भों के बारे में कितना कम लिखा गया है, हम इनके बारे में कितना कम जानते हैं। विभिन्न आकादमिक संस्थान आपातकालीन समय के संदर्भों के प्रति इतने उदासीन क्यों हैं? उनकी अनिच्छा-उदासीनता किस तरफ इशारा करती हैं? क्या इन्हें मामूली मान कर छोड़ा जा सकता है? जबकि आपातकालीन इतिहास को संपूर्णता में समझने के लिए इन सामाजिक-मानवीय संदर्भों का विशेष महत्व है। जैसा कि मृदुला सिन्हा ने आपातकाल के दौरान, लोकतंत्र सेनानियों तथा उनके परिवारवालों के प्रति सामाजिक नजरिये को याद करते हुए लिखा है 'कुछ अड़ोस-पड़ोस और शहर के मित्र जो हमेशा हमारे पास आने की कोशिश करते थे, धीरे-धीरे मुँह फेरने लगे। कहीं देख कर भी मुँह फेरने लगे।' (पृ. 50) देवदास आपटे ने भी इसी तरह के सामाजिक नजरिया का उल्लेख किया है 'उस समय अच्छे-अच्छे परिचित मिलना-जुलना टालते थे। कुछ लोगों ने तो सीधे-सीधे कह दिया कि आप हमारे यहाँ आना-जाना बंद कर दीजिए।' (पृ-38) हालॉकि इसी समय में ऐसे लोग भी थे जिन्होंने उद्दात मानवीय मूल्यों को बचाये रखा। आपातकाल के दौरान जेल गये, आंदोलनकारियों के परिवारवालों का पूरा ख्याल रखा। डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद ने ऐसे ही प्रसंगो को उल्लेखित किया है, 'सोहसराय बाजार के व्यवसाइयों ने अपने सहयोग से उन्हें चिंता मुक्त कर दिया। अन्न, वस्त्र, किराना, औषधि और परचून की सामग्री सब उन्हें उधार खाते में मिलते रहे। मकान मालिक ने किराया नहीं माँगा।' (पृ. 109) इसी प्रकार, डॉ. जगदीश तोमर ने अपने पड़ोसी बत्रा परिवार के सहयोग को याद करते हुए लिखा है, 'उन्होंने मुझे गुरुओं के उदहारण से बताया कि मुसीबत तो बड़ों-बड़ों पर आती है। तुम घबराना नहीं। हम सब हैं न यहाँ।' (पृ. 147)

पुस्तक में संकलित विभिन्न संस्मरणों के माध्यम से स्पष्ट होता है कि आपातकाल के दौरान जितना कष्ट आपातकाल के बंदियों ने उठाया, उससे कम कष्ट उनके परिवारवालों ने भी नहीं उठाया। कई मायने में उनसे अधिक कष्ट ही उठाया। डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय ने अपने परिवारवालों की स्थिति का सस्मरण करते हुए लिखा है 'परिवारवालों' ने सच में जो विपत्ति उठायी वे हमारे जेल-जीवन से कही अधिक पीड़ादायी है। वो जब साप्ताहिक मिलन पर छोटे-छोटे बच्चे को ले कर आती थी तो आँखे भर जाती थी। (पृ- 90) आपातकाल के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कई मायनों में जेल में बंद आंदोलनकारियों से अधिक कठिन जीवन जेल के बाहर भूमिगत रहते हुए, आंदोलन को मजबूत करने हेतू विभिन्न कार्य करने वाले सत्याग्रही जी रहे थे। केदारनाथ साहनी, दीनानाथ मिश्र का भूमिगत जीवन इसका बेहतर उदहारण है।

आपातकाल के दौरान जब पुरुष आंदोलनकारी जेलों में बंद हो गये थे तब आचानक से बच्चों के लालन-पालन समेत परिवार चलाने की संपूर्ण जिम्मेवारी महिलाओ के कंधे पर आ गयी। इस कठिन समय में महिलाओं ने पूरी हिम्मत और समझदारी से घर चलाने की जिम्मेवारी उठाई, उनकी हिम्मत और धैर्य ने सबका ध्यान आकर्षित किया। उन्हें एक नयी पहचान मिली। आपातकाल के अजेय योद्धा केदारनाथ साहनी की पत्नी विमला साहनी के संबंध में जगन सिंह ने लिखा है, विमला जी ने उनकी अनुपस्थिति में न केवल घर और बच्चो को संभाला बल्कि उनके काम में हर संभव सहायता दे कर विलक्षण जीवट का परिचय दिया। (पृ- 174)

समकालीन भारतीय इतिहास में आपातकाल किसी भी अन्य घटना की तुलना में अधिक सजीव है। यही कारण है कि आपातकाल को याद करते हुए विभिन्न संस्मरणकर्ताओं का अतीत सजीव हो उठता है। अतीत को याद करते हुए वर्तमान के संदर्भ में से अतीत को पुनः जीने लगते हैं। इस क्रम में आपातकालीन समय तथा समकालीन समय की राजनीतिक स्थितियों की समानता एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगती है। जैसा डॉ. अमरनाथ सिन्हा ने आपातकालीन समय के संदर्भों को तत्कालीन मनमोहन सिंह सरकार के साथ जोड़ कर देखते हुए लिखा है, संपूर्ण क्रांति का राष्ट्रकल्प अभी भी प्रासंगिक है, बल्कि 1974 की तुलना में अधिक प्रासंगिक

है, क्योंकि आज के परिदृश्य में 2013 अधिक घोटालों, भ्रष्टाचार, महँगाई, विकलांग-विच्छिन शिक्षा, बाजारवाद, सांस्कृतिक संकट, जातीय- क्षेत्रीय बिखराव, आपराधिक राजनीति और राजनीतिक अपराध से त्रस्त है। (पृ-131)

आपातकालीन इतिहास के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आपातकाल लागू होने के बाद जे.पी, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, मधु लिमये समेत विपक्ष के तमाम छोटे-बड़े नेताओं की गिरफ्तारी हो जाने के बाद, व्यवस्था परिवर्तन का आंदोलन लगभग समाप्त हो चुका था। सत्ता के भय ने राजनैतिक गतिविधियों पर विराम-सा लगा दिया था। आंदोलन, जनता का समर्थन प्राप्त करने में विफल हो रहा था। दरअसल जे.पी की अनुपस्थिति में आंदोलन को अंजाम तक पहुँचाने के लिए उनके पास अपना कोई जमीनी संगठन नहीं था। ऐसे निर्णायक समय में देश भर में फैले 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' से जुड़े लाखों जमीनी पकड़ रखने वाले स्वयं सेवकों नें आंदोलन से संबंधित प्रतिबंधित साहित्य का प्रचार-प्रसार, भूमिगत जनसंपर्क तथा अन्य माध्यमों से आंदोलन को पुनर्जीवित किया। अकारण नहीं है कि आपातकाल के दौरान सर्वाधिक गिरफ्तारियाँ 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' से संबद्ध स्वयं सेवको की ही हुईं। राजेन्द्र शर्मा ने अपने संस्मरण में इस तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है : आपातकाल के विरुद्ध मैदान में सबसे आगे संघ के कार्यकर्त्ता थे और वे ही सबसे अधिक संख्या में देश भर की जेलों में बंदी बनकर रहे थे। (पृ -142) डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद के आपातकालीन समय के संस्मरण इसकी पुष्टि करते है। डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद ने अपने संस्मरण में लिखा है, 'मैंने जेल में देखा की लगभग 200 कि संख्या में मीसा कैदी तथा सत्याग्रही थे। इसमें 150 की संख्या संघ परिवार की थी।' (पृ-106) यह 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' के स्वयं सेवकों का त्याग तथा संघर्ष ही था, जिसे देख कर संपूर्ण क्रांति के प्रणेता जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के खिलाफ फासिस्ट होने के मिथ्या प्रचार पर कड़ा प्रहार करते हुए कहा था 'यदि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ फासिष्ट है तो मैं भी फासिस्ट हूँ।'

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो. भगत ने आपातकाल से संबंधित विभिन्न संस्मरणों के माध्यम से आपातकाल की कई नयी जानकारियाँ सामने ला कर, आपातकाल से संबंधित हमारे ज्ञान को समृद्ध किया है, साथ ही आपातकाल को देखने का एक भिन्न नजरिया प्रस्तुत कर आपातकाल पर उपलब्ध विस्तृत साहित्य पर प्रश्न खड़ा करने का सामर्थ्य भी प्रदान किया है। संस्मरणात्मक शैली में होने के बावजूद पुस्तक एक साथ संस्मरणात्मक साहित्य, राजनीति तथा इतिहास का रसास्वादन कराती है। उपरोक्त विधाओं को एक साथ समेटे हुए, विशेष कालखंड का जीवंत इतिहास प्रस्तुत करती है, जो अपने भीतर अनेक नंगी सच्चाईयाँ समेटे हुए है। जैसा कि विध्वंस की स्मृतियों पर बात करते हुए जेम्स यंग ने लिखा है, 'विध्वंस के समय काल को जितना हम इसके इतिहास से जानते हैं, उतना ही इसके साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक निरूपणों और इसके व्यक्तिगत, प्रामाणिक निरूपणों के जरिए जानते हैं क्योंकि किसी घटना के केवल तथ्य ही महत्त्वपूर्ण नहीं होते बल्कि यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि लोग उस समय-काल को किस तरह से याद करते हैं और किस तरह से उन्हें प्रस्तुत करते हैं'।

आपातकाल के ऊपर इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में डॉ बलदेव बंसी द्वारा किसी अन्य पुस्तक के लिए लिखी गयी भूमिका को शामिल किया जाना खटकता है। शिवराज सिंह चौहान, सुब्रह्मण्यम स्वामी, प्रो. अनिरुद्ध देशपांडे, अच्युतानंद मिश्र, कृष्णमोहन प्रसाद अग्रवाल तथा डॉ. नंदकिशोर गर्ग के लघु संस्मरण एक ओर जहाँ अखरते हैं, वहीं दूसरी ओर आपतकाल के गोपनीय संदर्भों को जानने की भूख भी बढ़ाती है। प्रूफ की अशुद्धियाँ पढ़ने का स्वाद खराब करती हैं। बावजूद इन सीमाओं के, आपातकाल के ऊपर शोध कार्य करने वाले शोधार्थियों तथा इस विषय में रुचि रखने वाले अध्येताओं के लिए, अपने भिन्न नजरिये के कारण पुस्तक उपयोगी साबित होगी। ❖❖

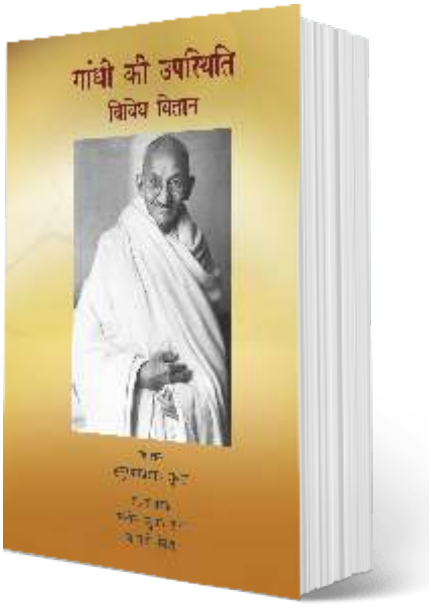

स्वस्थ शिक्षा की ऐनक

डॉ. अल्पना सिंह

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर
गृह विज्ञान विभाग
दीनानाथ पाण्डेय राजकीय
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
देवरिया (उ.प्र.)

पुस्तक : अध्यापकीय जीवन का गुणनफल
लेखक : श्यामनारायण मिश्र
(सं. मनोज कुमार),
प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2020
मूल्य : 250 रु.

स्वतंत्र भारत में स्कूली शिक्षा की प्रगति को विवेचित करने के कई मार्ग हो सकते हैं। प्रायः शिक्षा आयोगों और नीतिगत आलेखों पर दृष्टिपात किया जाता है। चर्चा मुदलियार कमीशन से आरंभ होकर कोठारी कमीशन (1964-66) से होते हुए अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम-2009 से आगे जाकर सबसे नवीनतम हस्तक्षेप के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) तक की यात्रा तय करती है। शिक्षा के प्रसार विवेचित करने की यह दृष्टि आकाशीय है। अर्थात शिक्षा की दिशा तय करने वाली संस्थाओं के भीतर की कार्यप्रणाली, उनके महत्त्वपूर्ण निश्चयों का कालक्रम और शिक्षा की नीतिगत जीवनी अधिकांशतः शिक्षा की दशा और जमीनी संघर्षों पर कम ध्यान देती है। आधुनिक शिक्षा के प्रसार को देखने का एक दूसरा जमीनी तरीका भी हो सकता है। अगर शिक्षा की प्रक्रिया में शामिल और इसके जरिये किसी हद तक सामाजिक सरोकार हासिल कर चुके लोग अपने जीवन के अनुभवों को साझा करें तो कदाचित स्वतंत्र भारत में शिक्षा के प्रसार की इस प्रकिया का कुछ अंतरंग परिचय मिल सके। जीवनी और संस्मरणों का प्रकाशन इस दिशा में एक सराहनीय प्रयास या कदम हो सकता है। विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक अनगिनत शिक्षकों, विद्यार्थियों, और अन्य उपजीवी कर्त्ताओं का आना जाना लगा रहा है। किसी ग्रामीण विद्यालय से लेकर केंद्रीय विश्वविद्यालयों तक कितने ही जन उनका हिस्सा बनें। इन्हीं अनुभवों की एकरूपता, विभिन्नता, और निरंतरता स्कूली शिक्षा के इतिहास के मूल में है।

जीवनी और स्मृति के हवाले शैक्षणिक अनुभवों को व्यक्त करने में संभवतः साहित्य बहुत सक्षम नहीं है। कुछ नाम जैसे जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी से सेवानिवृत विज्ञान के इतिहासकार दीपक कुमार की 'द त्रिशंकु नेशन- मेमोरी, सेल्फ एंड सोसाइटी इन कंटेम्पररी इंडिया' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015) का नाम सामने आता है या साहित्य में ओड़िया कथाकार और उपन्यासकार मनोज दास की 'समुद्र कुळरा एक ग्राम' की जीवनी ध्यान में आती है। वैसे तो आंद्रे बेते जैसे समाजशास्त्रियों और तपन राय चौधरी जैसे इतिहासकारों की जीवनी भी हमारे पास है लेकिन उनमें शिक्षा के प्रश्न पर विद्यालयी प्रश्न खुलकर नहीं उभर पाये हैं। दीपक कुमार की स्कूली शिक्षा ग्रामीण और नगर के मध्य जहाँ मुफस्सिल में हुई थी, यानि बिहार के एक मुफस्सिल में, उनकी रचना में विद्यालयी सवाल स्पष्ट नहीं होता।

ऐसे में श्यामनारायण मिश्र की पुस्तक 'अध्यापकीय जीवन का गुणनफल' उनके अध्यापकीय जीवन यात्रा का पाठ तो है ही आजादी के बाद सुदूर इलाकों में शिक्षा-विकास संबंधी प्रयासों का दस्तावेज भी है। मिश्र का जन्म 1934 में बिहार के दरभंगा और सीतामढ़ी जिला के समीप स्थित चंदौना गाँव में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा भारत में अंग्रेजी शासन के आखिरी दौर में हुई। 1947 में जब वे सातवीं कक्षा में थे तब देश स्वतंत्र हुआ और वहाँ से एक नयी यात्रा की शुरुआत हुई। वहाँ से 1950 के दशक में श्याम नारायण शिक्षक बने और फिर पुस्तक स्मृति प्रकल्प में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका कैसी हो? यह पुस्तक उसका एक खाका प्रस्तुत करती है।

पुस्तक की रचना-दृष्टि के केंद्र में विद्यमान 'अध्यापकीय जीवन' के परिचय में लेखक स्वयं लिखते हैं, ''1940 और 50 के दशक में जब मैं विद्यार्थी था तब हाई स्कूल प्रायः जिला मुख्यालयों, रेलवे स्टेशन के आसपास या किसी बड़े जमींदार की हवेली से लगे बाजारों में ही हुआ करते थे। आजादी के बाद 1960 और 70 के दशक में गाँव-गाँव में जन सहयोग से विद्यालय खुलने लगे। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा का प्रसार तो हुआ, लेकिन इन विद्यालयों में काम करने वाले शिक्षकों की स्थिति बद से बदतर होती चली गयी। बहुत सारे पढ़े-लिखे युवाओं ने बेहतर भविष्य की उम्मीद

में इन विद्यालयों में शिक्षक के रूप में काम करना शुरू किया था। उनमें से अनेक लोगों के मन में शिक्षा के प्रति अनुराग भी था और आगे बढ़ने की ललक भी।'' लेखक आगे कहते हैं, ''वे समाज का भला भी चाहते थे और अपना भी, लेकिन अधिकांश ग्रामीण स्कूलों के शिक्षकों का अपना ही भविष्य अनिश्चित था। विद्यालय के पास आय के स्रोत सीमित थे इसलिए वेतन समय पर और पूरा मिल नहीं पाता था। सरकार की ओर से यथोचित सहयोग मिल नहीं रहा था, इस बीच जिन शिक्षकों ने अपने युवावस्था में इस पेशे को चुना था उनकी जिम्मेदारियाँ बढ़ रही थीं। इन्हीं परिस्थितियों में शिक्षक धीरे-धीरे संगठित होने लगे और दो दशकों के सांगठनिक कार्य और एकाधिक आंदोलनों के बाद अंततः 1980 में बिहार के माध्यमिक विद्यालयों का सरकारीकरण हुआ।''

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया था कि सब आकाशीय चिह्नों के अलावा जमीनी कारक और कर्त्ता प्रत्यक्ष होते हैं तो सामाजिक और संगठनात्मक प्रक्रियाएँ अधिक स्पष्ट होती जाती हैं। उदाहरण के लिए स्कूली शिक्षा का इतिहास बिना शिक्षक संघों की प्रक्रियात्मक स्पष्टता अधूरा होगा। श्याम नारायण ने एक शिक्षक के तौर पर यह कमी पूरी करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं, ''शिक्षक-संघ पहले से ही मौजूद था, लेकिन उसमें 1960-70 के बाद ग्रामीण शिक्षकों की सक्रियता बढ़ती चली गयी। शहर के स्कूलों के शिक्षक शिक्षक-संघ के सदस्य होते थे, लेकिन वे संघ की गतिविधियों में बहुत रुचि नहीं लेते थे। शहर के स्कूलों में प्रायः वेतन आदि का भुगतान नियमित रूप से हो जाता था। शहर के बहुत सारे स्कूल राजकीय स्कूलों की श्रेणी में आते थे और उनके शिक्षक राज्य के कर्मचारी माने जाते थे। उन स्कूलों के आलावा अगर शहरों के कुछ स्कूल राजकीय श्रेणी के स्कूल नहीं भी थे तब उन स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या अधिक होती थी। विद्यार्थियों की अधिक संख्या होने के कारण उन स्कूलों के संसाधनों की उतनी कमी नहीं थी। इस परिस्थिति में शिक्षक-संघ से क्रमशः ग्रामीण शिक्षकों का जुड़ाव बढ़ता गया और शिक्षक-आंदोलन को नयी ऊर्जा मिली।''

ठीक उसी तरह आरंभिक शिक्षा को कैसे देखें, यह सवाल शिक्षा के इतिहास में केंद्रीय है। ऐसा इसलिए क्योंकि अगर समाजीकरण के ऐनक से देखें तो प्राथमिक समाजीकरण जो परिवार और अभिभावकों के मध्य होता है, उसमें प्राथमिक शिक्षा की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। उस दृष्टि से परिचय देते हुए लेखक लिखते हैं, ''पाटी पर मैंने भी लिखना शुरू किया-रामा गति देह सुमति। यह प्रार्थना की एक पंक्ति थी। पहली कक्षा के बच्चों को पहले यही लिखने का अभ्यास करना होता था। इस पंक्ति का मतलब था कि हे राम मेरे जीवन को गति दो, मुझे सुमति दो। जब इसे बार-बार लिखने के बाद बच्चे को लिखने का अभ्यास हो जाता था तब 'क वर्ग', 'च वर्ग' आदि का ज्ञान करवाया जाता था। गणित में जोड़ना और घटाना सीखना होता था। जोड़ना और घटाना सीखने के लिए बच्चे को घर से मिट्टी की छोटी-छोटी गोली बनाकर लाना होता था।'' अब इस दृष्टि से देखें तो प्राथमिक शिक्षा का आरंभ प्रार्थना से होना और फिर अगर प्रार्थना को धार्मिकता से जोड़ने का प्रयास हो, तो इसे कैसे समझें? खासकर जब समकालीन राजनीति के लिए ऐसे प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं तो क्या लेखक द्वारा अपने अनुभवों के सहारे किये गये संकेतों को समझने का प्रयास करना होगा।

साथ ही यह स्मृति राजनीतिक इतिहास की झलक भी दिखाती चलती है। उदाहरण के लिए लेखक बताते हैं कि 1970 के दशक में शिक्षक आंदोलन क्रमशः माध्यमिक विद्यालयों के सरकारीकरण की माँग पर केंद्रित होता चला गया। राज्य में कुछ गिने-चुने राजकीय विद्यालय थे। बड़ी सँख्या में विद्यार्थी गैर राजकीय विद्यालयों में पढ़ते थे और अधिकाँश शिक्षक उन्हीं विद्यालयों में कार्यरत थे। ये विद्यालय सामुदायिक प्रयासों से स्थापित हुए थे और इन्हें सरकार की ओर से सीमित सहयोग मिलता था। समय आ गया था कि सरकार अब इन विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों और कार्यरत शिक्षकों की पूरी जिम्मेवारी ले।

इन सभी प्रश्नों के केंद्र में यह पुस्तक न केवल एक अध्यापक के अनुभवों की माला है बल्कि उन अनुभवों के प्रकाश में राजनीतिक इतिहास का चित्र-चिंतन भी है। जहाँ शिक्षक के रूप में लेखक के अनुभव प्रांतीय हैं लेकिन उनका राष्ट्रीय अनुवाद पाठकों के लिए संभव है। उदाहरण के लिए शिक्षक संघ की परिणति पर टिप्पणी करते हुए लेखक ने बताया है, ''रामसुन्दर दास जी की सरकार गिरने के बाद डॉ. जगन्नाथ मिश्र की सरकार बनी। हमलोगों ने एक दिन अचानक सुना कि 2 अक्टूबर, 1980 से सभी माध्यमिक विद्यालयों का सरकारीकरण कर दिया गया है। इस घोषणा से अध्यापकों के बीच प्रसन्नता की लहर फैल गयी। माध्यमिक शिक्षकों को वे सारी सुविधाएँ देने की घोषणा हुई जो सरकारी कर्मचारियों को दी जाती थीं। आखिर शिक्षकों का आंदोलन सफल हुआ। बीच में परिस्थिति कुछ ऐसी बन गयी थी कि माध्यमिक विद्यालय के कुछ शिक्षकों ने मध्य विद्यालय में जाना शुरू कर दिया था क्योंकि मध्य विद्यालय में वेतन भुगतान नियमित रूप से होता था। माध्यमिक विद्यालयों के सरकारीकरण से यह विसंगति दूर हो गयी।'' अब यह टिप्पणी बिहार के लिए प्रांतीय जरूर है लेकिन यह इस संवाद के लिए आमंत्रित करती है क्या ऐसे ही आंदोलन भारत में और कहाँ-कहाँ उभर रहे थे। सरकारीकरण की प्रक्रिया से कैसे परिवर्तन आये? सरकारीकरण क्यों आवश्यक था? इस तरह की प्रश्नमाला के कारण यह पुस्तक सुरुचिपूर्ण बन जाती है। ❖❖

नयी परिभाषा गढ़ता संवेदनशील चितेरा

चंद्राली मुखर्जी

सपर्क :
शोधार्थी : जनसंचार विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

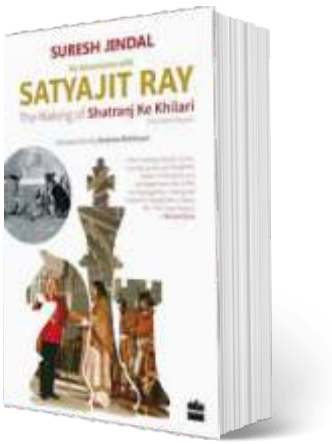

पुस्तक : 'माई एडवेंचर्स विथ सत्यजीत रायः द मेकिंग ऑफ शतरंज के खिलाड़ी''
लेखक : सुरेश जिंदल
प्रकाशक : हार्पर कॉलिंस
प्रकाशन वर्ष : 2017
मूल्य : 350 रु.

2017 में हार्परकॉलिंस इंडिया से प्रकाशित सुरेश जिंदल की पुस्तक ''माई एडवेंचर्स विथ सत्यजीत रायः द मेकिंग ऑफ शतरंज के खिलाड़ी'' सिनेमा प्रेमियों के लिए एक सर्वोत्कृष्ट साहित्य के रूप में उपयोगी है। इसी के साथ यह उस व्यक्ति के चरित्र अध्ययन के रूप में भी सार्थक है जिसने अपनी मेहनत और उपलब्धियों के बल पर विश्व सिनेमा जगत में एक नयी पहचान बनायी। इन सब महत्त्वकांक्षाओं के बावजूद सत्यजीत राय जैसे महान निर्देशक को विश्वासघातियों की वजह से लगातार अपने पेशेवर जीवन में त्रस्त होना पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बंगाल के एक मध्यम वर्गीय परिवार में जन्मे, विलक्षण प्रतिभा के धनी सत्यजीत राय ने अत्यंत सीमित संसाधनों के बावजूद विश्व सिनेमा की विरासत में अपनी गहरी छाप छोड़ी। सत्यजीत राय के सिनेमा का प्रारूप और दर्शन कभी भी भव्य या 'लार्जर दैन लाइफ' नहीं रहा, क्योंकि उनकी कला का मूल ही मानवीय था। असल में उनकी कहानियाँ और किरदार उन पहलुओं से भरे हुए थे, जिन्हें अक्सर सिनेमा में अनदेखा कर दिया जाता है। लंबे समय से सत्यजीत राय के विषय में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहुविध लिखा और कहा गया है। इसमें कोई दो राय नहीं कि समय के साथ उन पर लिखे साहित्य में लगातार वृद्धि होती रहेगी, क्योंकि सिनेमा के जरिये अपने दर्शकों तक उनकी पहुँच शुरुआत से ही दूसरों से बिलकुल अलग और अंतरंगी रही।

सुरेश जिंदल के अलावा शायद ही किसी ने राय का अध्ययन एक व्यक्ति विशेष और एक फिल्म निर्माता, दोनों के समग्र रूप में इतनी ईमानदारी, सहजता और सटीकता से किया होगा। जिंदल सत्यजीत राय की पहली हिंदी फीचर फिल्म (जिसके जिंदल खुद निर्माता थे) और उनकी सबसे महंगी फिल्म बनाने की प्रक्रिया के अपनी लेखनी के माध्यम से उनकी एक आकर्षक एवं व्यक्तिगत छवि प्रस्तुत करते हैं।

1921 में औपनिवेशिक कलकत्ता के एक सांस्कृतिक रूप से प्रतिभाशाली ब्रह्मो परिवार में जन्मे सत्यजीत राय के दादा उपेंद्रकिशोर, ठीक सत्यजीत की तरह ही, एक प्रसिद्ध लेखक, कलाकार, प्रकाशक और मुद्रक थे। उनके पिता सुकुमार राय बांग्ला 'आबोलताबोल' (निरर्थक कविता) और बच्चों के साहित्य के अग्रणी रचनाकारों में शुमार थे। केवल तीन वर्ष की आयु में अपने पिता को खोने के बाद, सत्यजीत का पालन-पोषण उनकी सामर्थ्यवान माँ सुप्रभा ने अकेले ही किया था। कम उम्र में घरेलू जिम्मेदारियों को संभालने के लिए उन्होंने छोटे-बड़े काम करते हुए सत्यजीत की अच्छी शिक्षा को सुनिश्चित किया। बचपन से ही उन्होंने सत्यजीत को संगीत, कला और साहित्य की बारीकियों से रूबरू कराना शुरू कर दिया। कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज से अर्थशास्त्र में स्नातक करने के पश्चात अपनी माँ की इच्छानुसार अध्ययन करने के लिए सत्यजीत शांति निकेतन स्थित रवींद्रनाथ टैगोर के विश्व-भारती विश्वविद्यालय में चले गये। 1943 में सत्यजीत ने एक ब्रिटिश विज्ञापन कंपनी डी.जे. कैमर में बतौर जूनियर विसुअलाईजर नौकरी शुरू की। 1949 में अपने नियोक्ता द्वारा सत्यजीत को लंदन में छह महीने की लंबी यात्रा पर भेजा गया, जहाँ वे पहली बार सिनेमा के प्रति अपने प्रेम से अवगत हुए। यहीं पर उन्होंने विट्टोरिओडेसिका की 'बाईसाइकिल थीव्स' जैसी कई नव-यथार्थवादी फिल्मों को देखा और फिल्में बनाने का मन बना लिया। अपने मित्र और प्रचलित सिनेमा आलोचक चिदानंददास गुप्ता के साथ, सत्यजीत ने 1947 में ही कलकत्ता फिल्म सोसाइटी की स्थापना की थी।

नौकरी के दौरान राय ने कई बहुचर्चित पुस्तकों के कवर को सजाने, उनके चित्रण का काम किया था, मगर बिभूति भूषण बंधोपाध्याय की 'पोथेर पांचाली' नामक एक उत्कृष्ट बंगाली उपन्यास के बाल संस्करण पर काम करते समय वे बहुत प्रभावित हुए। बच्चों के इस उपन्यास का नाम इस वक्त 'पोथेर पांचाली' से बदलकर 'आम आंटीर भेंपू' (आम के बीज की सीटी) रख दिया गया था। सिनेमा के लिए अपने जुनून के कारण अंततः उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी। कई वर्षों के संघर्ष के बाद, उन्होंने अपनी पहली फिल्म "पोथेर पांचाली' (छोटी सड़क के गीत) को वर्ष 1955 में रिलीज किया, और उसके बाद जो भी हुआ वह न सिर्फ भारतीय बल्कि विश्व सिनेमा के इतिहास का एक अमूल्य और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

जिंदल ने सत्यजीत का अध्ययन आम तौर पर एक गुरु, सहकर्मी, मित्र, और निर्देशक के रूप में किया है। इसके साथ-साथ उन्होंने एक ऐसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का भी अध्ययन किया है, जो अपने शिल्प के प्रति उतना ही समर्पित था जितना अपने परिवार और सहयोगियों के प्रति। यह पुस्तक सत्यजीत के प्रसिद्ध परफेक्शनिज्म, दुर्लभ क्रोध, हताशा और सहज बारीकियों के प्रति उनकी श्रद्धा के ऊपर पाठकों का ध्यान लगातार केंद्रित करती रहती है। यह वही चीजें हैं जिन्हें अक्सर दूसरे निर्माता अनदेखा कर देते हैं या जरूरी नहीं समझते। सत्यजीत के इस प्रकृति चित्रण और दस्तावेजीकरण में पाठक को उस व्यक्ति विशेष की गूंज मिलेगी जिसने भले विश्व सिनेमा के पाठ्यक्रम को हमेशा के लिए बदल दिया, लेकिन फिर भी उसे अपनी मातृभूमि में क्षुद्र प्रतिद्वंद्वियों से जीवन भर लड़ना पड़ा।

1971 में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय (लॉसएंजिल्स) से प्रशिक्षित इंजीनियर सुरेश जिंदल ने पारिवारिक व्यवसाय में शामिल होने के बजाय फिल्में बनाने का फैसला किया था। जिंदल बासु चटर्जी द्वारा निर्देशित 'रजनीगंधा' के निर्माता बने। इस फिल्म ने न केवल राष्ट्रीय पुरस्कार जीता, बल्कि वर्ष 1974 की सूपर हिट फिल्म भी साबित हुई। उनके मित्र टीनू आनंद थे, जो सत्यजीत के सहायक होने के साथ खुद एक फिल्म निर्माता और अभिनेता भी थे। एक शाम उनके साथ बैठकर जिंदल ने यह इच्छा प्रकट की कि वह हिंदी में फिल्म बनाने हेतु राय से संपर्क करना चाहते हैं। जल्द ही हुए एक ट्रंककॉल के बाद, राय ने जिंदल को कलकत्ता में आमंत्रित किया और बताया कि वह खुद ''हिंदी में एक फिल्म करने की सोच रहे थे।'' भौतिक और सांस्कृतिक दोनों तरह से राय का उल्लेखनीय वर्णन करते हुए, जिंदल उनके प्रसिद्द स्टडी रूम की भी व्याख्या करते हैं। उनके हिसाब से वह अध्ययन कक्ष ''एक पुनर्जागरण एटियलियर और एक रसायनज्ञ की प्रयोगशाला के संयोजन की तरह दिखता है'' और मानिक (राय का उपनाम) दा के ''अध्ययन, अनुसंधान केंद्र, स्टूडियो, संगीत कक्ष, सम्मेलन कक्ष और अड्डा के रूप में उपयोग किया जाता है।" उस कालखंड तक राय छब्बीस फिल्में बना चुके थे, जिसमें उनकी कई महान कृतियाँ भी शामिल थीं। इस पुस्तक के माध्यम से पाठक को एक महानतम फिल्म निर्माता के जटिल दिमाग और सख्त कामकाज के तरीके की झलक मिलती है। इसी के साथ पाठक यह भी समझता है कि कैसे एक प्रशंसित कलाकार युद्धाभ्यास के भाँति न केवल एक फिल्म बनाता है, उसके लिए संसाधन इकट्ठा करता है, और साथ ही लगातार उसकी मार्केटिंग करने का भी प्रयास करता रहता है।

राय ने मुंशी प्रेमचंद की लघु कथा 'शतरंज के खिलाड़ी' को कुछ वक्त पहले ही बनाने का निर्णय लिया था, लेकिन इसके लिए जरूरी मौद्रिक निवेश के कारण अनिच्छुक थे। पुस्तक के प्रारंभिक अध्यायों में जिंदल इस फिल्म के 1975 से शुरू हुए प्री-प्रोडक्शन चरण का शानदार प्रलेखीकरण करते हैं, जिसे राय के स्वास्थ्य और अन्य व्यस्तताओं के कारण बीच में कई बार रोका गया था। कई आकर्षक विवरण राय के विस्तृत 'स्टोरी बोर्ड' को दर्शाते हैं जिसमें सेट और वेशभूषा के लिए रेखाचित्र शामिल हुआ करते थे। उनके 'स्टोरी बोर्ड' के विवरणों से अचंभित होना निश्चित है, जो उनके नोटबुक मार्जिन पर विस्तृत रेखाचित्र और निर्देश के साथ उपलब्ध होते थे। इस अविश्वसनीय रचनात्मकता और फिल्म निर्माण के प्रवाह को रणनीतिक रूप से सत्यजीत और जिंदल के बीच आदान-प्रदान किये गये कई पत्र द्वारा नियमित अंतराल पर ठहराव मिलता रहा। पुस्तक में ऐसा खासकर उन पत्रों के माध्यम से होता है जिनमें वे बड़े पैमाने पर फिल्म की योजना बना रहे थे और लगातार इस फिल्म को लेकर अलग-अलग तरह से शोध कर रहे थे। पुस्तक के दस अध्यायों में जिंदल विस्तार से उस कार्यप्रणाली की व्याख्या करते हैं जिसके जरिये सत्यजीत

सही प्रॉप्स और संदर्भों को सुनिश्चित करने में लगे रहते थे। जिंदल एक फिल्म निर्माता के रूप में राय की कार्यप्रणाली से पाठक को परिचित कराते हैं। किताब में जिंदल स्मरण करते हैं कि "राय की कोई भी फिल्म, पूरी तरह से उन्ही की फिल्म होती है। वे खुद इसे लिखते हैं, निर्देशित करते हैं, कैमरा संचालित करते हैं (भले ही उनके पास एक निर्धारित कैमरामैन था), इसे संपादित करते हैं, संगीत की रचना करते हैं, सेट और प्रचार सामग्री को भी वे खुद डिजाइन किया करते हैं।" पूरी पुस्तक किसी दिलचस्प बातचीत की गति के समान बहती है जो एक स्टार स्ट्रक फिल्म निर्माता का प्रतिबिंब है जो अपने हीरो के साथ काम करने को उत्तेजित है। जब भी जिंदल विभिन्न पैमानों से राय का महिमामंडन करते हैं, वे उन छोटी-बड़ी घटनाओं का स्मरण करने में भी संकोच नहीं करते जिनकी वजह से उनमें और सत्यजीत में कई मर्तबा वैचारिक टकराव हुए थे। इस पुस्तक के जरिए जिंदल इस परिप्रेक्ष्य को भी प्रस्तुत करते हैं कि सत्यजीत अपने क्रू और यूनिट को लेकर बेहद अधिकारवादी थे। सत्यजीत का क्रू केवल उनके लिए काम किया करता था, और सत्यजीत ने भी प्रत्येक वर्ष सिर्फ अपने क्रू के आजीविका खातिर फिल्में बनायीं।

अपनी इस पुस्तक में जिंदल ने एक और उल्लेखनीय पहलू को भी वर्णित किया है जिससे यह पता चलता है कि किसी भी फिल्म में कास्टिंग कितना महत्त्वपूर्ण है। अपनी सटीक अवलोकन क्षमता से सत्यजीत अपनी फिल्मों की कास्टिंग से मानवीय तत्त्वों को और भी उजागर कर देते थे। जब जिंदल ने उनकी कास्टिंग प्रक्रिया के बारे में उनसे पूछा, तो सत्यजीत ने सहजता से बताया कि ''आँखें, सुरेश ... और उनका चलना। यही चीजें हमें अपने बारे में सबसे ज्यादा बताती हैं।" 'शतरंज के खिलाड़ी' फिल्म के सितारों से भरे कलाकारों के समूह में हर एक कलाकार उनका मुरीद था। फिल्म में जनरल जेम्स आउट्रम के रूप में अपना कैमियो करने वाले प्रसिद्ध ब्रिटिश अभिनेता लॉर्ड रिचर्ड एटनबरो ने बेझिझक दावा किया था कि वह खुशी-खुशी टेलीफोन डायरेक्टरी तक का पाठ करेंगे यदि राय उन्हें निर्देशित करें। अपनी पहली फिल्म से ही राय वैश्विक सिनेमा के महान निर्देशकों में गिने जाने लगे, और नियमित रूप से सिनेमा जगत की बड़ी हस्तियों के साथ उनका बराबर उठना-बैठना लगा रहा। इसके बावजूद राय हमेशा अपने अभिनेताओं और यूनिट के लिए हर काम आसान कर दिया करते थे। फिल्म में संजीव कुमार, सईद जाफरी, शबाना आजमी, अमजद खान, फारूक शेख, टॉम ऑल्टर, फरीदा जलाल सहित कई ख्यातिलब्ध और कुछ एकदम अनजान कलाकार भी शामिल थे। भारतीय कलाओं के निष्ठावान संरक्षक, अवध के नवाब वाजिद अली शाह के किरदार के लिए 'शोले' में गब्बर सिंह नामक डाकू की भूमिका निभाने वाले अमजद खान को कास्ट करने की कल्पना सिर्फ सत्यजीत ही कर सकते थे। राय के कैमरामैन सौमेंदुरॉय, संपादक सलिल दत्ता और कला निर्देशक बंसी चंद्रगुप्त ने हर प्रोजेक्ट की तरह इस प्रोजेक्ट में भी उनके साथ काम किया। शमा जैदी ने वेशभूषा डिजाइन करने के अलावा जावेद सिद्दीकी के साथ फिल्म के उर्दू और अवधी संवाद को भी लिखा था।

इस पुस्तक में जिंदल इस बात पर कई तरीकों से प्रकाश डालते हैं कि यद्यपि सत्यजीत सिनेमा के व्यावसायिक मूल्य और अपेक्षाओं के प्रति सचेत थे, लेकिन बाजार की शक्तियों के प्रति उनका स्वभाव उदासीन था। हालाँकि सत्यजीत को इन पहलुओं के बारे में अच्छी तरह से पता था, फिर भी उन्होंने सचेत रूप से खुद को मुख्यधारा के उद्योग से दूर रखा, खासकर भारत में। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि विश्व सिनेमा सर्किट में प्रतिष्ठित इस व्यक्ति के साथ उनके भारतीय सहयोगियों ने हमेशा एक अजनबी की तरह आचरण किया। यह पुस्तक सत्यजीत के सहज वर्णन, फिल्म के कुछ दुर्लभ कामकाजी चित्र और सत्यजीत द्वारा विभिन्न सेटों, प्रॉप्स और वेशभूषा के लिए बनाए गये कई रेखाचित्रों से अलंकृत है। उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक में जिंदल सत्यजीत राय के साथ अपने फिल्मी यात्रा के साथ के अलावा एक मैग्नमओपस के निर्माण का भी अध्ययन करते हैं। वे अपनी यात्रा और राय के साथ आजीवन मित्रता का सरल वर्णन करते है। सत्यजीत राय के दृढ़ आदर्शवाद, अनुशासन, प्रतिभा और विनम्रता के खिलाफ जिंदल अपनी खुद की कमजोरियों, दोषों, अनुशासनहींनता और ज्यादतियों को रखते हैं और उन्हें समझने का प्रयास करते हैं। ऐसा वे एक शिष्य के रूप में भी और एक मित्र के रूप में भी करते हैं। इस पुस्तक में वो क्षमता है जो खुद को एक ऐसे साधन में बदले सके जिसका उपयोग कोई भी व्यक्ति फिल्म बनाने के लिए कर सकता है। इस पुस्तक का अध्ययन अच्छी फिल्म के निर्माण के लिए एक संदर्भ ग्रंथ या हैंडबुक के रूप में भी किया जा सकता है।

मशहूर अभिनेता अमिताभ बच्चन के चंचल 'बैरिटोन' में बयान की गयी यह फिल्म असल में भारत के ब्रिटिश उपनिवेश से संबंधित मुद्दों पर एक ईमानदार टिप्पणी थी। सत्यजीत राय की अपनी मातृभाषा न होने और उनकी पहली हिंदी फीचर फिल्म होने के बावजूद, इस फिल्म के जरिये उन्होंने इतिहास की एक उल्लेखनीय समझ प्रदर्शित की, जो न तो संरक्षणवादी थी, और न ही भ्रमपूर्ण। भारतीय सिनेमा के इतिहास की यह पहली कुछ फिल्मों में से एक थी जिसमें एनीमेशन का शानदार इस्तेमाल किया गया था। इस फिल्म

के बहाने से सत्यजीत ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर एक अनोखा व्यंग्य भी किया था। प्रेमचंद ने जिस तरह किस्सागो शैली में अक्सर मानव स्वभाव के आभ्यंतर, अप्रीतिकर और उद्दंड हिस्सों को खूबसूरती और सहजता से प्रकट किया। ठीक उसी तरह सत्यजीत राय ने भी अपने सिनेमा शैली में उस रुचि के धागे को लगातार पकड़े रखा। हैरानी की बात तो यह है कि इस पुस्तक के पृष्ठों से यह साफ समझ में आता है कि सत्यजीत ने फिल्म में न कोई नायक बनाया और न ही कोई खलनायक। शायद यही कारण था कि वाणिज्यिक परिदृश्य से यह फिल्म सत्तर के दशक में चल रहे फिल्मों से कोसों आगे थी। विभिन्न माध्यमों से यह पुस्तक आखिर कहना भी यही चाहती है कि सत्यजीत किसी युग विशेष के नहीं, बल्कि एक कालजयी निर्देशक और कलाकार हैं।

न सिर्फ भारतीय सिनेमा में, बल्कि अंतरराष्ट्रीय सिनेमा में भी, सत्यजीत शुरुआत से अप्रतिम थे, हैं और आगे भी रहेंगे क्योंकि उनका शिल्प और उनकी कला विभिन्न लोगों के लिए, विभिन्न अनुभूतियों को जाहिर करती है। उनकी कला और सिनेमा तकनीकों के माध्यम से वे खुद सिनेमा प्रेमियों और छात्रों के लिए एक दर्शन के रूप में भी सामने आते रहते हैं। सामान्य अभिव्यक्तियों और छोटे पहलुओं में भी परफेक्शन ढूंढ़ने की उनकी जिद्द ने उन्हें अपने समय के अन्य निर्देशकों से जितना अलग किया, उतना ही उन्हें अपने दर्शकों के करीब लाता गया। प्रशंसित फ्रांसीसी लेखक जौं-क्लोद कारिऐर ने जहाँ इस पुस्तक की प्रस्तावना को सुसज्जित किया, वहीं इसके परिचय को सत्यजीत के जीवनी लेखक, फिल्म समीक्षक और विद्वान एंड्रयू रॉबिन्सन ने लिखा है। वे लिखते हैं कि सत्यजीत अपनी सभी फिल्मों की पटकथाओं को बांग्ला में लिखा करते थे और जब 'शतरंज के खिलाड़ी' (1977) की पटकथा लिखी गयी, तो यह पहली ऐसी फिल्म थी जिसे सत्यजीत ने सबसे पहले अंग्रेजी में लिखा था। बाद में पटकथा को योजना के तहत उनके मुख्य पटकथा सहयोगी, जैदी द्वारा उर्दू में अनूदित किया गया था। इस फिल्म के सेट पर रॉबिन्सन जब भी मौजूद थे, उन्होंने पाया कि सत्यजीत, जिंदल (फिल्म के निर्माता) से, अपने अभिनेताओं से, या सहयोगियों से जब भी वार्तालाप करते थे, तो सिर्फ अंग्रेजी में। अन्य उर्दू सहयोगियों से भी सत्यजीत सिर्फ अंग्रेजी में संवाद करते थे और यह देखकर रॉबिनसन आश्चर्य में थे। यह स्वीकार किया जाता है कि हिंदी पर राय की कमान काम चलाऊ थी, फिर भी रॉबिन्सन लिखते हैं कि जैदी ने उन्हें बाद में समझाया कि, ''वह (सत्यजीत) तब तक कुछ करना पसंद नहीं करते, जब तक कि वास्तव में वह उसमें माहिर न हों।'' अब तक के सबसे बड़े सिनेमाई टाइटन्स में गिने जाने वाले, सत्यजीत राय अपने आप में सिर्फ एक निर्देशक नहीं बल्कि एक फिल्म स्कूल थे। यह भी सच है कि फिल्म निर्देशन राय के कला और सौंदर्यशास्त्र के असाधारण योगदान का केवल एक विलक्षण पहलू है। एक ऐसे समय में जब विश्व युद्धों के थपेड़ों के बाद किसी कलाकार का बहुश्रुत होना और उसकी अपनी सीमा को लगभग भुला दिया था, विभिन्न शिल्पों के प्रति सत्यजीत की संवेदनशीलता का लगातार विस्तार होता रहा। यह हैरानी की बात है कि उन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में ऐसा करने का साहस किया, उनके पास न ही कोई व्यक्तिगत और न ही प्रायोजित संसाधन विकसित हुए थे। ❖❖

सत्य के बहाने नयी राजनीति

शान कश्यप

संपर्क :
शान कश्यप, शोधार्थी,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

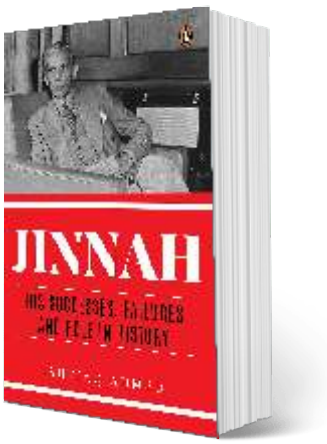

पुस्तक : जिन्नाह : हिज सक्सेसेज, फेलियर्स, एंड रोल इन हिस्ट्री
लेखक : इश्त्याक अहमद
प्रकाशक : पेंगुइन रैंडम हाउस
प्रकाशन वर्ष : 2020
मूल्य : 899 रु.

पाकिस्तानी मूल के स्वीडिश राजनीतिशास्त्री इश्त्याक अहमद जिन्नाह की जीवनी लेकर आये हैं। जीवनी के माध्यम से भारत के विभाजन, स्वतंत्रता आंदोलन की राजनीति और पाकिस्तान के निर्माण की वैचारिक परिणीति को पुर्नव्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। जिन्नाह की सफलताओं, विफलताओं और इतिहास-निर्माण में उनकी भूमिका को स्पष्ट करके सात दशकों में बन पड़े मिथकों और आदि-ऐतिहासिक मान्यताओं से परे 'सत्य' को स्थापित करना इस पुस्तक की प्रकट मंशा है। किंतु अव्यक्त धारणाओं की खोजबीन करने पर प्रकट और निहित के मध्य अनगिनत अंतर्विरोध और राजनीतिक मंशाएँ दिखायी देती है।

अहमद की सफलता को इस रूप में प्रचारित किया गया है कि इस किताब ने आयेशा जलाल की थीसिस को नकारा है। जलाल की थीसिस मोटे रूप में संशोधनवादी इतिहास का एक उदाहरण है। अपनी किताब 'द सोल स्पोक्समैन : जिन्नाह, द मुस्लिम लीग, एंड द डिमांड फॉर पाकिस्तान' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985) में जलाल ने यह तर्क दिया था कि जिन्नाह अंत तक विभाजन को तैयार न होकर संवैधानिक विकल्पों की ओर देख रहे थे। आखिर में जिन्नाह और मुस्लिम लीग के हाथ जो पाकिस्तान आया भी वह उनकी मांगों के अनुरूप नहीं था। इस थीसिस ने दक्षिण एशियाई आधुनिक इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण मतैक्य को धक्का दिया था। मतैक्य था कि पाकिस्तान के निर्माण और फलतः भारत के विभाजन में मोहम्मद अली जिन्नाह और मुस्लिम लीग की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यह मतैक्य इस रूप में स्थापित था कि भारतीय राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकारों ने कांग्रेस को विभाजन की त्रासदी से विमुक्त करके इसका सारा जिम्मा जिन्नाह और मुस्लिम लीग पर डाल दिया था। वहीं सीमा रेखा के उस ओर पाकिस्तान में जिन्नाह की सफलता पाकिस्तान आंदोलन में परिणित होती दिखायी देती है। अगर कोई यह कहे कि जिन्नाह पाकिस्तान चाहते ही नहीं थे तो पाकिस्तान के समकालीन इतिहास की गति को धक्का लगता है जहाँ जिन्नाह को किसी 'राष्ट्रपिता', किसी 'कायदे आजम' की तरह प्रस्तुत किया जाता रहा है। जलाल की थीसिस ने पिछले तीन दशकों से जिन्नाह पर होने वाली सारी इतिहास चर्चा को अपने आसपास समेट रखा है। उसके बाद होने वाले सभी शोध या तो जलाल का समर्थन करने के लिए नये स्रोत और आधार जुटाने में लग गये, या तो उसे अस्वीकृत करने की होड़ में लगे या उसे केवल संश्लेषित करते रहे। किंतु जिन्नाह पर चर्चा विभाजन से आगे न बढ़ सकी। जिन्नाह पर इतिहास चर्चा विभाजन की राजनीति को समझने का केवल एक आधार बनता रहा। जबकि खुद जलाल ने अपनी थीसिस में आगे चलकर कुछ परिवर्तन किये हैं, यह तथ्य उनके विरुद्ध प्रतिउत्तर लिखने वालों के सामने नहीं आया। अपनी दूसरी पुस्तकें 'द स्टेट ऑफ मार्शल रूल' (कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990) और 'सेल्फ एंड सॉवरेंटी : इंडिविजुअल एंड कम्युनिटी इन साउथ एशियन इस्लाम' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000) में जलाल ने अपनी जिन्नाह थीसिस को संपुष्ट किया है और समकालीन पाकिस्तान में मिलिट्री और इस्लाम की भूमिका को भी उभारा है।

जीवनी की राजनीति

इतिहास-निर्माण में व्यक्ति की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण होती है? क्या व्यक्ति ही इतिहास की गतिशीलता को निर्मित और निर्धारित करता है? इन प्रश्नों से आधुनिक इतिहास की विधा 18वीं सदी से जूझ रही है, अंतर केवल इतना है कि इस प्रश्न में 'व्यक्ति' की पहचान 'नायक' के रूप में की गयी है। 19वीं सदी के ब्रिटिश इतिहासकार और निबंधकार थॉमस कार्लाइल ने अपनी पुस्तक ऑन हीरोज, हीरो वरशिप, एंड द हीरोइक इन हिस्ट्री

(1841) में 'महान नायकों का सिद्धांत' प्रतिपादित करते हुए तर्क प्रस्तुत किया कि विश्व इतिहास महान नायकों की जीवनी से अधिक कुछ और नहीं है। कार्लाइल की पुस्तक छः निबंधों से मिलकर बनी थी जिसमें नायकों को देवत्व, पैगंबर, कवि, पादरी, साहित्यिक, और राजा की तरह पहचाना गया था। इस परिपाटी से होते हुए जब इतिहास लेखन का आधुनिक प्रकल्प दक्षिण एशिया में स्थापित हुआ तो नायक महत्त्वपूर्ण बने रहे। जेम्स मिल की 'द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' (1817) से लेकर तारा चंद द्वारा लिखित स्वतंत्र भारत का प्रथम आधिकारिक इतिहास 'हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया' (1961) नायकों के बारे में ही रहा और इसमें भी अधिकतर राजा रहे, चाहे वो राजवंशीय हो, या लोकतांत्रिक संघर्ष के लिए ऊपरी राजनीति में सक्रिय कुछ राजनेता।

1970 के दशक के बाद मार्क्सवादी इतिहास से संबंधित लेखकों का वर्चस्व राज्य सत्ता की देख-रेख में सुदृढ़ हो चुका था। नायकों से ध्यान हटाने का प्रयास किया जाने लगा। विद्यालयी पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से कुछ नायकों को, जो स्वतंत्रता संघर्ष में कांग्रेस आंदोलन से संबंधित थे, और प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जो नायक स्वतंत्र भारत के संवैधानिक संकल्पनाओं पर खरे उतारे जा सकते थे, उन्हें आख्यानों में संरक्षित कर लिया गया। उदाहरण के लिए, प्राचीन काल में अशोक का केंद्र में होना, मध्यकाल में अकबर का, और आधुनिक काल में जवाहरलाल नेहरू का, सेक्युलरवाद जैसी वैचारिक संकल्पना को भारत के बृहत् और दीर्घ इतिहास में एकसूत्रीय मान्यता स्थापित करने की मंशा से एकरूपित किया गया था। तो स्पष्ट रूप से जो नायक इस संदर्श के बाहर गिरे उन्हें आख्यान में उठाने का कोई प्रयास नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होने लगा कि इतिहास-लेखन अब विचारों, आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं के बारे में है लेकिन उसके केंद्र में नायक बने रहे। मध्यकालीन भू-राजस्व का अध्ययन हो, या विज्ञान और प्रौद्योगिकी का, वह अकबर के काल में करना अधिक उचित जान पड़ा। जब वही अध्ययन औरंगजेब के काल में गये तो वहाँ धार्मिक असहिष्णुता की जगह मुगलों के पतन के लिए आर्थिक कारण खोजे जाने लगें। ठीक उसी तरह स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास जिस कालक्रम में 1857 के बाद आगे जाता है और राजनीतिक संपर्क, संसर्ग, और संगठन में राष्ट्रवाद के उदय को निरूपित करता है, वह असल में 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और 1915 में महात्मा गांधी के भारत आगमन को आख्यान में केंद्रीयता से परिलक्षित करने को लालायित होता है। फलतः इतिहास-लेखन ने यह आभास तो दिलाया कि नायकों पर चर्चा को केंद्रित रखना अब अप्रचलित धारणा है, लेकिन नायकों ने आख्यान से कभी विदा नहीं ली।

आख्यान में नायको की इस केंद्रीयता को विभाजन के इतिहास-लेखन के संदर्भों में असीम रॉय ने 'हाई पॉलिटिक्स' कहा है। (मॉडर्न एशियन स्टडीज, मई 1990)। इससे आशय यह है कि जनता के अभियान और जन-राजनीति की प्रक्रियाओं की उपेक्षा कर इतिहास, आख्यान में केवल कुछ राजनेताओं की कार्मिक और वाचिक गतिविधियों को इतिहास की गतिशीलता का कारक मान लिया जाता है। यही कारण है कि विभाजन की त्रासदी बीत जाने के सात दशकों बाद भी जन-विवेचना में इसके कारणों को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, मौलाना आजाद, मोहम्मद अली जिन्नाह, लार्ड माउंटबैटन आदि जैसे कुछ राजनेताओं के इर्द-गिर्द खोजा जाता रहता है। राममनोहर लोहिया जैसे समाजवादी नेता ने भी इसी धारणा के अनुरूप अपनी किताब 'गिलटी मेन ऑफ इंडिआज पार्टीशन' (1960) में विभाजन के कारण और कारक को 'हाई पॉलिटिक्स' में विवेचित करने का प्रयास किया था। इन सबके बावजूद अहमद ने अपनी बहुप्रचारित पुस्तक में केवल आयेशा जलाल की 'द सोल स्पोक्समैन' को आड़े हाथों लिया है। किंतु इश्त्याक अहमद जब इस विषय पर लौटते हैं तो उनके पीछे इतिहास-लेखन की कई नवीन धाराएँ हैं जहाँ जन-राजनीति और निम्नवर्गीय प्रसंग के कई अध्याय जुड़ चुके हैं। सांप्रदायिकता, राजनीतिक चैतन्य, सांस्कृतिक अंतर्विरोध, पंथीय अस्मिता निर्माण में भाषा- हिंदी और उर्दू- की भूमिका, गौ हत्या और गौ रक्षा का प्रश्न, और गांधीवादी जन-आंदोलन के समकक्ष होने वाले शहरी और ग्रामीण दंगों पर ढेरों इतिहास ग्रंथ लिखे जा चुके थे। तो अब भी अगर कोई मोहम्मद अली जिन्नाह के नाते केवल विभाजन की त्रासदी में एक और 'हाई पॉलिटिक्स' का अध्याय जोडने की मंशा से सामने आये तो उस पर यह न्यायोचित आरोप लगाया जा सकता है कि उसने कालखंड विशेष के इतिहास लेखन हेतु प्राथमिक और द्वितीय स्रोतों को समग्रता में नहीं देखा है, अहमद पर यह आरोप बनता है।

प्रश्न यह है कि इश्त्याक अहमद जैसा प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री और समकालीन पाकिस्तान का एक प्रखर अध्येता यह चूक क्यों कर गया? इसका उत्तर अव्यक्त राजनीति में है। 800 पृष्ठों की मोटी जिल्द में अहमद के पास लगभग 400 पृष्ठों तक कोई नयी सूचना, स्रोत, और संकल्प नहीं है। उन्होंने पहले से कई बार दोहरायी जा चुकी बातों को फिर से उसी तरह प्रतिकृत और प्रतिलिपित कर दिया है। कई महत्त्वपूर्ण विषय जैसे, 'गांधी और जिन्नाह की राजनीतिक विचारधारा', कई जन-आंदोलन, लखनऊ समझौता (1916), खिलाफत पर जिन्नाह की समझ, बेहद छोटे उपशीर्षकों में गौण हो गये हैं। बल्कि यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि पूरी

किताब ही 400-500 शब्दों के उपशीर्षकों का एक असंबद्ध संकलन मात्र है। अहमद ने जिन्नाह की राजनीतिक यात्रा, और उस नाते उनके व्यक्तित्व और विशिष्ट चरित्र को चार भागों में बाँटा है। वे संवैधानिक परिणीति से सांप्रदायिक होने की ओर अग्रसर दिखायी देते हैं। लेकिन अहमद ने एक जीवनी लेखक होने के नाते इस राजनीतिक यात्रा के विभिन्न चरणों में कोई गठजोड़ या अवस्थांतर दिखाने का कोई प्रयास नहीं किया है। उदाहरण के लिए, किसी भी राजनीतिक जीवनी लेखक के लिए एक प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि कभी 1916 में 'हिंदू और मुस्लिम एकता' के अगुआ कहलाने वाले जिन्नाह 1937 तक मुस्लमान सांप्रदायिकता के अगुआ कैसे बन गये? क्या यह आमूल-चूल परिवर्तन केवल व्यक्तिक था, या सामाजिक था, या निम्नवर्गीय राजनीति से आने वाले दबाव का परिणाम था? क्या कांग्रेस के लखनऊ सत्र (1916) में जिस तरह से हिंदू और मुस्लिम राजनेताओं में एका हुआ था, वह निम्नवर्गीय और जन-समुदायों का भी एका था? क्या विधायिका में सीट बँटवारे पर समझौते ने हिंदी-उर्दू विवाद को समाप्त कर दिया था? क्या गौ मुसलमानों के लिए भी पूजनीय हो गयी थी और गौरक्षणी आंदोलन समाप्त हो गया था? और अगर यह सभी विषय समाधान की ओर अग्रसर हो चले थे तो ठीक एक वर्ष बाद बिहार में शाहाबाद दंगे (1917) गौ मांस खाने के नाम पर क्यों भड़क उठे थे? आकलन है कि शाहाबाद दंगों में लगभग 3000 लोगों की मृत्यु हुई थी। तो क्या जन-परिसर में चलायमान सामाजिक और सांस्कृतिक मतभेदों और अंतर्विरोधों का दबाव उच्च राजनीति की चौखट तक नहीं आया होगा? इन प्रश्नों के आलोक में हम जिन्नाह, मुस्लिम लीग, गांधी, और कांग्रेस की बड़ी साफ सुलझी दिखने वाली राजनीति को कैसे समझ सकते हैं?

इश्तयाक अहमद के पास इन सभी प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं क्योंकि जीवनी लेखन के स्रोतों के रूप में उन्होंने केवल जिन्नाह के वाचिक स्रोतों को केंद्र में रखा है. मुस्लिम लीग के मंचों पर दिये गये भाषण, पाकिस्तान बनने के बाद वहाँ की संविधान सभा में दिये गये भाषणों से बदल दिये गये हैं। इसका लाभ क्या हुआ है? संभवतः कुछ नहीं। किसी पाकिस्तानी मूल के अकादमिक व्यक्ति का कहना कि पाकिस्तान निर्माण और भारत विभाजन में जिन्नाह की भूमिका कहाँ तक थी, यह भारत के इतिहास अध्येताओं के लिए कोई विशेष समाचार नहीं है। पुस्तक के 16वें अध्याय से अहमद केवल आयेशा जलाल की थीसिस को खंडित करने में लग जाते हैं यानी अंत तक वह यह स्थापित करने का भरसक सफल प्रयास करते हैं कि पाकिस्तान आंदोलन को जिस तरह से मोहम्मद अली जिन्नाह और आल इंडिया मुस्लिम लीग ने निरूपित किया था वह सफल रहा। जलाल के संशोधनवादी प्रयास को निष्कासित करके अहमद ने क्या पाया है? पहला लाभ खुद पाकिस्तान का है जहाँ अब नयी शासकीय तंत्र में फिर से सेना, मुल्ला और प्रतिगामी ताकतों को पाकिस्तान निर्माण के उद्भव में 'इस्लामी राष्ट्रवाद' की परिणीति देखने की लालसा रहती है। इसी कारण अहमद ने जिन्नाह के 11 अगस्त, 1947 के भाषण को बड़ी गंभीरता से विश्लेषित करने का प्रयास किया है। भाषण में धार्मिक स्वतंत्रता की जिस बात को कहा गया था, उसे दरकिनार कर अहमद यह विवेचित करते हैं कि ऐसा जिन्नाह ने केवल यह दिखाने के लिए किया था कि पाकिस्तान में हिंदू और सिख सुरक्षित रहेंगे और भारत अपने यहाँ रहने वाले मुसलमानों को पाकिस्तान जाने पर विवश न करें। इस कयास के लिए अहमद के पास कोई ठोस आधार नहीं है। इस विवेचना में अव्यक्त यह धारणा है कि अहमद स्थापित करना चाहते हैं कि जिन्नाह कभी 'सेक्युलर' पाकिस्तान बनाने के पक्ष में थे ही नहीं। वह हमेशा से 'इस्लामी राष्ट्र' बनाने के पक्ष में थे। जाहिर है इस विवेचना को पाकिस्तान की प्रतिगामी राजनीति में बहुत सराहा जाता रहा है। दूसरे में, जब यह किताब भारत की ओर आती है तो वहाँ भी पुराने राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकारों के लिए जिन्नाह को विभाजन की त्रासदी का अकेला जिम्मेदार मानने और बताने के कई लाभ हैं। उदाहरण के लिए, जैसे ही जिन्नाह पर बात शुरू और खत्म होती है, आख्यान निम्नवर्गीय प्रसंग और जन-सामुदायिक परिसर में व्याप्त सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों में उतरने से बच जाता है। हिंदी और उर्दू का झगड़ा, गौ रक्षा का प्रश्न, मंदिर विखंडन और मस्जिद के आगे जुलुस और संगीत, और हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य सांस्कृतिक असहमति पर चर्चा बढ़ती नहीं, और जिन्नाह या गांधी तक विभाजन को रोककर उसे एक 'घटना' की तरह आकलन कर लिया जाता है। इस तरह विभाजन एक 'प्रक्रिया' के रूप में कभी अध्ययन की परिसीमा में प्रवेश ही नहीं कर पाता है।

इश्त्याक अहमद की किताब कई मामलों में एक गैर-जरूरी अनुवृद्धि है। किताब में स्रोतों से लेकर 'कॉपी-एडिटिंग' तक की कई समस्याएँ हैं। इसे पढ़ते हुए हर पाठक को यह प्रश्न अवश्य करना चाहिए कि 21वीं सदी में मोहम्मद अली जिन्नाह की इतनी गाढ़ी जीवनी लिखने वाले राजनीतिशास्त्री ने क्या इसे पाकिस्तान की राजनीति से अलग रखा है? किताब को तनिक गंभीरता से देखने पर उत्तर स्पष्ट हो जाता है। इस जीवनी को 'जीवनी और इतिहास' की राजनीति के साथ संपुष्ट करके ही पढ़ना होगा। ❖❖

नयी लकीर खींचता उपन्यास

पीयूष द्विवेदी

संपर्क : मकान सं. 302,
देव होम्स अपार्टमेंट,
वेलकम सिटी
निकट - राधा स्वामी सत्संग
शाहबेरी, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
पिन - 201009

पुस्तक : एक लड़की पानी पानी (उपन्यास)
लेखक : रत्नेश्वर
प्रकाशक : राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2019
मूल्य : 325 रु.

हाल के वर्षों में पर्यावरण से संबंधित विषयों पर, वैज्ञानिक तथ्यों और शोध से परिपूर्ण कथा-साहित्य की रचना करने को लेकर रत्नेश्वर ने अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। बीते वर्षों में लगातार प्रकाशित उनके दोनों उपन्यास 'रेखना मेरी जान' और 'एक लड़की पानी पानी' क्रमशः ग्लोबल वार्मिंग और जल-संकट पर केंद्रित रहे हैं। यह वर्तमान समय की वो विकट समस्याएँ हैं, जिनकी भावी विकरालता के तो बहुत से अनुमान आदमी ने लगा रखे हैं, लेकिन उस विकरालता का निवारण करने के लिए कोई ठोस समाधान अब भी मनुष्य की क्षमताओं से बाहर ही है। साहित्य के केंद्र में मनुष्य होता है, उसके प्रश्न होते हैं और समस्याएँ होती हैं। परंतु, इसे विडंबना ही कहेंगे कि मनुष्य के अस्तित्त्व से जुड़े हवा-पानी जैसे विषयों पर हिंदी साहित्य में वैसा कोई रचनात्मक कोलाहल नजर नहीं आता जैसा कि होना चाहिए।

उल्लेखनीय होगा कि अपने निबंध 'साहित्य-बोध : आधुनिकता के तत्त्व' में प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय ने लिखा है कि हमें "विनयपूर्वक यह स्वीकार करना चाहिए कि विज्ञान की उपलब्धियों को ग्रहण करने, उनका चिंतन और मनन करने के प्रति हिंदी का लेखक उतना सजग नहीं है जितना वह हो सकता है.."अज्ञेय ने दशकों पूर्व यह चिंता जाहिर की थी, परंतु आज इक्कीसवीं सदी के दो दशक बीतने के बाद भी इस दिशा में हिंदी का लेखन बहुत आगे बढ़ता नहीं दिखायी देता। ऐसे में, रत्नेश्वर इस संबंध में एक उम्मीद की तरह नजर आते हैं। उनके आलोच्य उपन्यास 'एक लड़की पानी पानी' की बात हो या पिछले उपन्यास 'रेखना मेरी जान' की चर्चा हो, दोनों में न केवल वर्तमान समय के हवा-पानी जैसे जरूरी विषयों, जिनका संबंध मानव अस्तित्त्व से जुड़ा हुआ है, की पड़ताल भविष्य में जाकर की गयी है, अपितु उन विषयों की वैज्ञानिकता के साथ भी लेखक ने एक साहित्यिक कृति की मर्यादाओं में रहते हुए यथासंभव न्याय किया है।

'एक लड़की पानी पानी' पर बात करने के पूर्व यह तथ्य उल्लेखनीय होगा कि जल-संकट को लेकर हिंदी में थोड़ा-बहुत कथा-लेखन हुआ है, जैसे कि नासिरा शर्मा का उपन्यास 'कुइयाँजान'। यह उपन्यास जलसंकट पर बड़े इत्मिनान से बात करता है। लोकतत्त्वों का भी इसमें सुंदर समावेश किया गया है, परंतु इस कृति में देश-काल और चिंतन की एक सीमा है और अपनी सीमा में यह संपूर्ण तथा सुंदर है। वहीं 'एक लड़की पानी पानी' की कहानी ही भविष्य की है। साथ ही, इसकी परिधि का विस्तार देश-दुनिया की सीमाओं से बहुत आगे ब्रह्मांड तक फैला हुआ है। समस्या एक सी होते हुए भी दोनों उपन्यासों का ट्रीटमेंट एकदम अलग है।

यह कहानी एक ऐसे समय की है, जब विश्व के लिए सबसे बड़ी समस्या पानी की कमी बन चुकी है। हर तरफ पानी को लेकर अलग-अलग तरह की समस्याएँ सामने आ रही हैं और विविध प्रकार के समाधानमूलक प्रयास भी हो रहे हैं। आज भारतीय सरहद पर पड़ोसी देश से आतंकी घुसपैठ के प्रयास होते रहते हैं, लेकिन इस उपन्यास में जब पानी-घुसपैठिये जैसी बात आती है तो हम चौंक जाते हैं। यह पढ़ते हुए व्यक्ति सन्न रह जाता है और आभास होता है कि आपसी 'तू-तू मैं-मैं' में उलझे विश्व को अंदाजा ही नहीं है कि समस्या किस कदर भयावह हो रही और उसे क्या-क्या झेलना पड़ सकता है।

समस्या तो विकट है, परंतु रत्नेश्वर के लेखन की यह विशेषता है कि वे नाउम्मीदी का साहित्य नहीं रचते। वे ग्लोबल वार्मिंग और पानी के अकाल जैसी भीषण समस्याओं को उठाते हैं, परंतु उनका पक्ष मानवीय प्रयासों, संघर्षों और नवाचारों की तरफ ही होता है। वे समस्या पर अपनी कलम को नहीं रोकते, उसके आगे बढ़ते हैं और यह जानते हुए भी कि समाधान देना उनके लिए अनिवार्य नहीं है और न इसमें वो पूर्णतः सक्षम ही हो सकते हैं, वे समाधान का संकेत या यूँ कहें कि उम्मीद दे जाते हैं। यह कहना शायद अनुचित नहीं होगा कि यहाँ वे तुलसी की 'लोकमंगलकारी दृष्टि' तथा प्रेमचंद के 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के अनुगामी प्रतीत होते

हैं।

लेखक की दृष्टि भी बहुत व्यापक है। न केवल देश अपितु काल की सीमाओं को भी वे लाँघ जाते हैं। जल संकट के समाधान के सूत्र वे आधुनिक विज्ञान की विवेचनाओं में तो टटोलते ही हैं, प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान और दर्शन के भीतर भी इसकी खोज में जाने से नहीं हिचकते और निश्चित ही इसके प्रति उनकी आस्था अधिक दृढ़ है। इस द्विकालीय ज्ञान-यात्रा के क्रम में जो वर्णन उपन्यास में मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि लेखक ने भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परंपरा और आधुनिक विज्ञान दोनों पर गहन शोध किया है। इस बात को हम उपन्यास की नायिका श्री द्वारा विश्व पानी सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करते हुए जल-संकट के समाधान पर दिए वक्तव्य के इस अंश मात्र से समझ सकते हैं, "भारत इस समय ब्रह्मांड और वायुमंडलीय, दो प्रकार के प्रयोगों को आगे बढ़ाने की ओर अग्रसर है। ब्रह्मांड में वैसे ग्रहों, क्षुद्र ग्रहों, जल पिंडों की तलाश की गयी है, जहाँ बर्फ हो या पानी हो। रोबार्डो रेडारी के अनुसार, चार सौ करोड़ साल पहले पानी से भरे एक क्षुद्र ग्रह के टकराने से पृथ्वी पर पानी आया था। ठीक उसी तरह दूसरे ग्रहों से पानी लाने के क्या उपाय हो सकते हैं? उनका सीधे टकराना तो जीवों को ही नष्ट कर देने या यों कहें कि उनका समूल अंत कर देने जैसा होगा! हमें पुनः शंकर की तलाश करनी होगी, जो गंगा के वेग को अपनी जटाओं में सहन कर सकें।" ऐसे कई उद्धरण इस उपन्यास में मौजूद हैं, जहाँ भारत के पुरातन (जिसे सनातन भी कह सकते हैं) और विश्व के अधुनातन को लेखक ने जोड़ने का प्रयास किया है।

एक बात और उल्लेखनीय लगती है कि रत्नेश्वर के इस उपन्यास में मौजूद वैज्ञानिक चेतना, आध्यात्मिक रहस्यवाद और भविष्य का आयोजन कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु उनके लेखन को देखने पर यह उसमें निहित एक प्रवृत्तिगत विकास के रूप में

हालाँकि इस उपन्यास का जैसा विषय और जैसी इसकी सामग्री है, इसके साथ दो बड़े खतरे दिखायी देते हैं। एक तो ये कि इसकी विषय-सामग्री सामान्य पाठकों के लिहाज से बहुत सरल व सुग्राह्य नहीं कही जा सकती। एक संभावना यह मान लेते हैं कि पाठक कठिन सामग्री को अनदेखा कर यह उपन्यास पढ़ लेगा, परंतु तब यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि ऐसी स्थिति में क्या वह इसके केंद्रीय भाव को ग्रहण कर पाएगा? दूसरा संकट यह है कि इसमें आध्यात्मिक चिंतन-दर्शन के वर्णन के क्रम में लेखक ने जिस रहस्यवाद का सहारा लिया है, विशेषकर इसके अंत में, उसे सुधी पाठक या समीक्षक किस रूप में लेंगे, अभी नहीं कहा जा सकता। दिनकर की उर्वशी में पुरुरवा-उर्वशी के आध्यात्मिक रहस्यवाद को सिद्धों के 'महासुखवाद' के रूप में सिद्ध करने की आलोचकीय चेष्टा हम हिंदी साहित्य में देख चुके हैं। कबीर के रहस्यवाद की भी कई व्याख्याएँ हुई हैं।

चिह्नित होता है। यह प्रवृत्ति 2011 में आये उनके कहानी-संग्रह 'लेफ्टिनेंट हडसन' की कहानियों में दिखनी शुरू हो जाती है। इसमें हम 'निर्मनु' जैसी जीन के माध्यम से मानव द्वारा नये मानव के निर्माण की कहानी पढ़ते हैं, तो 'रेखना मेरी जान', जो बाद में उपन्यास के रूप में आया, को भी कहानी के रूप में पाते हैं। संग्रह की शीर्षक कहानी भी इतिहास और विज्ञान से होकर गुजरती है। इन कहानियों में न केवल जटिल वैज्ञानिक विषयों को उठाया गया है बल्कि उनकी प्रस्तुति को यथासंभव तथ्यपरक रखने की भी कोशिश की गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि रत्नेश्वर आज जो रच रहे हैं, उसके पीछे अचानक कुछ अलग करके भीड़ से अलग दिखने की कोई सुनियोजित रणनीति या आकांक्षा नहीं है, अपितु उनकी सृजन-शैली समय के साथ अपनी स्वाभाविक यति-गति से होते हुए आज के वर्तमान स्वरूप में पहुँची है। वो आज जिस चेतना के साथ लिख रहे हैं, उसकी मनोभूमि धीमे-धीमे विकसित हुई है।

बहरहाल, यह तो स्पष्ट है कि रत्नेश्वर ने जो विषय चुना है वो अत्यधिक गंभीर है और ऐसे विषय से पाठकों को जोड़ना व जोड़े रखना आसान काम नहीं है। इसके लिए रत्नेश्वर ने उपन्यास में कुछ रोचकता के तत्त्व भी समाहित किये हैं जैसे कि कॉलेज में लड़कियों की शरारतें, श्री और अउम की प्रेमकथा और जोगन का रहस्यात्मक चरित्र आदि। ये वो चीजें हैं जो कहानी की धारा को बोझिल नहीं होने देती, पाठक उससे जुड़ा रहता है। इसके साथ ही भविष्य का जो प्रामाणिक चित्र उपन्यास में मिलता है, वह लेखक की विराट कल्पनाशक्ति का ही परिचायक है। पानी राशनिंग मशीन, सुपर कंप्यूटर परम, समय यात्रा जैसे उपन्यास के वैज्ञानिक प्रकरण चौंकाने के बावजूद किसी गल्प की तरह नहीं लगते बल्कि भविष्य के लिहाज से वास्तविक प्रतीत होते हैं। समग्रतः विज्ञान जैसे जटिल विषय को साहित्य में किस प्रकार से रोचक आयाम देते हुए प्रस्तुत किया जा सकता है, यह उपन्यास उसका सशक्त उदाहरण है।

उपन्यास का अंत अत्यंत गहन है। ऊपर-ऊपर से यह समझ नहीं आ सकता बल्कि यदि कोई ऊपर-ऊपर इसको समझने का प्रयास करे तो वह इसे गल्प मानकर ही निकल जाएगा। उपन्यास के अंत को समझने के लिए इसकी नायिका श्री के चरित्र को समझना होगा।श्री एक वैज्ञानिक है और विदेश में काम करती है। परंतु, उसकी वैज्ञानिक चेतना भारतीयता के धरातल से ऊपर नहीं उठी है। वह मुक्त चिंतन के आकाश में विचरण करती है, परंतु, पाँव उसके अपनी जड़ों से जुड़े हुए हैं। वह अपने शोध एवं अनुसंधान में आधुनिक विज्ञान के उपकरणों को अपनाती है, तो वहीं भारतीय ज्ञान परंपरा एवं आध्यात्मिक दर्शन के माध्यम से उसे आगे बढ़ने की दृष्टि मिलती है। वह धरती के जलसंकट को दूर करने के लिए अंतरिक्ष से

जलपिंड को लाने के लिए श्रीस्त्र का निर्माण करती है। यह एक ऐसा यंत्र है जो अंतरिक्ष में ध्वनि-तरंगे भेजकर वहाँ स्थित जल को धरती की तरफ आकर्षित कर सकता है और उसे व्यवस्थित ढंग से धरती पर बुला सकता है। इस विचार के पीछे श्री की सोच यह है कि जल भी मनुष्यों की तरह जीवंत है और उसके इस विचार का स्रोत भारतीय ज्ञान परंपरा ही है। वह कहती है, "तानसेन की बातें किंवदंती थीं क्या?... उनके जलराग ने तरंगित होकर पानी को बुला लिया था।... एक योगी ने बोरीवली की पहाड़ियों में अपने तपोयोग से इच्छानुसार बारिश ही करवा दी थी। कुछ समय के लिए सृष्टि की हर इकाई और हर तत्त्व को अपने वश में कर लिया था। सभी तत्त्व उनका आदेश मानने लगे थे।... जानते हो अउम! जल यानी पानी आपः जीवंत है। उसमें भी हमारी तरह जीवन है। हमारे सनातन ऋषियों को इसका सारा ज्ञान था। इसीलिए वे जल को अभिमंत्रित करते थे और अंजुरी में लेकर जल सिद्धि करते थे। "वस्तुतः श्री का चरित्र सनातन और अधुनातन के समन्वय का आदर्श उदाहरण है। उपन्यास के अंत में जब श्रीस्त्र स्थापित हो जाता है और श्री द्वारा ध्वनि-तरंगे प्रेषित होने के बाद भी वर्षा नहीं होती और लोगों का धैर्य चुकने लगता है तब श्री अन्न का त्याग कर ध्यानस्थ हो जाती है। उसका प्रेमी अउम उसे समझाता है, मगर वो अटल रहती है। अंततः वे दोनों ही समर्पित व प्रेमिल भाव से संयुक्त स्वर में श्रीस्त्र के माध्यम से 'श्रीअउम' का संदेश प्रेषित करने लगते हैं। फिर ऐसी वर्षा शुरू होती है, मानो जलप्रलय ही आ गया हो। यहाँ इस उपन्यास का कैनवस बहुत ही विराट हो गया है और उसकी व्यापकता की परिधि में वेद से लेकर विज्ञान और पिंड (मनुष्य) से लेकर ब्रह्मांड तक सब समाहित नजर आने लगते हैं। जो धरती जल के अभाव में सूख रही थी, वह जल-जल हो उठती है। श्री यहाँ सृष्टि का रूपक लेती प्रतीत होती है और अउम प्रलयकाल में उसमें गूँजने वाला ॐ का नाद बन जाता है।

यहीं एक हारिल और चूजों के बिंबात्मक प्रसंग के साथ उपन्यास का अंत होता है, "...किसी तरह एक चूजे को अपने पंख के बीच में ढँकने और दूसरे चूजे को अपनी चोंच में दबाकर पकड़ने में हारिल सफल हो गयी थी।... फिर वह जमीन से घिसट-घिसटकर दोनों चूजों को पेड़ के टूटे दरख्त के नीचे ले जाने में कामयाब हो गयी थी। दरख्त की ओट से जीवन-संघर्ष करती हारिल निरीह आँखों से अपने तीसरे चूजे को तूफानी आगोश में समाते देख रही थी। "हारिल द्वारा अपने चूजों को बचाने के इस प्रसंग के माध्यम से लेखक ने जो बिंब रचा है, वस्तुतः वह इस उपन्यास का केंद्रीय भाव है। भाव ये कि निर्माण और विनाश साथ-साथ चलते हैं। दो चूजों का बचना और एक का नष्ट हो जाना दर्शाता है कि प्रत्येक प्रलय अपने साथ यदि बहुत कुछ ले जाता है, तो उससे कुछ अधिक ही शेष छोड़ भी जाता है और ये शेष ही नये निर्माण का आधार बनता है। नव निर्माण की ये उम्मीद ही इस उपन्यास का केंद्रीय भाव है, जो जलप्रलय के बीच दरख्त के नीचे बैठी हारिल की संघर्षशीलता से अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसी सूक्ष्म अभिव्यक्ति लेखक के गहन दार्शनिक अध्ययन व चिंतन को दर्शाती है।

हालाँकि इस उपन्यास का जैसा विषय और जैसी इसकी सामग्री है, इसके साथ दो बड़े खतरे दिखायी देते हैं। एक तो ये कि इसकी विषय-सामग्री सामान्य पाठकों के लिहाज से बहुत सरल व सुग्राह्य नहीं कही जा सकती। एक संभावना यह मान लेते हैं कि पाठक कठिन सामग्री को अनदेखा कर यह उपन्यास पढ़ लेगा, परंतु तब यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि ऐसी स्थिति में क्या वह इसके केंद्रीय भाव को ग्रहण कर पाएगा? दूसरा संकट यह है कि इसमें आध्यात्मिक चिंतन-दर्शन के वर्णन के क्रम में लेखक ने जिस रहस्यवाद का सहारा लिया है, विशेषकर इसके अंत में, उसे सुधी पाठक या समीक्षक किस रूप में लेंगे, अभी नहीं कहा जा सकता। दिनकर की उर्वशी में पुरुरवा-उर्वशी के आध्यात्मिक रहस्यवाद को सिद्धों के 'महासुखवाद' के रूप में सिद्ध करने की आलोचकीय चेष्टा हम हिंदी साहित्य में देख चुके हैं। कबीर के रहस्यवाद की भी कई व्याख्याएँ हुई हैं। वस्तुतः आप जब रहस्यवादी होते हैं, तो अपने प्रति एक सीमा तक मनमानी व्याख्याओं का अवसर दे जाते हैं। अतः इस उपन्यास में उपस्थित रहस्यवाद को किस रूप में लिया जाएगा, यह कहना कठिन है।

बावजूद इन खतरों के समग्रतः यह उपन्यास वर्तमान समय में विषय, सामग्री और शिल्प तीनों स्तरों पर अपनी एक अलग छाप छोड़ता है। यह किसी 'लकीर' का फकीर नहीं बनता, अपितु अपनी एक नयी लकीर खींचता है, अब वह लकीर कितनी लंबी या छोटी है, इसका निर्णय समय पर ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। ❖❖

त्रासद सत्य की अंर्तकथा

श्रद्धा सिंह

संपर्क :
प्रोफेसर
हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

पुस्तक : कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए
संपादक : अलका सरावगी
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन
प्रकाशन वर्ष : 2020
मूल्य : 199 रु.

समकालीन कथा लेखन आज न जाने कितनी नयी राह पर निकल पड़ा है-कथन और कथ्य की नयी-नयी भंगिमाओं के साथ। नये व अछूते विषय पर लिखने का जोखिम स्त्रियाँ भरपूर उठा रही है। स्त्री-विमर्श और स्त्री-लेखन ने विभाजक रेखा बना ली है। अब जरूरी नहीं कि एक स्त्री केवल स्त्री पर ही लिखे, वह किसी भी विषय पर लिख सकती है और लिख रही है। हमें यह देखना होगा कि इसमें स्त्री दृष्टि कैसे काम कर रही है। किसी घटना क्रम को देखने का उसका नजरिया क्या है? इसी संदर्भ में नये व विवादित विषय पर गंभीर कथानक लिखकर पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी तरफ खींचने वाली महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है- अलका सरावगी कृत 'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए'। यह उपन्यास उस त्रासद सत्य की कथा है, जिसने मानवता को अनेक बार शर्मसार किया है। कथ्य और कथन शैली का अनूठापन बेहद आकर्षित करने वाला है, जिसमें राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं के बीच आम जीवन को पिरोया गया है। घटनाओं की बारीकी, किरदारों का संयोजन, इतिहास और कल्पना का मिश्रण, काव्यात्मकता आदि के कारण पारंपरिक औपन्यासिक शिल्प से इतर एक अनोखा शिल्प इसमें देखने को मिलता है। विभाजन, विस्थापन और इससे जुड़ी पीड़ा को रेखांकित करने वाली यह महत्त्वपूर्ण कृति है। यों तो विस्थापन पर हिंदी साहित्य में अनेक उपन्यास लिखे गये हैं जिसमें पंजाब के लोगों का विस्थापन और उससे उपजे दंश दर्ज हैं, किंतु इस उपन्यास की खासियत है कि यह पूर्वी पाकिस्तान से बंगालियों और मारवाड़ियों के विस्थापन के दर्द के साथ ही आम जीवन के संघर्षों से जुड़े राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं की परत-दर-परत पड़ताल ऐतिहासिक संदर्भों के साथ बयाँ करता है। यह उपन्यास कथा के साथ साथ इतिहास का दस्तावेज है, जो कुलभूषण, यामा, मल्ली, अली, कार्तिक बाबू, अनिल मुखर्जी आदि किरदारों के माध्यम से दर्ज होता है। किसी समुदाय का पलायन और विस्थापन समाज में व्याप्त नफरत, द्वेष, असहिष्णुता व सांप्रदायिकता की उपज होता है। पूर्वी बंगाल को तो दो-दो बार विभाजन और विस्थापन से दो-चार होना पड़ा । आजादी के समय नोआखाली के दंगे, फिर तीन साल बाद बारिसाल के दंगे और सत्रह साल बाद 1964 में कश्मीर के हजरतबल से मोहम्मद साहब की दाढ़ी के बाल के चोरी हो जाने के बाद भड़के दंगे तथा मुक्तिवाहिनी का गठन, भाषा थोपने की राजनीति के कारण होने वाले दंगों से त्रस्त होकर पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं का भारी संख्या में पलायन हुआ। पूर्वी पाकिस्तान से पलायित होकर भारत पहुँचने वाले शरणार्थियों पर केंद्रित यह एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें राजनीति, युद्ध का नारी जीवन पर प्रभाव, पर्यावरण पर प्रभाव, पारिवारिक परिदृश्य प्रेम, घृणा, द्वेष, सौहार्द्र आदि अनेक संदर्भ एक-दूसरे में गुँथे दिखायी देते हैं। कथा की डोर यथार्थ और कल्पना, इतिहास और स्मृति, सुख और दुःख, प्रेम और नफरत, सत्ता और जनता, गरीब और अमीर, बच्चे व बूढ़े, हिंदू व मुसलमान, बंगाली और मारवाड़ी के दास्तानों से संयुक्त है। पूरे उपन्यास में हम स्वयं को कभी कलकत्ते में पाते हैं तो कभी पूर्वी पाकिस्तान में, कभी रामायण काल में तो कभी भारत में घटित 1964, 1947, 1971 की ऐतिहासिक घटनाओं के काल में। आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण और साक्षात्कार पद्धति के मिले-जुले रूप से युक्त इस उपन्यास का मूल कथ्य पूर्वी पाकिस्तान से आये हिंदू शरणार्थियों के विस्थापन से उपजे दंश पर केंद्रित है, कथा नायक है-कुलभूषण जैन, जो दोहरे विस्थापन का शिकार

है-अपने देश से विस्थापन और अपने घर से विस्थापन। कुलभूषण के अतिरिक्त श्यामा, गोविंदो, अमला, मल्ली, अली, कार्तिक बाबू, अनिल मुखर्जी आदि किरदारों के माध्यम से अलका सरावगी ने इस उपन्यास में उस त्रासदी पूर्ण इतिहास की गाथा को दर्ज किया है, जिस पर हिंदी साहित्य में बहुत कम चर्चा हुई है। विस्थापन में नाम, कुल, गोत्र सब खत्म हो जाता है। व्यक्ति की मूल पहचान नहीं रह जाती। लेकिन विस्थापित के अंतर्मन में उसकी मूल पहचान जड़ जमाये रहती है जो अवसर पाते ही अभिव्यक्त हो जाती है। अपने घर और अपने देश से निर्वासित कुलभूषण की यह दास्तान ही उपन्यास की कथा के केंद्र में है। यहाँ एक बात और उद्धरणीय है कि प्रायः पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों के रूप में बंगालियों का ही जिक्र होता है। किंतु इस उपन्यास में एक मारवाड़ी का विस्थापन और संघर्ष दर्ज है, जो पूर्वी पाकिस्तान के कुष्टिया प्रांत में तीन पीढ़ी पहले राजस्थान से व्यापार हेतु आकर स्थापित होने वाले भजनलाल जैन के परिवार का वारिस है। पूर्वी बंगाल वस्त्र उद्योग और व्यापार का केंद्र था। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादी भेदनीति, स्वतंत्र भारत की सत्ता और भाषा की राजनीति और सांप्रदायिक विद्वेश ने इसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अनेक हिंदू और बिहारी मुसलमानों को पूर्वी पाकिस्तान छोड़ना पड़ा, मजबूरन अपना बसा बसाया घर-द्वार छोड़कर शरणार्थी कैंपों की यातनाओं को झेलना पड़ा, जिसका दुष्परिणाम आज भी जारी है। दरअसल पूर्वी पाकिस्तान में जिनके पास भी बड़े कारोबार थे, उन्हीं को यह दंश ज्यादा झेलना पड़ा, हिंदू होना तो एक बहाना मात्र था, असल में जमीन जायदाद हड़पना ही दंगाइयों का मकसद था। पूर्वी बंगाल में ज्यादातर जमींदार और बड़े व्यापारी थे ।

रिफ्यूजी खाली अपने छूटे हुए घर, नदी, और खेतों की बातें करते हैं। उन्हीं पुरानी बातों को, जगहों को, नामों को दोहराते रहते है जिन्हें छोड़ आये हैं। वे इंसान हैं सिर्फ खुद के लिए। सरकार के लिए जमीन को नष्ट करने वाली टिड्डियों से ज्यादा कुछ नहीं। बस उन्हें टिड्डियों की तरह मारा नहीं जा सकता। उन्हें पृथ्वी पर समय का उल्टा चक्कर लगाते रहने के लिए छोड़ दिया गया है। उनके लिए समय वर्तमान से भविष्य की ओर नहीं जाता। वर्तमान से भूतकाल की तरफ जाता है। ''क्या अपनी सरजमीं से अलग होने वाले रिफ्यूजी अपनी स्मृतियों से उसे बिलगा पाते हैं-कदापि नहीं। वे हमेशा उसे अपनी स्मृतियों में संजोये रखते हैं।

संपन्न मारवाड़ी परिवार का छोटा बेटा, जिसका रूप-रंग और स्वभाव परिवार की प्रतिष्ठा के अनुकूल तो नहीं है किंतु जन्म पर सड़क बनाने का सरकारी टेंडर मिलने के कारण माता-पिता द्वारा पुत्र की सौभाग्यशाली समझा गया। नाम कुलभूषण रखा गया, परिवार की घोर उपेक्षा का शिकार होकर माँ-बाप कुल-गोत्र सब बदलकर गोपाल चंद्र दास बन गया। जब उसे बंगाली लड़की से लव हुआ तभी उसने 'कुलभूषण' नाम से 'कुल' शब्द को हटा दिया था। 'भाड़ में जाए 'कुल'। क्योंकि उसे मालूम था कि उसका जैनी कुल चिकन, मछली खाने वाली बंगाली लड़की को कभी घर में घुसने नहीं देगा। उसका सोचना था कि जिंदगी से तो कुल को हटना ही था। नाम छिपाकर जीना उसकी नियति बन गयी थी। कुलभूषण से भूषण फिर गोपाल चंद्र दास और फिर कुलभूषण का नाम दर्ज कराने की छटपटाहट।

अगस्त 1947 को भारत पाकिस्तान के बँटवारे में पाकिस्तान का उदय हुआ किंतु उस पाकिस्तान का एक हिस्सा 1400 किलो मीटर दूर पर भी बना जिसे पूर्वी पाकिस्तान के नाम से जाना गया। लेकिन अपनी मूल बंगाली संस्कृति और बांग्ला भाषा के कारण पाकिस्तान से उसके रिश्ते कभी भी सहज नहीं बन पाये। बाद में, संस्कृति और भाषा के माध्यम से पूर्वी पाकिस्तान पर आधिपत्य करने के उद्देश्य से वहाँ पर उर्दू थोपने का प्रयास किया गया, परिणामस्वरूप वहाँ विद्रोह ने जन्म लिया, मुक्तिवाहिनी के माध्यम से संघर्ष शुरू हुए और बांग्लादेश का जन्म हुआ। किंतु भाषा के आधार पर जन्में इस देश की यात्रा में न जाने कितने कितनों को अपना देश छोड़ना पड़ा। विस्थापन और प्रताड़ना का दंश झेलना पड़ा, कितनी औरतों का सर्वस्व लूटा गया। 'सारी लड़ाइयाँ देह पर ही लड़ी जाती हैं'-इस उपन्यास का सबसे मार्मिक और कटु सत्य को बयाँ करने वाला वाक्य है। यह वाक्य कुलभूषण और उसके मित्र श्यामा धोबी की कथा में अंतर्धारा के रूप में प्रवाहित है। एक वाक्य जो पूरे उपन्यास में मौजूद है और जिस वाक्य के लिए इस उपन्यास की एक अलग पहचान बनती है, वो है- भूलने का बटन दबाना। श्यामा धोबी ने कुलभूषण को 'भूलने के बटन' के बारे में बताया था जिससे कभी भी दुःख से निजात पाया जा सकता है। धोबी को न भूलने का वरदान सीता माता से मिला था। उसी धोबी प्रजाति के श्यामा के पास भूलने का बटन है, यानी एक ऐसा यत्न जिससे ये अपने जीवन की त्रासदी को भूलकर आगे के जीवन की तरफ अग्रसर हो जाते हैं। उपन्यास के दोनों मुख्य पात्र कुलभूषण और श्यामा-भूलने का बटन इस्तेमाल करते हैं। कुलभूषण और श्यामा दोनों ही असुंदर पात्र हैं। शक्ल-सूरत खराब होने के बावजूद जिनके दिल मानवीय संवेदनाओं से लबरेज हैं, अर्थात् बाह्य सौंदर्य से हीन किंतु आंतरिक सौंदर्य से

भरपूर, दया, ममता, करुणा, सेवा, प्रेम, सहिष्णुता, परोपकार के भावों से संपन्न। कुलभूषण जैन उपेक्षित जीवन जीने के लिए अभिशप्त होते हुए भी धनिक वर्ग का प्रतिनिधि है, तो श्यामा दलित वर्ग का। विस्थापन का असर दोनों वर्गों पर अलग-अलग पड़ता है। धनिक वर्ग के लिए उसका नाम, इज्जत, कारोबार, अचल संपत्ति ही सब कुछ है जबकि श्यामा धोबी की चिंता है कि अब किसके कपड़े धोयेंगे। दरअसल दंगों की आड़ में बड़े-बड़े कारोबारियों की संपत्ति, जमीन-जायदाद पर ही दंगाइयों की निगाह थी। इसलिये धनिक वर्ग को ही ज्यादा दंश झेलना पड़ा। कुलभूषण के दादा और ताउ-पिताजी का पूर्वी बंगाल में अच्छा खासा किराने का होलसेल का जमाजमाया कारोबार था। यही कारण था कि पाकिस्तान बनने पर बाकी लोगों के पलायन के बावजूद सत्रह साल तो उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान में ही जिस किसी तरह दिन निकाल लिए, बारिसाल के दंगे के बाद भी वे यहीं बने रहे किंतु सत्रह साल बाद मुस्लिम लीग के गुंडों की धमकी भरी चिट्ठी मिलने के बाद कुलभूषण को माँ के साथ कलकत्ता जाना पड़ता है। कश्मीर में हजरतबल में मोहम्मद साहब का बाल चोरी हो गया था, इसी कारण उसे अपना देश छोड़ना पड़ा। कलकत्ते में उसके भाई लोग पहले ही बस चुके थे। इसलिये उसे कलकत्ते में ठिकाने की परेशानी तो नहीं हुई लेकिन परिवार के लोगों की घोर उपेक्षा व प्रताड़ना उसे रोज ही झेलनी पड़ती। घर में ही रिफ्यूजी का जीवन जीने के लिए वह मजबूर है। आठ महीने येन-केन प्रकारेण यातना में रहने के बाद अंततः एक दिन भाभी की सोने की चेन चुराने के आरोप में लतियाए जाने पर वह अपने भाई का घर छोड़कर भाग जाता है। भाइयों के घर में भी वह रिफ्यूजी था। चोरी का आरोप लगाकर जब भाई मारपीट करने लगा तो असली रिफ्यूजी बन गया। पहले अपने देश से विस्थापन, फिर घर से बेघर। विस्थापन का कारण हजरतबल में मोहम्मद साहब के दाढ़ी के बाल चोरी हो जाने की अफवाह और बेघर होने के पीछे सोने की चेन चुराने का झूठा आरोप। नाम और पहचान बदलकर गोपाल चंद्र दास बनकर कुलभूषण जैन रायपुर माना कैम्प में चला जाता है। शरणार्थी कैंप में वह देखता है- आग की लपटों से बचकर भागते लोग, पेट में छुरा मारने से खून के फव्वारे छोड़ते लोग, बलात्कार की जाती औरतें, उठाकर ले गयीं लड़कियाँ और औरतें, मारकर नदी में फेंके गये बच्चों के किस्से। वह सोचता है-ये सब घृणा की राजनीति के ही तो परिणाम हैं। हिंसा, भुखमरी, बलात्कार, यौन शोषण, के साथ ही रिफ्यूजी की मनःस्थिति का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण यहाँ देखने को मिलता है- रिफ्यूजी खाली अपने छूटे हुए घर, नदी, और खेतों की बातें करते हैं। उन्हीं पुरानी बातों को, जगहों को, नामों को दोहराते रहते हैं जिन्हें छोड़ आये हैं। वे इंसान हैं सिर्फ खुद के लिए। सरकार के लिए जमीन को नष्ट करने वाली टिड्डियों से ज्यादा कुछ नहीं। बस उन्हें टिड्डियों की तरह मारा नहीं जा सकता। उन्हें पृथ्वी पर समय का उल्टा चक्कर लगाते रहने के लिए छोड़ दिया गया है। उनके लिए समय वर्तमान से भविष्य की ओर नहीं जाता। वर्तमान से भूतकाल की तरफ जाता है। ''क्या अपनी सर जमीं से अलग होने वाले रिफ्यूजी अपनी स्मृतियों से उसे बिलगा पाते हैं- कदापि नहीं। वे हमेशा उसे अपनी स्मृतियों में संजोये रखते हैं। दंडकारण्य प्रसंग में एक तरफ राम के वनवास की कथा स्मृतियों के माध्यम से चलती है, तो साथ ही शरणार्थियों के विस्थापन का प्रसंग भी चलता है। राम के वनवास और पलायन कर्ताओं के वनवास का एक साथ चित्रण भी बहुत कुछ बिना कहे कहा जा रहा है। दंडकारण्य में विस्थापन के लिए जंगलों की कटाई का वर्णन पर्यावरण पर दंगों के प्रभाव का संकेतक है। 'उन लोगों ने देखा कि एक बड़ी जगह में बड़ी-बड़ी मशीनों से शाल- महुआ -आम -चंपा के बड़े-बड़े पेड़ गिराये जा रहे हैं। जिन पक्षियों के बसेरे टूट रहे थे, वे चीखते -चिल्लाते उड़ रहे थे।... जंगलों को काटकर उनके बीच-बीच से जगह निकाली जा रही थी।' बंगाल से दूर दंडकारण्य में विस्थापितों के स्थापन हेतु वनों की कटाई। मनुष्य को स्थापित करने के लिए पक्षियों के बसेरे उजाड़े गये। घृणा और हिंसा की गंदी राजनीति ने भी पर्यावरण को नष्ट किया।

'प्यार चमड़े के रंग से निर्धारित नहीं होता', 'खेल के भीतर भी खेल होता है', 'खुश रहना है तो बुद्धू बनकर रहो', 'धोबी के हाथ से धोये कपड़े तो सभी पहनते हैं, पर उसके हाथ से पानी नहीं पीते', क्या आदमी बिना हिंदू या मुसलमान बने इस दुनिया में नहीं रह सकता'- जैसे गूढ़ दार्शनिक कथन उपन्यास के आधार वाक्य हैं। कुल मिलाकर सांप्रदायिकता और विभाजन जैसे समाजशास्त्रीय ज्ञान को संवेदनात्मक तरीके से कथा रूप देने की कला में अलका सरावगी शत प्रतिशत सफल हैं। आर्थिक दमन और भाषाई-क्षेत्रीय भेदभाव के परिणाम स्वरूप होने वाले दमन, हिंसा व विस्थापन के साथ ही मानवता, करुणा, भाईचारा, प्रेम व विश्वास की कथाएँ एक साथ इस उपन्यास में दर्ज हैं। मानव जीवन के अंतरंग जटिल पक्षों को ऐतिहासिक घटनाओं के साथ पिरोने में अलका जी को महारत हासिल है। एक तरफ धर्म व भाषा के नाम पर होने वाले दंगें हैं तो दूसरी तरफ अमला, अली, श्यामा, मालविका से लेकर प्रशंत तक धर्म व सांप्रदायिकता को दरकिनार कर अटूट प्रेम और विश्वास के प्रसंग। राजनीति धर्म और

भाषा के नाम पर कटुता का प्रचार करती रहती है, इन्हीं के साथ ही प्रेम की धारा भी अनवरत प्रवाहित होती रहती है।

बार-बार नाम बदलने के बावजूद कुलभूषण जैन का वजूद बना रहता है और अवसर मिलते ही अभिव्यक्ति पाता रहता है। श्मशान घाट पर मालविका का क्रिया कर्म करवाते हुए जब उससे उसका नाम पूछा गया तो भूषण के मुख से गोपाल चंद्र दास की जगह निकला था- कुलभूषण जैन। जब बगल में खड़े निमाई बाबू ने सुधार करते हुए उसका नाम गोपाल चंद्र दास दर्ज कराया तभी से उसके मन में यह खयाल उपजता है कि जब वह खुद मरेगा तो उसका क्रिया-कर्म भी कहीं गोपाल चंद्र दास नाम से ही न हो। इसी भय से वह तय करता है- आत्मकथा लिखने के बारे में अथवा आत्मकथा बताने के बारे में। और जब उसे पता चलता है कि एक पत्रकार पिछले पचास साल में पूर्वी पाकिस्तान से आये हिंदू शरणार्थियों पर किताब लिख रहा है तो वह उस पत्रकार को अपना असली नाम कुलभूषण जैन बताकर बहुत संतुष्ट होता है कि चलो कहीं तो उसका जन्म का नाम हमेशा रहेगा। एक दो बार नहीं पाँचवीं बार वह पत्रकार से कहता है- 'कुलभूषण जैन नाम दर्ज कीजिएगा। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी- आदमी की पहचान तो उसको जन्म देने वाले माँ-बाप से ही होती है, भले ही उससे जीने में कोई सहूलियत हो न हो। इसीलिए, पाँच-छः बार कुलभूषण का नाम दर्ज करने का अनुरोध करने के बाद भी वह पत्रकार को पुनः फोन पर इसके लिए कहने का निश्चय करता है। भूलने का बटन चाहे कितना भी दबाया जाए, व्यक्ति अपनी जननी, जन्मभूमि और उससे जुड़ी अस्मिता को कभी भी भुला नहीं सकता। वह उसकी स्मृतियों के एक कोने में अपनी जगह बनाये रखता है और समाज में दर्ज होने की चाहत भी रखता है।

पूरा उपन्यास स्मृतियों का बयान है। स्मृति के भीतर स्मृति, कहानी के भीतर कहानी -कथन भंगिमा यह अनोखा रूप। कभी कहानी बीच से शुरू, तो कभी अंत से, कभी श्यामा तो कभी कुलभूषण, कहीं व्यंग्य तो कहीं वेदना, कहीं गूढ़ कथन तो कहीं सपाट बयानी। कहीं कहीं फिल्मी अंदाज भी- खासतौर पर अमला, अली और श्यामा के प्रेम प्रसंग में।

कथन और कथ्य की भंगिमा इस उपन्यास में एक नयी राह पर चलती दिखायी दे रही है। आवश्यकतानुसार भाषा कहीं ठस है तो कहीं बिखरी हुई। कथा कहीं यथार्थ से जुड़ी है, तो कहीं कल्पना से, कभी इतिहास, कभी समाजशास्त्र, कभी मनोविज्ञान; कभी गरीब का दुःख, कभी अमीर का, कभी स्त्री का, कभी दलित का, कभी मुसलमान का कभी हिंदू का बंगाली का, कभी मारवाड़ी का, कभी बच्चे का, कभी बुढ़े का। कथा प्रवाह में कभी पूर्वी बंगाल उपस्थित, तो कभी कलकत्ता, कभी दंडकारण्य तो कभी कुष्टिया, कभी गंगा तो कभी गोराई नदी। विभाजन के दंश के साथ-साथ प्रेम, दया, करुणा व परोपकार भी; स्मृतियों के आधार पर बढ़ने वाली कथा के साथ साथ विस्मृति का बटन की कला का होना कथा को एक विशेष भंगिमा प्रदान करता है। इस कथा प्रवाह में डूबता-तिरता पाठक विस्थापन की यंत्रणा को जैसे अपने अंदर जीता चलता है और भूलने का बटन दबाने के बावजूद आज भी कोई न कोई घटना क्रम पुनः उन दिनों की स्मृतियों को ताजा कर जाती है। आज के समय में जब धर्म और संप्रदाय केंद्रित राजनीति का बोलबाला है, ऐसे में यह उपन्यास विमर्श के नये प्रश्न उठाता है। ❖❖

विभाजन का दर्द

मिडनाइटस फ्यूरीज : आज भी नहीं गये भारत-पाक विभाजन के दौरान हुई हिंसा के दाग, खूनी विरासत जीने को मजबूर है भारतीय उपमहाद्वीप

अविनाश द्विवेदी

संपर्क :
जे-756, विश्व बैंक, बर्रा
कानपुर-208027 (उत्तर प्रदेश)

पुस्तक : मिडनाइटस फ्यूरीज
लेखक : नीशिद हजारी
प्रकाशक : पेंगुइन रेंडम हाउस
प्रकाशन वर्ष : 2016
मूल्य : 399 रु.

भारत-पाक विभाजन से पहले शायद ही किसी ने सोचा था कि पाकिस्तान के बनने से लाखों लोगों का खून बहेगा और कई परिवार, कई पीढ़ियों के लिए बर्बाद हो जाएँगे। तब आजाद भारत सदियों से भारतीय उपमहाद्वीप के हिंदुओं और मुसलमानों का ऐसा सपना बना हुआ था। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत जी रहे ये लोग अपने जीवनकाल में मुल्क को आजाद होता देखने के लिए तड़प रहे थे, लेकिन जब आजादी सामने आयी तो वह अपने साथ खौफनाक विभाजन भी लेकर आयी। इस दौरान जो हिंसा हुई और जो खूँरेजी हुई, उसके अनगिनत दाग आज भी इस उपमहाद्वीप के मानस पर अंकित हैं। उस दौरान जो कटुता संप्रदायों के बीच बोयी गयी, वह आज और भी ज्यादा बारीकी से समाज के अलग-अलग हिस्सों में दिखती है। इसी सूत्र की पड़ताल करने वाली किताब है 'मिडनाइट्स फ्यूरीज़ : द डेडली लीगेसी ऑफ इंडियाज पार्टिशन'। नाम से ही स्पष्ट है कि किताब में इस विभाजन के भयानक विरासत की पड़ताल की गयी है।

निसीद हजारी एक भारतीय मूल के अमेरिकी लेखक हैं। उनकी इस किताब में भारत-पाकिस्तान विभाजन की कई बार पहले ही कही जा चुकी कहानी को, एक संतुलित और गैरपक्षपाती नज़रिये से पेश किया गया है। अमेरिकी लेखक होने के नाते जहाँ ऐतिहासिक साक्ष्यों के प्रति ईमानदारी बरतने की छूट लेखक को इस किताब में मिली है, वहीं लेखक ने अपनी किताब के लेखन में जिन प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया है, वे भी एकपक्षीय नहीं हैं। यह बात भी किताब को समृद्ध करती है।

किताब को पढ़ना बहुत जानकारी पूर्ण है,

लेकिन आजादी के दौर की जिन परिस्थितियों को यह किताब बयान करती है, वे परिस्थितियाँ जैसे-जैसे किताब आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे बद से बदतर होती जाती हैं। कई जगहों पर हिंसा का ब्यौरा इतना खौफनाक और वीभत्स है कि सामान्य पाठक के लिए किताब को आगे पढ़ पाना भी असंभव होने लगता है। पुस्तक के लेखक निसीद हजारी अपने विश्लेषण में पाते हैं कि जवाहरलाल नेहरू और अन्य गांधीवादी नेताओं के साथ भारत के ज्यादातर नेता यही मानते आए थे कि भारतीय लोग मूल रूप से अहिंसावादी हैं। लेकिन, भारत-पाक विभाजन के दौरान जो खून बहा, उसने न सिर्फ इन नेताओं के विश्वास को तोड़ दिया बल्कि आगे के दशकों के लिए भी एक विषबीज बो दिया। वे पाते हैं कि भले ही आजादी के बाद फिर से गांधीवादी मूल्यों के साथ भारत की रीब्रांडिंग करने की कोशिश की गयी लेकिन विभाजन के दौरान हुई हिंसा का अलग-अलग पंथ के अनुयायी भारतीयों पर जो प्रभाव पड़ा था, उसका असर अक्सर उभर आता है और सामाजिक माहौल फिर

से कटु हो जाता है। इतना ही नहीं इस कटुता का असर भारत पाकिस्तान के बीच मौजूद जिहादी आतंकवाद और परमाणु शक्ति के विकास जैसी नीतियों पर भी दिखता है। किताब में विभाजन के समय पड़ी बँटवारे की उसी प्रवृत्ति का विश्लेषण है, जो आज भी अक्सर अखबारों की हेडलाइन में दिखती है।

किताब को पढ़ने के दौरान यह अहसास भी होता है कि यह आजादी के आंदोलन के दौर के तीन नेताओं- जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गांधी और मोहम्मद अली जिन्ना के चरित्र और व्यक्तित्व की जाँच भी कर रही है। इतना ही नहीं नेहरू-जिन्ना, नेहरू-पटेल और नेहरू-गांधी-पटेल के रिश्तों को समझने के लिए भी इस किताब में कई दिलचस्प वाकये हैं। इनमें भी सबसे ज्यादा बात पहले भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और पाकिस्तान के राष्ट्रपिता मोहम्मद अली जिन्ना के कटुतापूर्ण संबंधों को लेकर की गयी है। लेखक ने बड़ी ही तटस्थता के साथ ऐसे वाकयों को सामने रखने की कोशिश की है।

निसीद हजारी यह भी स्थापित करते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और विभाजन से जुड़े ज्यादातर साहित्य में एक खलनायक के तौर पर पेश किये जाने वाले पाकिस्तान के कायद-ए-आजम मोहम्मद अली जिन्ना भी व्यक्तिगत स्तर पर एक धर्मनिरपेक्ष वकील हुआ करते थे, कोई तेजतर्रार भाषणबाज धर्मांध नहीं। लेकिन उन्होंने मुसलमानों के लिए पाकिस्तान बनाने के कदम का अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के लिए प्रयोग किया। वहीं ज्यादातर लेखकों के चहेते रहे जवाहरलाल नेहरू को इस किताब में भी न सिर्फ अधिकांशतः सकारात्मक संदर्भों में दिखाया गया है, बल्कि उनके व्यक्तित्व के मानवीय पहलुओं को भी उभारकर सामने रखा गया है। किताब हमें वो किस्से बताती है, जब पश्चिमी पंजाब से विस्थापित होकर दिल्ली आ पहुँचे कुछ सिख असामाजिक तत्वों ने दिल्ली के एक इलाके में गुजर-बसर के लिए लूटपाट शुरू की तो कैसे नेहरू खुद ही रिवाल्वर लेकर उनसे निपटने पर उतारू हो गये और कैसे कनॉट प्लेस पर वह एक सांप्रदायिक व्यक्ति से अकेले ही भिड़ गये। महात्मा गांधी को लेकर यह किताब तटस्थ है। महात्मा के त्याग और समर्पण को देखकर उन पर जो सवाल उठाने से बचा जाता है, ऐसे कई सवाल भी उठा देती है।

भारत की आजादी के दौर में स्थानीय रियासतों के विलय को लेकर नेहरू और पटेल के अलग-अलग विचारों और नजरियों को भी किताब में स्पष्ट किया गया है। भारत के लिए नासूर जैसी कश्मीर समस्या पर भी यह किताब बात करती है। यह कई बार पाकिस्तान की ओर से फैलाये जाने वाले सांप्रदायिक आधार को नकारती है। किताब यह भी स्थापित करती है कि नेहरू के लिए उनकी पैतृक भूमि होने और हिंदू बहुल भारत में एक मुस्लिम बहुल प्रांत होने के चलते कश्मीर कितना मायने रखता था। किताब कश्मीर समस्या के उसी दौर से अधर में लटके रह जाने पर भी बात करती है। अगर कोई कश्मीर समस्या पर एक तटस्थ नजरिये से जानकारी चाहे, तो उसे इस किताब को जरूर पढ़ना चाहिए।

ऐसा भी नहीं है कि यह पुस्तक अंग्रेजों की भूमिका को पूरी तरह से नकारती हो। यह भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौर में माउंटबेटन की भूमिका को स्पष्ट करने की कोशिश करती है और जैसा कि कई बार कहा जा चुका है, नेहरू के व्यक्तित्व के प्रति उनके झुकाव की बात भी कहती है। किताब विभाजन के बाद के दौर में भारत और पाकिस्तान दोनों ही जगहों पर नियुक्त किये गये ब्रिटिश अधिकारियों के विचारों को सामने रखती है। उस दौर में ये अधिकारी द्वितीय विश्वयुद्ध से बस फारिग ही हुये थे। इतनी हिंसा देखने के बाद भी उनमें से एक ने माना था कि भारत-पाक विभाजन के दौरान हो रही हिंसा ज्यादातर मायनों में दूसरे विश्वयुद्ध से भी बर्बर थी।

इस किताब का अच्छा-खासा हिस्सा पंजाब के विभाजन पर बात करता है और यहाँ हुये दंगों का विस्तृत ब्यौरा पेश करता है। इन ब्यौरों में यह भी बताया गया है कि जो आग इस हिस्से में लगी, उसके मुख्य षड्यंत्रकारी कौन थे, इस हिंसा को लेकर उनकी सोच क्या थी और कैसे अलग-अलग संप्रदायों की असुरक्षा ने इन दंगों के दौरान आग में घी डालने का काम किया। किताब में बारीकी से दिखाया गया है कि कैसे नेताओं (खासकर जिन्ना और नेहरू) के बीच में पैदा होने वाली छोटी-छोटी गलतफहमियों ने समर्थकों को एक-दूसरे पर टूट-पड़ने के लिए तैयार किया।

लेकिन किताब का सबसे ज्यादा भाग आजादी के साथ हुये भारत-पाक विभाजन के दौरान देश के तमाम हिस्सों में फैलने वाली हिंसा के बारे में है। आजादी मिलने से ठीक एक साल पहले अगस्त, 1946 में भारत के सबसे प्रमुख महानगरों में से एक कलकत्ता में भयानक दंगे भड़क उठे थे। तब सड़कों पर पहले हिंदुओं, फिर मुस्लिमों और अंततः सिखों को निशाना बनाकर हिंसा का भयानक दौर चला, जिसमें लाखों लोगों की जानें गयीं। जैसे-जैसे 1947 की गर्मियाँ आने लगीं, इन समुदायों के असामाजिक तत्त्व हथियारबंद होकर सड़कों पर घूमने लगे और एक-दूसरे को निशाना बनाने लगे। भारत के पूर्वी हिस्से में जहाँ हिंदू-मुस्लिम हिंसा हो रही थी, वहीं पंजाब के विभाजन की बात साफ हो

जाने के साथ ही पंजाब में मुस्लिम-सिख हिंसा भड़क उठी। इस दौरान अंग्रेज भी भारत को छोड़कर जाने की तैयारी में थे इसलिए वे इन सांप्रदायिक दंगों को शांत करने और रोकने में बहुत ही कम रुचि ले रहे थे। किताब के मुताबिक कुछ ब्रिटिश अधिकारी तो जानबूझकर इन्हें रोकने के खिलाफ थे, ताकि दुनिया भर में संदेश जाये कि ये नये आजाद मुल्क प्रशासन संभालने में सफल नहीं हैं। इन हालातों में हिंसा की अति हो गयी। बलात्कार, अपहरण ही नहीं ट्रेनों में सवार लोगों को मौत के घाट उतार देना आम बात हो गयी। हथियारबंद दस्ते घूम-घूम कर अन्य संप्रदायों के गाँवों में आग लगाने लगे। ऐसा नयी निर्मित होने वाली सीमा के दोनों ओर हो रहा था ताकि मुसलमानों को पाकिस्तान विस्थापन के लिए और सिखों को भारत विस्थापन के लिए मजबूर किया जा सके। जब यह तय हो गया कि लाहौर, पाकिस्तान का हिस्सा होगा, तो इस ऐतिहासिक शहर को हिंदुओं से खाली कराने के लिए शहर में स्थित उनके मोहल्लों में आग लगा दी गयी, जो काफी दिनों तक जलती रही। और इस घटना से डरकर पूरे ही शहर के ज्यादातर हिंदू भारत चले गये। पागलपन से भरी हिंसा का यह दौर तब तक चला जब तक नाथूराम गोडसे नाम के एक कट्टरपंथी ने महात्मा गांधी की हत्या नहीं कर दी।

मिडनाइट्स फ्यूरीज इस बात को भी स्थापित करती है कि अगर भारत-पाक विभाजन के लिए नेहरू-माउंटबेटन-जिन्ना के अलावा अन्य नेता बातचीत कर रहे होते तो विभाजन के दौर में परिस्थितियाँ काफी अलग होतीं। निस्संदेह यह अलग और भी बुरा होता। लेकिन यह भी तय है कि इन तीनों के ही कई विषयों को लेकर पक्षपाती नजरिए ने इनकी असुरक्षाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ जो महत्त्वपूर्ण पहलू रहे, जिन्होंने इस उपमहाद्वीप का वह रूप रचा, जो आज हमें दिखता है। ❖❖

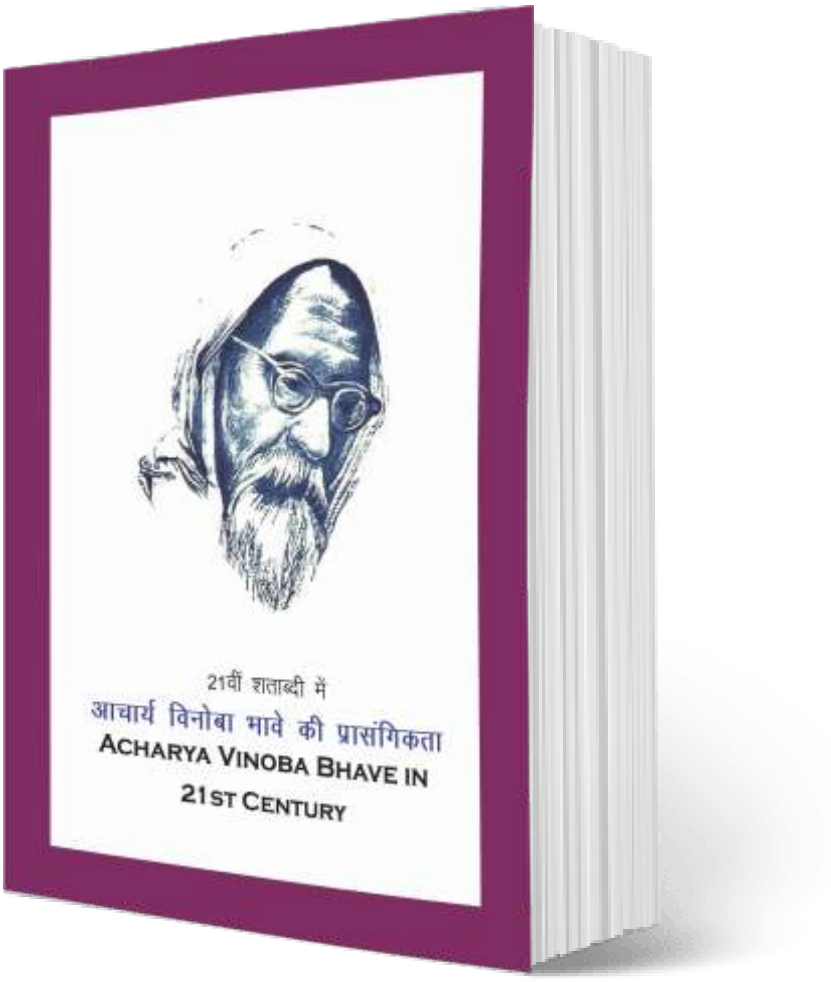

संवैधानिक पदचिह्नों की पड़ताल

प्रो. धर्मेंद्र कुमार मिश्र

संपर्क :
विधि संकाय,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

हम सभी इस सत्य के स्वयं साक्षी हैं कि अपने निर्माता द्वारा सभी व्यक्तियों को एक समान बनाया जाता है; वे कुछ निश्चित अधिकार संपन्न होते हैं। यह जीवन, स्वतंत्रता और खुशी की खोज है; इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए सरकारों और व्यक्तियों के बीच संबंध स्थापित किया जाता है, जो शासित की सहमति से न्यायिक शक्ति को प्राप्त करते हैं। जब भी सरकार का कोई भी रूप इन उद्देश्यों के लिए विनाशकारी हो जाता है, तो यह लोगों का अधिकार है कि वे इस सरकार को बदल दें, और नयी सरकार का गठन करें। इस तरह के सिद्धांतों पर अपनी नींव रखें, और अपनी शक्तियों को ऐसे रूप में व्यवस्थित करें कि उन्हें उनकी सुरक्षा और खुशी को बनाये रखने की सबसे अधिक संभावना रहे। इस तरह की सरकार को फेंकना और अपने सभी के सुरक्षित भविष्य के लिए नये संरक्षण प्रदान करना, यह उनका अधिकार और कर्त्तव्य है।

संविधान केवल शब्दों का एक समुच्चय नहीं है; यह राजनीति, शासन और इसकी नैतिकता, विधिक शासन, व्यक्ति के मौलिक अधिकारों और मौलिक कर्त्तव्यों तथा न्याय का दर्शन है और विकासशील समाजों में व्यक्तियों और राज्य के मध्य संबंधों का वर्णन है। किसी राष्ट्र का संविधान शासन को एक सुदृढ़ ढाँचा प्रदान करता है तथा उस राष्ट्र की राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक आकांक्षाओं तथा सीमाओं को दर्शाता है। यह सभी प्रकार के लोकतांत्रिक संस्थानों को टूटने से बचाने के लिए एक मजबूत टीकाकरण का कार्य करता है।

भारत के संविधान ने पिछले सत्तर वर्षों में कई राजनीतिक उथल-पुथल देखे हैं। इसके बावजूद भारतीय संविधान ने भारत को एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणराज्य बने रहने का तंत्र प्रदान किया है। इसने नागरिकों के लिए सुनिश्चित किये गये न्याय, स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों को सुरक्षित रखा है। यद्यपि संविधान के इन निहित मूल्यों के खिलाफ कुछ आशंकाएँ भी व्यक्त की गयी हैं।

भारत का संविधान एक समग्र दस्तावेज के रूप में तैयार किया गया है, जिसने भारतीय समाज की कमियों को दूर करने के लिए गणतंत्रात्मक स्वतंत्रता के एक नये युग की खोज की है। सामाजिक प्रथाओं के दुरुपयोग से उपजी असमानता को समाप्त करने और उदारवादी मूल्यों की रक्षा के लिए यह संविधान समर्पित है। इसलिए ग्लेनविल ऑस्टिन ने इसे सामाजिक क्रांति का दस्तावेज कहा है। अतः संविधान के प्रावधानों के अंतर्गत आह्वान की गयी मूल भावना और उसमें निहित धारणा से सुपरिचित होना सबके लिए आवश्यक है।

संवैधानिक विधि के क्षेत्र में समय-समय पर होने वाले सभी घटनाक्रमों को शामिल करते हुए संवैधानिक विषय पर संविधान की पुस्तक लिखना एक थका देने वाला कार्य है, जिसे केवल उच्चतम स्तर का व्यक्ति ही पूरा कर सकता है। जो विचारक न्यायालय द्वारा दी गयी नित नयी व्याख्याओं द्वारा उभर रहे नये क्षितिज के विश्लेषण में लगातार अपने को लिप्त रखता है वही पाठकों को संविधान के आदेश एवं संदेश को लेखन के माध्यम से नयी व्याख्याओं से अवगत करा सकता है। यह कार्य

पुस्तक : कान्स्टीट्यूशनल लॉ-। स्ट्रक्चर
संपादक : उदय राज राय
प्रकाशक : ईस्टर्न बुक कंपनी, लखनऊ
प्रकाशन वर्ष : 2016
मूल्य : रु. 595 (पेपरबैक)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक द्वारा लेखन में अपनायी गयी रणनीति में परिलक्षित होता है। यह लेखक का एक उत्तम कार्य है। समीक्षाधीन पुस्तक - कांस्टीट्यूशनल लॉ-। स्ट्रक्चर, संवैधानिक प्रावधानों के व्यापक विश्लेषण प्रदान करने की एक लंबे समय से महसूस की जा रही कमी को पूर्ण करती है।

सुव्यवस्थित रूप में लिखित यह पुस्तक अठारह अध्यायों में विभाजित है। सभी अध्यायों को संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या के साथ-साथ न्यायिक घोषणाओं के विस्तृत विश्लेषण पर जोर देने के लिए कई भागों और उप भागों में बांटा गया है। अध्याय 1 के विभिन्न हिस्सों के अंतर्गत, लेखक ने बुनियादी अवधारणाओं और विचारों को जानने के इच्छुक सभी लोगों को पढ़ने के लिए संविधान, संवैधानिक विधि और संविधानवाद के बारे में विस्तृत जानकारी दी है। उनके विचार में लोकतंत्र और संविधानवाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। उनके अनुसार संविधानवाद लोकतंत्र की रक्षा करता है और लोकतंत्र में ही संविधानवाद विकसित हो सकता है।

अध्याय 2 का विषय- भारतीय संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। लेखक संविधान के प्रेरणादायक चरित्र को एक आकर्षक तरीके से बताया है। उन्होंने कहा है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के क्षेत्र में संवैधानिक अवधारणा और वास्तविकता के बीच मौजूद व्यापक अंतर को महसूस करने के लिए संविधान में कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं। पुस्तक के अध्याय 3 में, लेखक ने संविधान की प्रस्तावना की प्रासंगिकता को संविधान के अधिकार के स्रोत के संदर्भ में जाँचने का प्रयास किया है। लेखक ने कई मामले की एक श्रृंखला की मदद से प्रस्तावना के व्याख्यात्मक महत्त्व को संदर्भित किया है, जैसा कि शीर्ष अदालत ने व्याख्या की है कि प्रस्तावना, हालाँकि संविधान का एक हिस्सा है, फिर भी संविधान का एक ऑपरेटिव हिस्सा नहीं है, क्योंकि यह न तो शक्तियों को बताता है न ही यह संविधान द्वारा निर्मित सरकारी संस्थानों की शक्तियों पर कोई सीमाएँ निर्धारित करता है। यद्यपि प्रस्तावना संविधान का अंग है और उसका मूलभूत ढाँचा है।

अध्याय 4 में, लेखक ने आधुनिक काल में शक्ति पृथक्करण, इसकी उत्पत्ति, उद्देश्य और महत्त्व के सिद्धांत की आवश्यकता पर चर्चा की है। वह स्पष्ट करते हैं कि भारत का उच्चतम न्यायालय इस विचार का है कि भारत के संविधान ने कठोर रूप में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को मूर्त रूप नहीं दिया है। इस अध्याय के अंत में लेखक द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि यह बहुत अच्छी तरह से तर्क दिया जा सकता है कि शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत अध्ययन की उस शाखा से अधिक उचित रूप से संबंधित है, जिसे हम राजनीति विज्ञान कहते हैं। लेकिन, संवैधानिक विधि के एक छात्र द्वारा अध्ययन किया जाना तब बहुत प्रासंगिक हो जाता है जब यह पता चलता है कि संवैधानिक विधि के कई महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक मुद्दे संविधान में स्पष्ट ही नहीं हैं। अध्याय 5 में, 'कार्यपालिका' शीर्षक से, लेखक ने विभिन्न भागों में विषय को विभाजित करके कार्यपालिकी शक्ति की प्रकृति को स्पष्ट किया है। वह दो प्रणालियों, संसदीय और राष्ट्रपति के कार्यकारी और संबंधित गुणों के रूपों पर चर्चा करता है। वह बताते हैं कि संसदीय प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक मजबूत सरकार प्रदान करती है। संसदीय प्रणाली में विधायी और कार्यकारी अंग एक दूसरे पर आरोप नहीं लगाते हैं बल्कि दोनों एक स्वर में बोलते हैं और एक स्वर में काम करते हैं। इससे दोनों अंगों का समय और ऊर्जा बचाता है।

अध्याय 6 में, लेखक राष्ट्रपति और राज्यपाल की दया शक्ति और केंद्र और राज्यों दोनों में कार्यकारी विधान के दायरे का वर्णन किया गया है। इसमें कार्यपालिका की विधायी शक्तियों से संबंधित कई न्यायिक घोषणाओं का एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया गया है। अध्याय 7 में लेखक ने विधानमंडल की कार्य प्रणाली पर प्रकाश डाला है, जहाँ वह सदस्यों के संसदीय विशेषाधिकार, कार्य और विधायन पारित होने की प्रक्रिया, सदस्यों की योग्यता और अयोग्यता की व्याख्या की हैं। अध्याय 8 में, न्यायपालिका ने का संगठन पर लेखक विभिन्न दृष्टिकोणों से उच्च और अधीनस्थ न्यायपालिका के कार्यों की चर्चा की हैं। उन्होंने न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर भी चर्चा की और एनजेएसी के अमान्यकरण का विश्लेषण किया है। उन्होंने संस्थागत स्वतंत्रता, न्यायाधीशों की स्वतंत्रता तथा अन्य प्रभावों से स्वतंत्रता पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है।

अध्याय 9 के अंतर्गत, लेखक ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की संबंधित शक्तियों और अधिकार क्षेत्र को व्याख्यायित किया है। इसके अंतर्गत की गयी चर्चाएँ बहुत उपयोगी हैं। अध्याय 10 संघीय विचार और भारतीय संघवाद के अवलोकन से संबंधित है जिसमें लेखक बताते हैं कि केंद्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल संवैधानिक मुद्दों को पार्टी के मुद्दों में बदल देते हैं, और उन्हें 1950 से 1980 तक अक्सर पार्टी के मंचों पर ही निपटाया गया। पार्टी संरचना स्वयं बहुत केंद्रीयकृत होती है, यहाँ तक कि मुख्यमंत्रियों को दिल्ली में राज्य विधानमंडल दलों में लोगों द्वारा चुना गया और राज्य में नियुक्त किया गया। इसलिए, पहले तीन दशकों के दौरान, संघवाद के विचार को मजबूत नहीं किया जा सका। दुर्भाग्य से, यह अभ्यास अभी भी जारी है। अध्याय 11, 12 और 13 में, लेखक ने केंद्र-राज्य विधान संबंधों पर ध्यान केंद्रित किया है। लेखक द्वारा संघ और राज्यों के बीच विस्तार से विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय संबंधों पर चर्चा की गयी। अध्याय 14 में आपातकालीन प्रावधानों और राज्य शक्तियों पर उनके प्रभाव का विवरण है। लेखक ने राज्य में संवैधानिक मशीनरी की विफलता पर विभिन्न मामलों के फैसलों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि संविधान के अनुच्छेद

356 (1) के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा राज्य आपातकाल की घोषणा उचित होती है। राष्ट्रपति की संतुष्टि व्यक्तिपरक है लेकिन यह ठोस प्रासंगिक तथ्यों पर आधारित होना चाहिए।

अध्याय 15 में, लेखक ने भारत के पूरे क्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता की अवधारणा का विवरण दिया है। इस अध्याय में भारत के संविधान के अनुच्छेद 301 और 19 (1) (जी) के बीच संबंध की बहुत उपयोगी चर्चा की गयी है।

पुस्तक का अध्याय 16 सिविल सेवा और चुनाव आयोग से संबंधित है जहाँ लेखक ने सिविल सेवाओं के साथ-साथ चुनाव आयोग के महत्त्व और उसकी स्थिति पर चर्चा की है। अध्याय 17 की चर्चा में, लेखक ने दो तरीकों से संविधान संशोधन की जांच की है- पहली सामान्य और परिचयात्मक प्रकृति में, और दूसरी, संसद की संशोधन शक्ति पर प्रक्रियात्मक सीमा में। लेखक संशोधन की शक्ति और उसकी पर्याप्त सीमाओं पर भी ध्यान आकृष्ट किया है। भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा शृंखलाबद्ध मामलों में दिये गये निर्णयों के उपरांत अंत में मूल संरचना सिद्धांत का उदय हुआ है। अंत में, अंतिम अध्याय 18 में, वह न्यायिक पुनर्विलोकन के अर्थ और प्रकृति का वर्णन करते हैं। वह मानते हैं कि लोकतंत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन संस्थागत संबंधों की समीक्षा के लिए अत्यावश्यक है। लोकतंत्र और संविधानवाद दो स्तंभ हैं, जिन पर भारतीय संविधान की मूल भावना आधारित है। लोकतंत्र स्पष्ट रूप से मूल गुण है क्योंकि यह शासन की पद्धति को परिभाषित करता है जो संविधान का प्राथमिक उद्देश्य होता है। किसी भी नियम के संवैधानिकता की परख करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि शासन में सब कुछ संविधान के अनुसार चलाया जाए।

प्रस्तुत पुस्तक में, लेखक द्वारा प्रत्येक विषय का व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुतीकरण किया गया है और भारत के संविधान के सभी बुनियादी उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। पुस्तक भारत के संविधान पर मौजूदा साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है। पुस्तक को लेखक द्वारा आकर्षक शैली में लिखा गया है। पुस्तक का बड़ा भाग और लेखक ने प्रभावी ढंग से और दृढ़ विश्वास के साथ संवैधानिक दर्शन को स्पष्ट किया हैं।

पुस्तक की भाषा कठिन नहीं है, यह पाठकों के अनुकूल है। मामलों की तालिका और पादटिप्पणियाँ काफी जानकारीपूर्ण और उपयोगी हैं। पुस्तक के अंत मे दिया गया इंडेक्स बहुत सटीक है। पुस्तक की विशेषता प्रत्येक अध्याय के शुरुआत में दिया गया एक संक्षिप्त अवलोकन है, जो प्रत्येक विषय के बारे में रूपरेखा तैयार करने में मदद करता है। पुस्तक का प्रारूप, लेआउट और बाइंडिंग अच्छी है। पुस्तक में 660 पृष्ठ की सामग्री है। इकोनॉमी पेपरबैक वॉल्यूम की कीमत रु 595/- जो एक छात्र के लिए भी सस्ती दर पर खरीदने लायक है। मुद्रण शैली आधुनिक है, गेट-अप सरल और आकर्षक है। बेशक, पुस्तक प्रकाशन को सही ठहराने के लिए विशिष्ट नवीनता और उपयोगिता से संपन्न है। विद्वान लेखक के पुस्तक निश्चित रूप से सभी लोगों के विभिन्न क्षेत्रों पाठकों की जरूरतों को पूरा करेगी ऐसा पूर्ण विश्वास है। यह प्रकाशक द्वारा एक सराहनीय कार्य किया गया है।

संविधान के मूलभूत तत्त्वों और समय के साथ उनमें किए बदलावों की बेहद गंभीर परख करती है। यह पुस्तक पाठकों को निरंतर कुछ सीख देती है। ❖❖

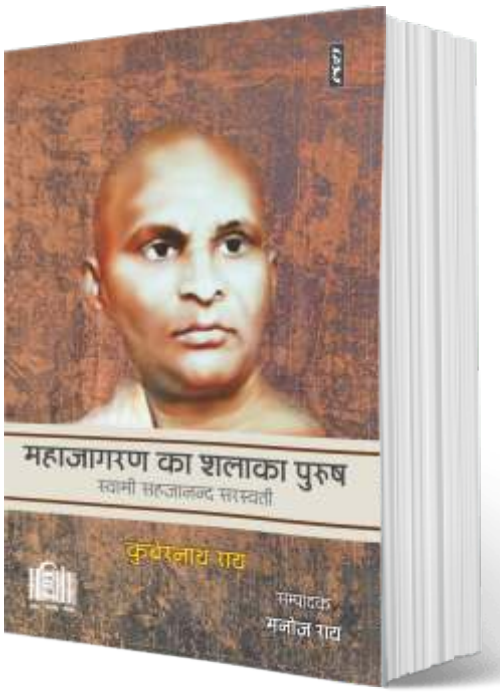

पाठ्यचर्या एवं नवाचार के सूत्र

सारिका शर्मा

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर
शिक्षा विद्यापीठ
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पुस्तक : रिकालिंग द फॉरगॉटन : एजुकेशन एंड मोरल क्वेस्ट
लेखक : अविजीत पाठक
प्रकाशक : आकार पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2009
मूल्य : 295 रु.

अविजीत पाठक ने इस पुस्तक में आलोचनात्मक सिद्धांतकारों द्वारा प्रस्तुत की जा रही आधुनिकता की आलोचना के आलोक में शिक्षा का विश्लेषण किया है। लेखक का मानना है कि बाजार के साथ अत्यंत लगाव एवं मोह के कारण वर्तमान व्यवस्था शिक्षा के अनुकरणीय आदर्शों को भूल चुकी है जिन्हें इस पुस्तक के माध्यम से लेखक ने पुनरुद्धृत करने का प्रयास किया है। उपयोगितावाद एवं उत्पादकता के लिए अग्रणी कौशल-उन्मुख शिक्षा गहरे सौंदर्य आदर्शों का विनाश करती है जो भारतीय संस्कृति में अतीत काल से बहुत अधिक प्रतिष्ठित रहे हैं। इतना ही नहीं, ऐसी शिक्षा प्रणाली को मनुष्य की क्षमताओं को यंत्रों के स्तर तक सीमित कर कम कर देती है और उसकी संवेदनशीलता तथा आलोचनात्मक तर्क क्षमता को भी छीन लेती है। यह पुस्तक विभिन्न ज्ञानानुशासन के समागम को प्रतिबिंबित करती है। यह सामाजिक सिद्धांत, दर्शन और नृजातीय विज्ञान को एकजुट करने का प्रयास करती है। यह असतत् इकाई या सामूहिक अधिनायकवाद के हिस्से के रूप में व्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गंभीर रूप से सोचने के लिए पाठकों को उद्वेलित करती है। लेखक द्वारा एमिल दुर्खीम और कार्लमार्क्स के काम को उद्धृत किया गया है ताकि पाठक अलगाव और व्यवस्था में परिणत होने वाले अत्यधिक व्यक्तिवाद के अवगुणों को समझ सकें। लेखक द्वारा वैश्वीकरण के युग में शिक्षा के व्यावसायीकरण, जो विशेषज्ञों के उत्पादन की माँग तो करता है परंतु शिक्षा प्रणाली के नैतिक पक्ष पर ध्यान नहीं देता है तथा मानवीय संबंध, करुणा और रचनात्मकता की उपेक्षा करता है, पर भी चिंता व्यक्त की गयी है। पुस्तक की प्रस्तावना एक ऐसे परिचय के रूप में प्रस्तुत की गयी है जो नैतिक प्रश्न उठाती है और पाठक के मस्तिष्क में वर्तमान शिक्षा प्रणाली के संबंध में एक बहस शुरू कर देती है। वह अनायास ही यह प्रश्न उठाता है कि शिक्षा बाजार संचालित अर्थव्यवस्था में व्यक्ति को संपूर्ण रूप से समायोजित होने के लिए कौशल प्रदान करना है या शिक्षार्थी को उसके आत्म से जोड़ने की यात्रा। पूरी किताब को तीन अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है, जो शिक्षा प्रणाली के विभिन्न आयामों पर केंद्रित तो हैं ही पाठकों से गहन चिंतन की माँग भी करते हैं।

प्रथम अध्याय में नवजागरण, वैश्वीकरण और औद्योगिकीकरण के संदर्भ में भारतीय समाज के मुख्य आदर्शों के संबंध में शिक्षा के उद्देश्यों को पुनः खोजने का प्रयास किया गया है। लेखक शिक्षा के मूल सिद्धांतों को आलोचनात्मक चेतना, सौंदर्य कल्पनाशीलता, आंतरिक जागृति और व्यवसाय के प्रति संवेदनशीलता के रूप में रेखांकित करता है। वह अपने लेखन को समृद्ध करने के लिए टैगोर, अरबिंदो, देवीप्रसाद, डिवी, फ्रेरे, नीत्शे आदि जैसे भारतीय और विदेशी लेखकों की साहित्यिक कृतियों एवं विभिन्न भारतीय धर्मग्रंथों से उधार ली गयी अवधारणाओं, अंशों और छोटी कहानियों का उपयोग करके इसे पाठकों के लिए रोचक बनाता है। लेखक संवाद-आधारित शिक्षा पर बल देता है जो उसके अनुसार मानवता को आधुनिक बनाने के लिए उत्प्रेरक का काम कर सकती है और इसे चुनिंदा विशेषज्ञों और टेक्नोक्रेट के वर्चस्व से बचा सकती है। लेखक एक आधुनिक समाज में शिक्षाविदों द्वारा धर्मनिरपेक्षता को संबोधित करने का सवाल उठाता है, विशेषकर भारत जैसे एक बहुलवादी समाज और विविधतापूर्ण भूमि में। अविजीत पाठक आगे यह तर्क देते हैं कि वर्तमान में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है जो प्रौद्योगिकी-ग्रस्त दुनिया में शिक्षार्थियों के कोमल मन-मस्तिष्क में सौंदर्य संवेदनशीलता और आलोचनात्मक चेतना विकसित कर सके क्योंकि प्रौद्योगिकी और बाजार-संचालित उपभोक्तावाद पर अत्यंत निर्भरता ने छद्म आवश्यकताओं एवं छद्म इच्छाओं को जन्म दिया है जो अप्रत्यक्ष रूप से हमारे शरीर और आत्माओं के उपनिवेशन को दर्शाती है।

द्वितीय अध्याय एक प्रतिवर्ती एवं

चिंतनशील शिक्षणशास्त्र की खोज पर केंद्रित है जो लेखक के अनुसार विद्यालयी शिक्षा को एक ध्रुववादी ढंग से परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। इस पुस्तक के माध्यम से लेखक एक ऐसे शिक्षण शास्त्र के लिए तर्क देता है जिसमें वर्तमान कार्टेशियन द्वंद्व को दूर करने की क्षमता है। इस अध्याय में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है जो शिक्षार्थी को दयालु और चिंतनशील होने में समर्थ बनाती है। लेखक का तर्क है कि रॉबर्टमर्टन की 'संस्थागत अनिवार्यता' जैसे सार्वभौमिकता, साम्यवाद, उदासीनता और संगठित संशयवाद का उपयोग विज्ञान शिक्षा को एक संज्ञानात्मक और उपयोगितावादी पक्ष प्रदान करने के लिए किया गया है जिस पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली एवं शैक्षिक नीतियों द्वारा इसलिए बल दिया जा रहा है ताकि भारत को आधुनिक, औद्योगिक एवं एक राष्ट्र के रूप में विकसित तथा कुशल इंजीनियरों एवं टेक्नोक्रेट का उत्पादक बनाया जा सके। इसे लेखक द्वारा 'न्यूनतावादी दृष्टिकोण' से संबोधित किया गया है क्योंकि उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य विज्ञान का गहन सांस्कृतिक एवं दार्शनिक जिज्ञासाओं एवं प्रश्नों से संबंध-विच्छेद कर देता है। इस प्रयास में विज्ञान प्रतिबद्धता, विनम्रता, खुलेपन और संवेदनशीलता की भावना के विपरीत एक मानसिक दंभ को पैदा करता है। विज्ञान को जब केवल तथ्यों और सिद्धांतों के संदर्भ में पढ़ाया जाता है, तो इसमें निहित सौंदर्य और विस्मय समाप्त हो जाता है और यह प्रयोगों के अधीन 'वस्तुओं' के एक वस्तुनिष्ठ, मूल्य-तटस्थ और उदासीन विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जाने वाला एक विषय मात्र बन जाता है। ऐसे परिदृश्य में लेखक जीवन और प्रकृति के साथ जुड़ाव की एक वैकल्पिक विधा की माँग करता है जहाँ शिक्षार्थियों को अपने दैनिक जीवन में विज्ञान के एकीकरण की सराहना करने में सक्षम बनाया जा सके। इसी प्रकार लेखक गणित के संबंध में तर्क देता है कि एक ज्ञानानुशासन के रूप में गणित

अविजीत पाठक ने इस पुस्तक को एक संवादपूर्ण और व्यक्तिगत शैली में लिखा है। उन्होंने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के रुझानों की जाँच करने का प्रयास किया है और कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चिंता जतायी है जो समकालीन विश्व में शिक्षा प्रणाली को सिर्फ उत्पादकता और उपभोक्तावाद से जोड़ने का प्रयास करते हैं। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसे कोई भी ऐसा व्यक्ति जो भारतीय शिक्षा प्रणाली की स्थिति के बारे में चिंतित है, पढ़ने से वंचित नहीं रहना चाहेगा। यह पुस्तक पाठकों के मस्तिष्क में कौतूहल पैदा करने की क्षमता रखती है और वे भारत में शिक्षा प्रणाली, सांस्कृतिक चेतना और नैतिक खोज पर उदारीकरण, आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव के बारे में एक महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य विकसित करने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

विवेक, गणितीय तर्क और वितर्क को विकसित करता है और यह अधिगमकर्ता में ऐसी क्षमताओं को विकसित करता है, फिर भी बहुत सारे विद्यार्थी गणित विषय से डरते हैं। इस स्थिति को पुस्तक में 'गणित फोबिया' कहा गया है। लेखक इस भय के लिए गणित के ज्ञानानुशासन की औपचारिकता, अमूर्तता और अप्रासंगिकता को जिम्मेदार मानता है। गणित के प्रति उदासीनता का कारण इसको मात्र एक बौद्धिक संक्रिया के रूप में अभ्यास तक सीमित रखना है जिससे भय पैदा होता है और इसके परिणामस्वरूप अंततः सीखने की संस्कृति में ही अरुचि उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न विद्यालयी विषयों के लिए उपयोग किए जाने वाले शिक्षण शास्त्र पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लेखक ने विज्ञान और गणित की अनुशासनात्मक परिधि से आगे बढ़ते हुए विद्यालयों में इतिहास, सामाजिक विज्ञान और साहित्य पढ़ाने के लिए अपनाए जा रहे शिक्षण पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है। वह साझा करता है कि अधिकांश विषयों के शिक्षण में एक समानता है और वह है 'ज्ञानानुशासन एवं शिक्षार्थी का कोष्ठीकरण' जहाँ अंतःक्रिया के लिए ये दोनों एक संकीर्ण गलियारे का उपयोग करते हैं और शिक्षक इस गलियारे में सिर्फ तथ्यात्मक सूचनाओं के आवागमन को नियंत्रित करते हुए रटने एवं स्मरण की संस्कृति को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे में ये विषय या ज्ञानानुशासन अधिकांश प्रकरणों में शिक्षार्थी के जीवन से बिलकुल असंबद्ध हो जाते हैं। यहाँ लेखक एक सजग एवं चिंतनशील शिक्षण शास्त्र की माँग करता है जो शिक्षार्थियों में आलोचनात्मक चेतना विकसित कर सके। लेखक यह आशा करता है कि ऐसा शिक्षण शास्त्र न केवल शिक्षार्थियों को अपने परिवेश से सार्थक ढंग से जोड़ेगा, अपितु यह उनमें साहित्यिक संवेदनशीलता, सामाजिक सहयोग का मूल्य, सामूहिक सरोकार, एकजुटता, आलोचनात्मक कल्पनाशक्ति, सौंदर्य, सुख आदि का भी विकास करेगा। लेखक व्यक्त करता है कि इस तरह के शैक्षणिक प्रयासों को पाठ्यपुस्तकों के प्रभुत्व, परीक्षा-केंद्रित सीखने, व्यवसायों के पदानुक्रम आदि के संदर्भ में निश्चिय ही बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। ऐसे में शिक्षकों, माता-पिता, प्रशासकों और समाज को पाठ्यपुस्तकों से परे देखने के लिए बड़े पैमाने पर संघर्ष करना चाहिए तथा शिक्षकों की रचनात्मकता, नवाचार और परीक्षण के अधिकार का उपयोग करने की स्वायत्तता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। ज्ञान के लेन-देन और शिक्षा के नैतिक चरित्र को पुनः प्राप्त करने के लिए संवाद और सृजनात्मक विस्तार के लिए स्थान प्रदान किया जाना चाहिए।

अंतिम अध्याय में लेखक विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा को भी बाजारवाद का शिकार बताता है और दावा करता है कि इसने अपनी अकादमिक दृढ़ता, सांस्कृतिक चेतना और चिंतनशील कल्पना शक्ति को खो दिया है। जब उच्च शिक्षा में अनुसंधान के साथ शिक्षण को समृद्ध करना एक विकट आवश्यकता बन गयी है, तब भी विश्वविद्यालयी शिक्षा वैश्वीकरण के युग में

उत्पादकता की संस्कृति का शिकार हो गयी है। शिक्षण और अनुसंधान को दो अलग-अलग प्रथाओं के रूप में माना जाने लगा है और इसके परिणाम स्वरूप शिक्षण और अनुसंधान के बीच एक असीमित संबंध बन गया है। इसके अलावा 'न्यूनतावादी ज्ञानमीमांसा' और अति-विशेषज्ञता ने विभिन्न विषयों के बीच विभेदीकरण और पदानुक्रम की एक ऐसी संस्कृति को विकसित कर दिया है जिसके फलस्वरूप एक ही विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के बीच संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और विश्वविद्यालय विभिन्न संकायों का एक समूह मात्र बन जाते हैं। विज्ञान को कला की अपेक्षा बेहतर ज्ञानानुशासन का दर्जा प्राप्त है क्योंकि इसमें प्रत्यक्षवादी कार्यप्रणाली का उपयोग होता है। यह द्वंद्वात्मक स्थिति सामाजिक विज्ञान के लिए एक 'पद्धतिगत चिंता' का कारण बन जाती है। लेखक को लगता है कि ज्ञानानुशासनों का यह पदानुक्रम कई छात्रों के कैरियर की संभावनाओं को खतरे में डाल देता है जिससे वे हतोत्साहित हो जाते हैं। इस अध्याय में वह उच्च शिक्षा प्रणाली को आदर्श बनाने और नैतिक खोज को संबोधित करने के लिए एक क्रॉस-डिसिप्लिनरी संवाद हेतु विनती करता है। शिक्षण विश्वविद्यालय के लिए केंद्रीय होता है और शिक्षकों का ज्ञान, रचनात्मकता और कठोर परिश्रम अकादमिक शोध एवं अनुसंधान के रूप में प्रकाशनों के माध्यम से समुदाय तक संप्रेषित होता है। हालाँकि, लेखक स्वयं यह स्वीकार भी करता है कि समकालीन परिस्थितियों में उच्च वेतन और भत्तों के लिए शोध पत्रों का प्रकाशन तथा उपाधि प्राप्ति के लिए शोध करना इस अभ्यास को तुच्छ बना देता है। इस परिदृश्य में जो आवश्यक है वह है- शिक्षकों का एक जीवंत समुदाय जो सिद्धांत और व्यवहार के बीच की खाई को दूर कर सके, छात्रों के साथ एक आत्मीय संबंध विकसित कर सके और उनकी चेतना के अ-उपनिवेशन (राजनैतिक स्वाधीनता) में मदद कर सके। लेखक विश्वविद्यालय पाठ्यचर्या को एक समेकित तरीके से पुनर्गठित करने और ऐसे अभिप्रेरित छात्रों का चयन करने का सुझाव देता है जो नैतिक उत्सुकता के साथ इस पाठ्यचर्या का अनुभव करने के लिए तत्पर हैं।

अविजीत पाठक ने इस पुस्तक को एक संवादपूर्ण और व्यक्तिगत शैली में लिखा है। उन्होंने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के रुझानों की जाँच करने का प्रयास किया है और कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चिंता जताई है जो समकालीन विश्व में शिक्षा प्रणाली को सिर्फ उत्पादकता और उपभोक्तावाद से जोड़ने का प्रयास करते हैं। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसे कोई भी ऐसा व्यक्ति जो भारतीय शिक्षा प्रणाली की स्थिति के बारे में चिंतित है, पढ़ने से वंचित नहीं रहना चाहेगा। यह पुस्तक पाठकों के मस्तिष्क में कौतूहल पैदा करने की क्षमता रखती है और वे भारत में शिक्षा प्रणाली, सांस्कृतिक चेतना और नैतिक खोज पर उदारीकरण, आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव के बारे में एक महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य विकसित करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। यह पुस्तक शिक्षण के क्षेत्र में संलग्न चिंतनशील अभ्यासकर्ताओं एवं शिक्षकों के लिए सहायक साबित हो सकती है। ❖❖

विस्मृति का स्मरण

सत्येंद्र कुमार सिंह

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर
विधि विभाग, हरिश्चंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

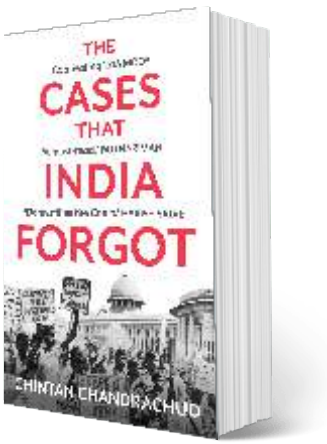

पुस्तक : द केसेज दैट इंडिया फॉरगॉट
लेखक : चिंतन चंद्रचूड़
प्रकाशक : जगरनॉट
प्रकाशन वर्ष : 2020
मूल्य : 599 रु.

भारतीय लोकतंत्र में विधायिका और न्यायपालिका में रार छिड़ने की नौबत आती रही है। इसी पहले घमासान से आरंभ करते हुए पुस्तक में राजनीतिक विषय को उठाया गया है। पहले मुक़दमे के रूप में केशव सिंह केस की चर्चा हुई है। 1964 में विधानसभा ने विशेषाधिकार और अपने सम्मान की रक्षा के लिए न्यायपालिका के फैसलों के खिलाफ ताबड़तोड़ फैसला देकर एक नया इतिहास रच दिया। बात तब की है जब केशव सिंह नामक एक व्यक्ति ने विधायक के खिलाफ आपत्तिजनक टिप्पणी वाला एक पर्चा स्थानीय रूप से गोरखपुर एवं विधान सभा, लखनऊ के आसपास के क्षेत्र में वितरित किया। इस कार्रवाई को अपनी मर्यादा के खिलाफ मानते हुए विधानसभा ने केशव सिंह को एक सप्ताह कारावास की सजा दे दी। इस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय की लखनऊ खंडपीठ में केशव सिंह की ओर से बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दाखिल की गयी। खंडपीठ ने इस याचिका को स्वीकार करते हुए केशव को जमानत पर रिहा कर दिया। विधानसभा ने इस अदालती कार्रवाई को अपना अपमान समझा और केशव सिंह, उनके अधिवक्ता और दो जज को गिरफ्तार कर सदन में प्रस्तुत करने का आदेश दिया। अधिवक्ता समेत दोनों जजों ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका दाखिल कर इस आदेश पर स्टे माँगा। उच्च न्यायालय ने अति संवेदनशील मामला होने की वजह से 28 जजों की पूर्ण पीठ गठित कर सुनवाई करते हुए विधानसभा के फैसले पर रोक लगा दी। प्रत्युत्तर में विधानसभा ने संकल्प पारित करके केशव सिंह, उनके वकील एवं उच्च न्यायालय के दोनों न्यायाधीशों को विधानसभा के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी स्थिति स्पष्ट करने को कहा। यद्यपि दोनों न्यायाधीशों एवं वकील के विरुद्ध गिरफ्तारी वारंट वापस ले लिया गया। बताते हैं कि इलाहाबाद के कुछ नामी वकीलों ने तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू से संपर्क किया और इस रार को समाप्त करने का अनुरोध किया। नेहरू ने इस मामले में रुचि ली। फिर राष्ट्रपति के जरिए यह मामला सुप्रीम कोर्ट पहुँचा और चीफ जस्टिस समेत सात न्यायमूर्तियों की पीठ ने इसकी सुनवाई की। पीठ ने न्यायालय की व्याख्या के अधिकार को तो बहाल रखा लेकिन इसमें बीच का रास्ता निकला। फिर इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अपने आदेश को संशोधित करते हुए केशव सिंह की याचिका खारिज कर दी। केशव सिंह को बाकी दिन जेल में बिताने पड़े। इससे माननीयों को अपना मान बचाने में कामयाबी मिली।

राजनीति पर चर्चा को आगे बढ़ाते हुए 'मिनरवा मिल बनाम भारत सरकार' (1980) को उल्लेखित किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 का खंड (4) विधिसम्मत नहीं (इनवैलिड) है क्योंकि यह न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त करने के लिए पारित किया गया था। न्यायिक पुनर्विलोकन का सिद्धांत संविधान का आधारभूत लक्षण है। 42वां संविधान संशोधन 1976 में हुआ। इस संशोधन को संविधान का मिनी संविधान भी कहा जाता है। इन संशोधन में प्रस्तावना में तीन शब्द जोड़े गये- समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं अखंडता, संविधान के भाग 4 में 51क जोड़ा गया जिसमें नागरिकों के कर्तव्य को जोड़ा गया, राष्ट्रपति केबिनेट की सलाह के लिए बाध्य किया गया, प्रशासनिक अधिकरणों की व्यवस्था की गयी, 1971 की जनगणना के आधार पर लोकसभा एवं राज्य विधानसभा की सीटों को निश्चित किया गया, संवैधानिक संशोधन को न्यायिक जाँच से बाहर किया गया, न्यायिक समीक्षा की शक्ति में कटौती, लोकसभा एवं विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष किया गया। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व के कार्यान्वयन हेतु बनायी गयी विधियों को मूल अधिकार का उलंघन है, इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जाएगा के उक्त प्रावधान को असंवैधानिक बताते हुए निर्णय दिया गया कि संसद संविधान के मौलिक ढाँचें को नहीं बदल सकता। वामन राव बनाम भारत संघ

(1981) वाद में न्यायलय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आधारभूत लक्षण का सिद्धांत 24-4-1973, अर्थात् केशवानंद भारती के निर्णय सुनाये जाने की तिथि के बाद पारित होने वाले संविधान संशोधन अधिनियमों पर लागू होगा। इन संशोधनों और विनिश्चयों का परिणाम यह हुआ कि (1) मूल अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है। (2) प्रत्येक मामले में न्यायालय यह विचार करेगा कि क्या मूल अधिकारों के संशोधन से संविधान के किसी आधारभूत लक्षण का निराकरण या विनाश या क्षय हो रहा है? यदि इसका उत्तर हाँ में है तो संशोधन उस विस्तार तक अविधिसंगत (इनवैलिड) होगा। (3) आधारभूत लक्षणों के आधार पर उन्हीं अधिनियमों को अविधिमान्य किया जा सकेगा जो 24-4-1973 के बाद पारित किये गये हैं। ठीक इसी क्रम में आगे जाते हुए राजनीति के विषय में 'रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत सरकार' केस की चर्चा है। वर्ष 2006 में दिये गये इस निर्णय में पाँच सदस्यों वाली न्यायपीठ ने स्पष्ट किया था कि यदि विधानसभा चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता और कुछ दल मिलकर सरकार बनाने का दावा करते हैं तो इसमें कोई समस्या नहीं है, चाहे चुनाव पूर्व उन दलों में गठबंधन हो या न हो।

अगली कड़ी में लिंग और लिंगभेद संबंधित मामलों पर चर्चा करते हुए दो महत्त्वपूर्ण मुकदमों का हवाला दिया गया है। इनमें 'तुकाराम बनाम भारत सरकार' और 'आर.डी. बजाज बनाम के पी.एस. गिल' का केस शामिल है। 1972 में महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में दो कॉन्स्टेबलों पर 'मथुरा' के साथ थाने में ही बलात्कार करने का आरोप लगा था। इस केस के बाद 80 के दशक में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा के विरोध में देशव्यापी आंदोलन हुए। इन आंदोलनों के चलते ही 1983 में भारतीय दंड संहिता में बदलाव कर बलात्कार की धारा 376 में चार उपधाराएँ ए, बी, सी और डी जोड़कर हिरासत में बलात्कार के लिए सजा का प्रावधान किया गया। बंद कमरे में अदालती सुनवाई की

बात तब की है जब केशव सिंह नामक एक व्यक्ति ने विधायक के खिलाफ आपत्तिजनक टिप्पणी वाला एक पर्चा स्थानीय रूप से गोरखपुर एवं विधान सभा लखनऊ के आसपास के क्षेत्र में वितरित किया। इस कार्रवाई को अपनी मर्यादा के खिलाफ मानते हुए विधानसभा ने केशव सिंह को एक सप्ताह कारावास की सजा दे दी। इस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय की लखनऊ खंडपीठ में केशव सिंह की ओर से बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दाखिल की गयी। खंडपीठ ने इस याचिका को स्वीकार करते हुए केशव को जमानत पर रिहा कर दिया। विधानसभा ने इस अदालती कार्रवाई को अपना अपमान समझा और केशव सिंह, उनके अधिवक्ता और दो जज को गिरफ्तार कर सदन में प्रस्तुत करने का आदेश दिया। अधिवक्ता समेत दोनों जजों ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका दाखिल कर इस आदेश पर स्टे माँगा। उच्च न्यायालय ने अति संवेदनशील मामला होने की वजह से 28 जजों की पूर्ण पीठ गठित कर सुनवाई करते हुए विधानसभा के फैसले पर रोक लगा दी।

व्यवस्था हुई। इतने क्रांतिकारी बदलाव का कारण रही मथुरा आज भुला दी गयी है। अभी लोक स्मृति में यौन हिंसा की प्रतीकात्मकता स्वरूप निर्भया का नाम गूँजता है। लेकिन मथुरा को भुलाया जा चूका है। उल्लेखनीय है कि मथुरा के मामले में पहले तो पुलिस केस ही दर्ज नहीं कर रही थी, स्थानीय लोगों के हंगामे के बाद थाने में केस तो दर्ज हुआ। लेकिन 1974 में निचली अदालत ने दोनों अभियुक्तों को इस आधार पर छोड़ दिया कि मथुरा को 'सेक्स की आदत' थी और उसके शरीर पर चोट के कोई निशान नहीं थे। इतना ही नहीं उसने विरोध या किसी तरह का शोर नहीं किया था। मथुरा के मामले में बॉम्बे हाई कोर्ट ने निचली अदालत के निर्णय को इस आधार पर खारिज कर दिया कि थाना परिसर में पुलिस के कॉन्स्टेबल के द्वारा डरा कर किया गया बलात्कार सहमति के साथ संबंध नहीं हो सकता। लेकिन 1979 में सुप्रीम कोर्ट ने निचली अदालत के फैसले को फिर से बहाल कर दिया और अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया। अभियुक्तों की ओर से वकील थे प्रसिद्ध एडवोकेट राम जेठमलानी। इसके बाद देशव्यापी महिला आंदोलन शुरू हुए और 1983 में भारत सरकार को बलात्कार कानून को और संवेदनशील बनाना पडा। इसी क्रम में आगे जाते हुए फिर एक ऐसे केस पर चर्चा हुई है जिनके निहित विषय की ताप अभी तक अनुभव की जा सकती है। हम इसे 'वर्कप्लेस ह्रासमेन्ट' और 'सेक्सुअल मिसकंडक्ट' कह सकते हैं। अगर इंटरनेट नहीं होता, पल भर में मन की बात सामने रख सकने के प्लेटफॉर्म नहीं होते, तो जरूर ''मी टू'' जैसा आंदोलन कुछ साल आगे खिसक जाता। यह वो केस है जिसने आज से 30 साल पहले कानून के उन हिस्सों का इस्तेमाल किया था जिनको ब्रिटिश राज के समय से छुआ तक नहीं गया था। इस केस ने एक इतिहास रचा। केस था एक आईएएस अफसर और डीजीपी का। के.पी. एस. गिल ने आईएएस अधिकारी रूपन बजाज के साथ एक पार्टी में बदसलूकी की थी। बजाज ने इस मामले को आत्मसम्मान से जोड़ा और इसे न्यायालय लेकर गयीं। उन्होंने यह नोटिस किया कि 1860 में बने आईपीसी (भारतीय दंड संहिता) की धारा 354 और 509 का इस्तेमाल कभी नहीं किया गया था। यह वो धाराएँ हैं जो किसी भी औरत की इज्जत या सम्मान को ठेस पहुँचाने के अपराध की सजा तय करती हैं। ये चार्जेज रेप जितने गंभीर नहीं थे, लेकिन फिर भी काफी जरूरी थे और इनका इस्तेमाल अब तक नहीं किया गया था। इन धाराओं के तहत रूपन बजाज ने के. पी.एस. गिल को कोर्ट में चुनौती दी। हाई कोर्ट ने रूपन बजाज का मामला खारिज कर दिया। कहा कि ये बहुत ही मामूली सा मामला है। हर कदम पर गिल को सपोर्ट मिला। रूपन को धमकियाँ दी गयीं। उनके परिवार को नुकसान पहुँचाने की बातें कही गयीं। लेकिन रूपन फिर भी लड़ीं। सुप्रीम कोर्ट गयीं। यहीं से केस की रूपरेखा बदल गयी। सुप्रीम कोर्ट ने हाई कोर्ट का निर्णय पलट दिया। कहा कि इस

मामले में रूपन की स्त्रियोचित गरिमा का अपमान किया गया है। उनकी मोडेस्टी (modesty) का अपमान किया गया है। मोडेस्टी शब्द को डिफाइन करने के लिए सुप्रीम कोर्ट ने कई डिक्शनरियों की सहायता ली। इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि सेक्सुअल अंडरटोन लिए कोई भी हरकत स्त्री के सामने की जाए उसकी मर्जी के बिना जो उसकी गरिमा को भंग करे, वो सजा के लायक है। इस धारा के तहत् दंडनीय है।

तीसरे भाग में धर्म से संबंधित मुकदमों में फिर से 2 मुकदमों का उल्लेख है जिनमें 'मद्रास राज्य बनाम चंपकम दोराईराजन' और 'बॉम्बे राज्य बनाम नरसू अप्पा माली' निम्नलिखित है। मद्रास प्रेसीडेंसी में 1927 में एक जी.ओ. पास किया था जिसके द्वारा सरकारी मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों में गैर ब्राह्मणों को आरक्षण प्रदान किया गया था। भारत का संविधान लागू होने के बाद 'मद्रास राज्य बनाम चंपकम दोराईराजन' के केस में एक ब्राह्मण महिला ने मद्रास प्रेसीडेंसी के इस शासनादेश को चुनौती दी और कहा कि इस प्रावधान से भारत के संविधान के अनुच्छेद 15(1) एवं अनुच्छेद 29(2) के तहत प्रदान किये गये उसके समता के अधिकार का उल्लंघन होता है। मद्रास उच्चन्यायालय ने आरक्षण के इस प्रावधान को अनुच्छेद 15(1) एवं अनुच्छेद 29(2) के तहत समता के अधिकार का उल्लंघन माना और मद्रास प्रेसीडेंसी के उक्त प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया। मामला सुप्रीम कोर्ट पहुँचा जहाँ सुप्रीम कोर्ट ने भी मद्रास उच्च न्यायालय के उक्त निर्णय को बरकरार रखा। स्टेट ऑफ मद्रास बनाम चंपकम दोरईराजन के मामले में दिये गये निर्णय को निष्प्रभावी बनाने के लिए जवाहर लाल नेहरू ने संसद में प्रथम संविधान संशोधन बिल प्रस्तुत किया। यह घटना 1951 की है। 'नरसु अप्पा माली' 1951 का निर्णय एक महत्त्वपूर्ण निर्णय है जो व्यक्तिगत कानूनों को मौलिक अधिकारों के अधीन होने की सीमा तक सीमित करता है। इसमें यह प्रश्न प्रकट है कि क्या संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थ के भीतर व्यक्तिगत कानूनों को 'कानून' माना जा सकता है? यह मामला मुंबई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश एमसी छागला और न्यायमूर्ति पीबी गजेन्द्र गढ़कर की खंडपीठ ने तय किया था। प्रस्तुत वाद में मुंबई राज्य द्वारा हिंदुओं में द्विविवाह निषेध करने संबंधी कानून को अनुच्छेद 25 के अंतर्गत चुनौती दी गयी। अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति को अंतःकरण की स्वतंत्रता और अपने धर्म को मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता देता है। यह अधिकार सामाजिक सुधार के या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों के लिए खोलने के लिए अध्युपायों के अधीन है। मुख्य न्यायाधीश एमसी छागला के अनुसार प्रस्तुत कानून अनुच्छेद 25 में वर्णित सामाजिक सुधार की दिशा में एक प्रशंसनीय कदम है। अनुच्छेद 25 के अंतर्गत स्वीकृत होने के कारण यह एक वैध कानून है। अंतिम भाग में राष्ट्रीय सुरक्षा के महत्त्व के कुछ तीन केस शामिल किये गये हैं।

पुस्तक विधि, इतिहास और राजनीति के अध्येताओं के लिए एक उपयुक्त पाठ्य सामग्री है जो राजनीतिक इतिहास की दशा और दिशा तय करने में न्यायालय के हस्तक्षेपों की चर्चा करती है। ऐसी श्रेणी में कई पुस्तकें अब सामने आ रही हैं। उदाहरण के लिए आपातकाल (1975) के इतिहास में न्यायलय की भूमिका पर काफी स्रोत सामग्री उपलब्ध है। पुस्तक की लेखीय शैली सुगम और पठनीय है। कानूनी अड़चनों को पार करते हुए चिंतन चंद्रचूड़ ने सामान्य पाठकों के लिए एक रोचक और पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है। ❖❖

ज्ञान का पुनर्शोधन

प्रो. सुदीप कुमार जैन

संपर्क :
प्रो. सुदीप कुमार जैन,
प्राकृत विभाग
साहित्य और संस्कृत संकाय
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली
संपर्क दूरभाष : 8750332266

पुस्तक : जोणी पाहुड (योनि प्राभृत)
संपादक : डॉ. राजाराम जैन, डॉ. विद्यावती जैन
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन वर्ष : 2018
भाषाएँ : मूल- प्राकृत, अनुवाद- हिंदी

भारतवर्ष की प्रतिष्ठित साहित्य - प्रकाशन - संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ', नयी दिल्ली के द्वारा प्रकाशित 'जोणिपाहुड' संज्ञक ग्रंथ हस्तगत हुआ। चूँकि यह ग्रंथ ईसा की प्रथम-शताब्दी के सुविख्यात श्रुतधर-आचार्य धरसेन स्वामी की अनुपलब्ध-रचना के रूप में प्रचारित है, अतः इसकी अचानक-उपलब्धता भी विस्मयकारी प्रतीत हुई। फिर कुछ आश्वस्त यह देखकर हुआ कि इसके पाठ-संपादक व अनुवादक पांडुलिपियों के संपादन व अनुवाद के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध जैन-विद्वान् प्रो. राजाराम जैन जी हैं। अतः पढ़ने का मन किया कि प्रो. राजाराम जैन जी न केवल पांडुलिपियों के संपादन व अनुवाद के सिद्धहस्त-मनीषी हैं, अपितु अत्यंत-वयोवृद्ध (नब्बे वसंत पूर्ण कर चुके) होने से गंभीर-मानसिकता के धनी व मात्र प्रचार पाने की सतही-सोच से परे व्यक्ति हैं। अतः कुछ संभावना मानी जा सकती है कि इस 'लुप्त' घोषित ग्रंथ की शायद कोई पांडुलिपि उन्हें कहीं से (यथोल्लेख 'भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे' से) मिल गयी हो और उसका पाठ-संपादन व अनुवाद-सहित प्रकाशन करना 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसे सुप्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थान ने प्रासंगिक समझा हो।

इतना होने पर भी मेरे मन में एक दुविधा थी इस ग्रंथ के उस प्रसिद्ध-ग्रंथ के रूप में होने के विषय में, और वह यह थी कि आचार्य धरसेन स्वामी इस 'जोणिपाहुडं' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की विषय-वस्तु के 'ज्ञाता' भले ही कहे गये हों, परंतु उन्होंने स्वयं इसकी प्रति लिखी नहीं थी-- यह तथ्य सुस्पष्ट है। क्योंकि उन्हें 'छक्खमडागमसुत्तं' नामक श्रुतांश का जो ज्ञान था, उसका भी लेखन उन्होंने स्वयं नहीं किया था, बल्कि 'नरवाहन' और 'सुबुद्धि' (जो बाद में 'पुष्पदंत' एवं 'भूतबलि' नामों से विख्यात हुए) नामक दो समर्थ-मुनिवरों को उसका उपदेश मात्र प्रदान किया था। उसी उपदेश के आधार पर इन दोनों मुनिवरों ने मिलकर इस ग्रंथ के लिपिबद्धीकरण का कार्य संपन्न किया था।-- यह सुविख्यात-तथ्य है।

इस 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथ का ज्ञान होते हुए भी इसे लिपिबद्ध नहीं करने व किसी को उपदेश तक नहीं देने के निर्णय के पीछे उनका एक दूरदर्शितापूर्ण-विवेक भी कारण था। वह था इस ग्रंथ की विषय-वस्तु (मंत्र-तंत्र) का पंचमकाल के जीवों की मनःस्थिति के अनुसार हितकारी नहीं होना।

अतः यह प्रकाशित-संस्करण वास्तव में क्या है और इसकी वास्तविकता क्या है?-- यह जिज्ञासा प्रबल हुई और निष्पक्षरूप से तथ्यात्मक-समीक्षण के बिना सतही-तौर पर कोई निर्णय देना कदापि उचित नहीं होगा-- यह मन में अवधृत करके इसके प्रस्तुत-संस्करण के सर्वांगीण-अध्ययन-पूर्वक इसकी समीक्षा-हेतु प्रवृत्त हुआ हूँ।

अस्तु, इस ग्रंथ के प्रस्तुत प्रकाशित-संस्करण की निष्पक्ष एवं तथ्यात्मक-समीक्षा निम्नानुसार है--

1. संपादक के द्वारा प्रस्तुत कथनों की तथ्याधारित-समीक्षा :--

इस संस्करण के यशस्वी संपादक-दंपत्ति के द्वारा इस संस्करण में 'संपादकीय' का ही अभाव है, अतः किन संपादकीय-प्रविधियों के आधार पर इसका पाठ-संपादन, अनुवाद एवं प्रकाशन किया गया?-- इन्हें पहिचानने का कोई स्रोत इसमें नहीं है।

इस संस्करण में एतद्विषयक जो कुछ सूचनाएँ मिलती भी हैं, वे सभी इन्हीं संपादक-दंपत्ति के द्वारा लिखित 'आत्मकथ्य' एवं 'प्रस्तावना' शीर्षकों वाले दो अतिसंक्षिप्त-लेखों में ही सीमित है। चूँकि ये 'संपादकीय' ही नहीं, अतः इनमें संपादकीय-विधा के अनुरूप-सामग्री के विधिवत् रूप से प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती है। इनमें मात्र कुछ सूचनाएँ तो हैं; किंतु इस संस्करण का संपादन किस प्रविधि से कैसे किया गया है और उनके अनुसार इस संस्करण को कैसे पढ़ा व समझा जाए?-- ऐसी कोई जानकारी इसमें नहीं मिलती है।

इस विषय में बिडंबना की बात तो यह है

कि 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी सुप्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्था ने अपनी ओर से इस विषय में प्रमाद का परिचय दिया है। इसके इस प्रथम-संस्करण के जिन दो संपादकों (पं. कैलाश चंद्र शास्त्री एवं डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन) का उल्लेख इसके प्रिंटलाइन-पृष्ठ पर अंकित है, वे इसके प्रकाशन-वर्ष (2018) से दशकों पहले दिवंगत हो चुके हैं। फिर भी उनके नाम संपादक के रूप में प्रकाशित किये गये हैं। तब इस संस्था की ओर से सम्पादन का दायित्व किसने निर्वहित किया होगा?-- यह विचार एक कष्ट-कल्पना ही है।

एक अन्य रोचक-बात यह भी है कि प्राकृतभाषा में निबद्ध-ग्रंथ के इस संस्करण के संपादनार्थ प्राकृतभाषा का विशेषज्ञ-विद्वान् संस्था के संपादक-मंडल में होना चाहिए था। उसका नितांत-अभाव होने से इस ग्रंथ के भाषिक-स्वरूप का निर्धारण तक नहीं किया गया है; जबकि इसे प्राकृतभाषा का व्यावहारिक व सैद्धांतिक-ज्ञानभूत-मनीषी ही संपादन की दृष्टि से समीक्षित कर सकता था।

सुयोग से पहले भारतीय ज्ञानपीठ के संपादक-मंडल में डॉ. ए.एन. उपाध्ये जैसे प्राकृत-मनीषी थे, तब इसके प्राकृतभाषायी प्रकाशनों में पाठों के संपादित-स्वरूप की गुणवत्ता अलग ही होती थी।

परंतु आज वह बात कहाँ? क्योंकि सिद्धहस्त प्राकृत-मनीषी-संपादकों का आज यदि 'भारतीय ज्ञानपीठ' में प्रवेश होता, तो इस संस्करण में ऐसी संपादकीय-बिडंबनाएँ दृष्टिगत नहीं होतीं। यही स्थिति इसके विषयगत एवं इतिहासगत-पक्षों की भी है।

इतना ही नहीं, इसमें प्रूफ-संशोधन के सामान्य-मानकों का अनुपालन भी इस संस्था की गरिमा के अनुरूप बिलकुल नहीं हो सका है, अन्यथा पंक्ति के अंत में 'ध' वर्ण का कटना एवं समस्त-पदों को हाईफन तक लगाये बिना अलग-अलग प्रकाशित करना जैसे संपादन-मानकों की उपेक्षा की स्थिति नहीं बनती, जैसी कि इस संस्करण में है।

साथ ही, इसके 'प्रकाशकीय' का लेखक कोई व्यक्ति न होकर पद (प्रकाशक) है, तो किससे पूछा जाए कि यह किसने लिखा है? इस संस्था की गरिमा के अनुरूप इसमें कोई प्ररूपण ही नहीं है। मात्र संपादक के अतिरेकपूर्ण-वंदन एवं ग्रंथ की विषय-वस्तु के बारे में औपचारिक-कथन के, जो कि तथ्यों से पूरी तरह से मेल तक नहीं खाते हैं। यह किसी सामान्य-लेखक से लिखवाया प्रतीत होता है, जबकि पहले 'भारतीय ज्ञानपीठ' के प्रकाशनों में 'प्रकाशकीय' स्तंभ की सामग्री संक्षिप्त होते हुए भी तथ्यात्मक एवं स्तरीय ही होती थी।

'जोणिपाहुड' ग्रंथ के विषय में पूर्व-प्रकाशित तथ्य :--

इस संस्करण की 'प्रस्तावना' में विद्वान्-संपादक ने इस ग्रंथ (जोणिपाहुड) के बारे में स्पष्ट लिखा है कि ''प्राकृत-साहित्य के इतिहास को भी इसकी जानकारी नहीं थी। यही कारण है कि इसकी चर्चा या नामोल्लेख तक किसी ने नहीं किया है।'' जबकि अनेकों इतिहासकारों एवं संशोधकों ने बहुत-दशकों पहले से इसके विषय में अपनी कृतियों में उल्लेख किया है। कुछ तथ्य द्रष्टव्य हैं--

(क) 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश', भाग 1, पृष्ठ 340 पर लिखा है कि जोणिपाहुड ग्रंथ सन् 43 ई. में आचार्य धरसेन की निधि मानी गयी है, जो कि मंत्र-तंत्र विषयक है और प्राकृतभाषा में निबद्ध है।

(ख) 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश', भाग 2, पृष्ठ 345 पर उल्लिखित है कि जोणी पाहुड आ. धरसेन (वी. नि. सं. 600) कृत मंत्र-तंत्र-विषयक ग्रंथ है।

(ग) 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2' , पृष्ठ 71 पर उल्लिखित है कि ''आचार्य धरसेन की एकमात्र-कृति 'योनिपाहुड' है, जिसमें मंत्र-तंत्रादि शक्तियों का वर्णन है।''

(घ) 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, खण्ड 2' , पृष्ठ 45 से 49 तक आचार्य धरसेन के विषय में विवेचन है। इसी के अंतर्गत आया है कि ''धरसेन के एक 'जोणिपाहुड' ग्रंथ का उल्लेख 'बृहट्टिप्पणि' नामक सूची में आया है।... इसकी पांडुलिपि 'भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना' में है। इस प्रति में ग्रंथ का नाम तो 'योनिप्राभृत' ही लिखा है, किंतु कर्त्ता का नाम 'पण्हसवण' मुनि बताया गया है।.... 'प्रज्ञाश्रमणत्व' एक ऋद्धि का नाम है। संभवतया धरसेनाचार्य इस ऋद्धि के धारी थे, अतएव उन्हें 'प्रज्ञाश्रमण' कहा गया है। 'षट्खंडागम-सूत्र' में प्रज्ञाश्रमणों को नमस्कार किया गया है-- ''णमो पण्णसमणाणं'' -- (वेदनाखंड, 4/1/18)।.... इस 'योनिप्राभृत' का निर्देश 'धवलाटीका' में भी प्राप्त होता है-- ''जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वा''।

यहाँ यह कथन ध्यातव्य है कि इस कथन में आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'जोणिपाहुड' ग्रंथ की विषय-वस्तु मात्र मंत्र-तंत्र की शक्तियों तक सीमित बताया है, उसमें 'औषधिविज्ञान' या 'आयुर्वेद' का कोई संकेत तक नहीं दिया गया है। जबकि प्रस्तुत-संस्करण की विषय वस्तु आयुर्वेद से ही शुरू होती है। इस कारण से इस संस्करण के आचार्य धरसेन या पण्हसमण द्वारा रचित 'जोणिपाहुड' होने की बात संदिग्ध हो जाती है।

(ङ) 'वीरशासन के प्रभावक - आचार्य' नामक 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित-पुस्तक में पृष्ठ 21 पर उल्लिखित है कि ''सौराष्ट्र-प्रदेश में 'गिरिनगर' (वर्तमान जूनागढ़) के समीप 'चन्द्रगुफा' में आचार्य धरसेन का निवास था। वे 'निमित्तशास्त्र' में पारंगत थे। 'मंत्र-शास्त्र' पर उन्होंने 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नहीं हो सका है।''

रोचक-बात यह है कि उक्त पाँच-पुस्तकों में से तीन-पुस्तकें 'भारतीय ज्ञानपीठ' से ही प्रकाशित हैं। तब इतने अनुभवी-संपादक-युगल का यह कथन कि ''प्राकृत-साहित्य के इतिहास को भी इसकी जानकारी नहीं थी। यही कारण है कि इसकी चर्चा या नामोल्लेख तक किसी ने नहीं किया है।''-- यह कितनी गंभीरता से ग्रहण किया जाए?-- सुधीजन इसका निर्णय स्वयं कर सकते हैं। क्योंकि संपादक-युगल विगत कई

दशकों से 'भारतीय ज्ञानपीठ' से संबद्ध हैं और इनकी अनेकों कृतियाँ इस संस्थान से प्रकाशित हो चुकीं हैं।

इस संस्करण में प्रयुक्त 'नामकरण' की समीक्षाः

प्रस्तुत-संस्करण में इस ग्रंथ का नाम 'जोणी पाहुड'- इस तरह प्रकाशित किया गया है। जबकि भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह आदर्श-प्रयोग नहीं है। क्योंकि 'जोणी' और 'पाहुड'- ऐसे दो स्वतंत्र-पद न होकर 'जोणिपाहुड'- यह एक समस्तपद है। समस्तपद होने पर 'जोणि' शब्द में स्वतः ही विभक्ति-लोप हो जाने पर यह शब्द अपने मूलरूप में ह्रस्व-इकारांत प्रयुक्त होकर सम्मिलितरूप में आना चाहिए, न कि स्वतंत्र-पद के रूप में दीर्घ-ईकारांत। और 'जोणिपाहुडं'- ऐसा विभक्त्यंत-पद के रूप में इसका प्रयोग होगा, न कि 'पाहुड' शब्द के रूप में। 'समयपाहुडं, कम्मपयडिपाहुडं, कसायपाहुडं' आदि प्रयोग इसके समांतर देखे जा सकते हैं।

यहाँ ग्रंथ के नामकरण में प्रयुक्त 'जोणी' पद प्रथमैकवचनांत होने से स्वतंत्र-पद बन गया है, इसका पाहुड-पद से 'द्वंद्व-समास' के अलावा अन्य कोई समास संभव नहीं रह जाता है; इस तरह यह जोणी पद पाहुड-पद के साथ समानरूप से प्रधान हो जाएगा। जबकि 'पाहुड' में तो कोई विभक्ति-चिह्न ही नहीं है, तो लिंग-वचन का निर्णय कैसे जाना जा सकता है? अतः व्याकरणिक-दृष्टि से यह नामकरण निर्दुष्ट नहीं है।

भाषिकी-समीक्षा :-

पूरी 'प्रस्तावना' बारीकी से पढ़ने के बाद भी कहीं भी यह स्पष्ट-उल्लेख नहीं मिलता है कि इस ग्रंथ की माध्यम-भाषा क्या है? इसमें उल्लेख मात्र इतना है कि ''यह ग्रंथ प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में निबद्ध है''। प्राकृत-भाषाओं के अनेक रूप हैं, उनमें से किस प्राकृतभाषा में यह ग्रंथ निबद्ध है?-- इसका कोई संकेत तक नहीं मिलता है। जबकि आचार्य धरसेन के द्वारा उपदिष्ट प्रसिद्ध ग्रंथ 'छक्खमडागमसुत्तं' 'शौरसेनी-प्राकृतभाषा' में निबद्ध है, अतः यह भ्रम हो सकता है कि यह ग्रंथ भी इसी प्राकृतभाषा में निबद्ध होगा। परंतु ऐसा कदापि नहीं है, क्योंकि इस ग्रंथ की भाषा 8-9वीं शताब्दी की 'महाराष्ट्री-प्राकृत' प्रतीत होती है, जिसमें 'अर्धमागधी-प्राकृत' के भी विकृत-प्रयोग मिलते हैं। वस्तुतः तो इसकी भाषा का इतना अटपटा-रूप है कि किसी भी प्राकृत का स्वरूप कहना मुश्किल है। बड़े ही अटपटे-प्रयोग इसमें हैं, जो कि किसी अनाड़ी-प्रतिलिपिकार के अज्ञान व प्रमादजन्य लेखन के कारण बने हैं। इनका विश्लेषण निम्नानुसार है--

(क) शौरसेनी प्राकृत में दो स्वरों के मध्यवती क-ग-च-ज-त-द-प-य-व वर्णों का लोप नहीं होता है। किंतु इस संस्करण में अधिकांश-स्थलों पर इन वर्णों का लोप दिखायी देता है।

यदि यह कृति 'आचार्य पुष्पदंत' एवं 'भूतबलि' के गुरु 'आचार्य धरसेन' की कृति होती, तो उनके प्रसिद्ध- ग्रंथ 'छक्खमडागमसुत्तं' की भाँति इस कृति में भी इन वर्णों के लोपवाले-रूप प्रयुक्त नहीं मिलते। किंतु ऐसे प्रयोग प्रचुरता से होते हुए भी इसे उन्हीं धरसेनाचार्य की कृति कहना/मानना इस प्रतिपादन को संदिग्ध बनाता है।

साथ ही यह स्मरणीय है कि दो स्वरों के मध्यवर्ती इन वर्णों के लोप की प्रवृत्ति 'महाराष्ट्री-प्राकृत' की है, जो कि 'शौरसेनी-प्राकृत' के युग के बाद मुख्यतः प्रचलित हुई थी। जिन-ग्रंथों में यह प्रवृत्ति पाँचवीं शताब्दी ई. के बाद ही प्रचलित हुई है, तो पहली-शताब्दी के आचार्य की कृति में यह प्रवृत्ति कैसे मानी जा सकती है?-- इस पक्ष पर विद्वान् संपादक-महोदय ने संभवतः गौर नहीं किया है; जबकि उन्होंने 'शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं साहित्य' पर स्वयं पुस्तक लिखी है, अतः वे इसकी विशेषता से सुपरिचित हैं।

साथ ही जैनों के श्वेतांबर-जैन-संप्रदाय के ग्रंथों में जिस प्राकृतभाषा का प्रयोग माना गया है, उसका नाम उन्होंने 'अर्धमागधी-प्राकृत' कहा है। इसकी मुख्य-प्रवृत्तियों में पद के आदिवती एवं संयुक्त न-वर्ण के प्रयोग को सुरक्षित रखना तथा मध्यवर्ती एवं अंतवर्ती न-वर्ण को 'ण' कारादेश हो जाता है। किंतु इस ग्रंथ में अनेकत्र न-वर्ण का प्रयोग हरस्थिति में मिलना इसके भाषिक-स्वरूप को पूर्णतः संदिग्ध बनाता है। क्योंकि यह प्रवृत्ति दिगंबर-जैन आगमों की शौरसेनी-प्राकृत में तो है ही नहीं, श्वेतांबर-जैन-संप्रदाय की 'अर्धमागधी-प्राकृत' में भी इस रूप में नहीं है।

प्राकृतभाषा के ''नो णः सर्वत्र'' नियम के अनुसार तो सर्वत्र ही न-वर्ण के स्थान पर ण-वर्ण का ही प्रयोग होना चाहिए।

तब इस भाषिक-स्वरूप का निर्धारण किये बिना इसका पाठ-संपादन किस-प्रविधि से किया गया है?-- इसका कोई संकेत तक संपादक-द्वय ने इसमें कहीं नहीं दिया है।

इतना ही नहीं, कई शब्दों, शब्दरूपों, क्रियाओं व क्रियापदों आदि का जिसरूप में व जिन अर्थों में इस संस्करण में मिलता है, वे प्रयोग उस युग की प्राकृतभाषा में प्रचलित ही नहीं थे। कुछ निदर्शन इस प्रकार द्रष्टव्य हैं--

1. *कुषुमंडी (गाथा 615), सार्वषां (गा. 34) आदि कई स्थलों में मूर्धन्य-षकार का प्रयोग प्राकृतभाषा के नियम शषोः सः का स्पष्ट-उल्लंघन है।

2. *नमिऊण (गा. 40) के अतिरिक्त पूरे ग्रंथ में हजारों की संख्या में न-वर्ण वाले प्रयोग भरे पड़े हैं, जो कि प्राकृतभाषा के नो णः सर्वत्र नियम की अवहेलना है।

3. *क्षुदूस्च्छं (गा. 34) जैसे कुछ स्थलों पर 'क्ष-वर्ण' का प्रयोग है, जो प्राकृतभाषा में नितांत-अव्यावहारिक है। वहाँ इसके स्थान पर 'क्ख/ख' वर्णों का प्रयोग किये जाने का विधान है। इसी में 'स्च्छं' जैसे भिन्न-वर्गीय-संयुक्ताक्षरों का युगपत्-प्रयोग प्राकृतभाषा में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी प्रकार गा. 37 में नहुंन्यथा पद का प्रयोग भी नितांत-अटपटा है, जो न तो प्राकृतभाषा का है और न ही संस्कृत आदि किसी भी भाषा के अनुरूप है।

4. गा. 39 में आगत *सच्छाऊ पद का मूलरूप तो संदिग्ध है ही, इसका अर्थ 'सरस, सुंदर और सार्थक' किया जाना भी आश्चर्यजनक है। यदि

'सच्छाया' पाठ माना जाता है, तो इसका अर्थ 'समीचीन-प्रतिरूप' लिया जा सकता है। किंतु एक पद के तीन-अर्थ देना, और उनमें से संभावित-अर्थ को व्यक्त करने वाला अर्थ नहीं लेना-- यह विचारणीय-पक्ष है।

5. गा. 40 में *अह्यारिसा पद का प्रयोग किया जाना भी विचित्रता को दर्शाता है। यह 'अम्हारिस' के रूप में तो संभव था, तब इसका अर्थ 'हमारे जैसा' होता। किंतु इसका अनुवादक ने 'मैंने' अर्थ किया है, वह विस्मयकारक है।

6. गा. 43 में *धम्मच्छ काम मोक्खं वाक्यांश में न तो हाईफन का प्रयोग समस्तपद दर्शाने के लिए किया गया है, न ही इनमें अलग-अलग विभक्ति-प्रयोग हैं। साथ ही 'धम्मत्थ' समीचीन-प्रयोग को 'धम्मच्छ' प्रयोग करना अपने आप में विचित्र-प्रयोग है, जो प्राकृतभाषा के अनुरूप नहीं है।

इसी गाथा में जह्मा पद का प्रयोग भी संभवतः पाठ-संपादन की असावधानी से बना है, क्योंकि प्राकृतभाषा में तो जम्हा प्रयोग बनता है, जह्मा नहीं। ऐसे प्रयोग संपादक-युगल ने इस संस्करण में अन्यत्र भी किये हैं, जबकि इसके समांतर तम्हा शब्द को ठीक लिखा गया है।

7. प्राकृत-भाषा में संयुक्त-व्यंजन से प्रारंभ होनेवाले शब्दों का प्रयोग नहीं होता है,जो संस्कृत के ऐसे शब्द हैं, उन्हें प्राकृत में प्रयोग करते समय या तो एक व्यंजन का लोप करके अथवा उनके बीच में किसी स्वर का आगम करके उन्हें असंयुक्त बनाने के उपरांत ही प्राकृतभाषा में प्रयुक्त किया जाता है। किंतु इस संस्करण में अनेकों ऐसे शब्द हैं, जो संयुक्त-व्यंजन से प्रारंभ हो रहे हैं। यथा- *प्रच्छो (गा. 309), क्काण (गा. 161)। ऐसे प्रयोग इस संस्करण में प्रचुर-परिमाण में उपलब्ध हैं।

8. *'जूसो' (गा. 160) का प्रयोग अत्यंत-विस्मयकारी है, क्योंकि अनुवादक ने इसका अर्थ आधुनिक-संदर्भ में प्रचलित 'निषेचित-रस' के रूप में 'जूस' या 'काढ़ा' ही लिया है। 'काढिउ जूसो' वाक्यांश से तो 'जूस निकालना' अभिप्राय ही व्यक्त हो रहा है, जिसे पीने से 'हिचकी' आना रुक जातीं हैं (पीऊ धारइ हिक्कं)-- ऐसा संकेत इस गाथा में निहित है। रोचक-तथ्य यह है कि ऐसे अन्य अनेकों प्रयोग इस संस्करण में विद्यमान हैं, जो इसकी भाषा के स्वरूप एवं इसकी प्राचीनता को संदिग्ध बनाते हैं।

9. हिंदी-भाषा में 'ड़' वर्ण की स्वतंत्र-मान्यता है। किंतु संस्कृत एवं प्राकृत-भाषाओं में ऐसे 'ड' वर्ण के नीचे नुक्ते के प्रयोग (ड़) कभी भी प्रचलित नहीं रहे हैं। इस तथ्य से इस संस्करण के संपादकगण सुपरिचित हैं। तथापि इस संस्करण में अनेकत्र ऐसे नुक्तेवाले प्रयोग प्रकाशित हैं। जैसे कि 'गुड़' (गा. 145), 'गुड़ियाच्छ' (गा. 148) आदि अनेकों और भी प्रयोग मिलते हैं। किंतु संपादकों ने इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं की है-- यह आश्चर्य का विषय है।

10. प्राकृतभाषा का एक सामान्य-नियम यह भी है कि इसमें यदि किसी दीर्घ-स्वर के बाद किसी संयुक्त-व्यंजनवर्ण का प्रयोग होता है, तो वह पूर्ववर्ती-दीर्घ-स्वर अनिवार्यतः ह्रस्व हो जाता है। किंतु इस संस्करण में ऐसे अनेकों प्रयोग मिलते हैं, जिनमें आगे संयुक्त-व्यंजनवर्ण होने पर भी पूर्ववर्ती-दीर्घ-स्वर को ह्रस्व नहीं किया गया है। जैसे कि- वीत्तरागाय (पृ. 5), धूत्तु (गा. 90), क्षुदूस्च्छं (गा. 34), चऊज्जोतक (पृ. 1) इत्यादि अनेकों ऐसे प्रयोग इस संस्करण के मूलपाठों में हैं।

11. प्राकृतभाषा में एवं संस्कृतभाषा में भी कहीं भी दक्षिण-भारतीय-भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले ळ-वर्ण का प्रयोग स्वीकृत नहीं है, फिर भी इस संस्करण की भाषा प्राकृत एवं संस्कृत कहने पर भी संपादक-द्वय ने इस संस्करण में अनेकत्र ळ-वर्ण का प्रयोग किया है। देखिए -- निलुप्पळ (गा. 147), अराणळ (गा. 149) आदि।

इस प्रकार प्राकृत-संस्कृत भाषाओं के निर्धारित-मानकों से विपरीत अनेकों प्रयोगों को इस संस्करण में स्थान देते हुए विद्वान्-संपादक-युगल ने कैसे इस ग्रंथ की आधार-भाषाओं के रूप में संस्कृत-प्राकृत को निर्धारित किया है?-- यह विचारणीय विषय है।

मूलपाठ-संपादन एवं अनुवाद की विसंगतियाँ -

1. यह किसी जैनाचार्य की संभवतः ऐसी पहली-रचना है, जिसमें 'मंगलाचरण' जैसे भारतीय सांस्कृतिक-शिष्टाचार की पूर्ण-उपेक्षा की गयी है। यहाँ तक कि प्रारंभ में विषयगत-सूचना तक इसमें नहीं है। सीधे कुछ पदार्थों के नाम से ग्रंथारंभ होना यह स्पष्ट-संकेत करता है कि या तो इसके कुछ प्रारंभिक-पृष्ठ अनुपलब्ध हैं, जिनके अभाव में यह ग्रंथ इतने बिडंबनापूर्ण-ढंग से प्रारंभ हो रहा है। -- ऐसी स्थिति में इस ग्रंथ को अधूरा माना जाना चाहिए। किंतु मनीषी-संपादक -युगल ने इस विषय में कोई उल्लेख तक नहीं किया है, जो कि आश्चर्य का विषय है।

इस प्रारंभिक तीन-पंक्तियों की सामग्री की भाषा न तो प्राकृत है, न ही संस्कृत है और न ही हिंदी। वह कबीरदास जी की तरह कुछ 'सधुक्कड़ी' वर्ग की भाषा है, जिसमें अनेकों अटपटे-प्रयोग मिलते हैं। देखिये-- 'धूत्तु' (गा. 90)।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं, जिनमें संपादकीय कार्य अवशिष्ट प्रतीत हो रहा है। जैसे कि इस अनुच्छेद में देखें--

द्राक्षा 1 पिंडीक 1 सिघालक 1 कोसल्लक 1 कपच्छ 1 कुष्मांडि 1 टिमात्रिकटुक 1 चऊज्जोतक 1 धान्यक 1 क्वथित-प्रचेत् इक्षु 144 निराम... न्नु प्रमेह वायु दुर्व्वलादि दोषहरः

इसमें कुछ शब्द संस्कृत के हैं, कुछ प्राकृत के, तो कुछ वस्तुतः कहीं पढ़े जाने या पाठ-निर्धारण में स्खलित-प्रयोगवत् हैं। संपादन की स्खलित भी है, क्योंकि किसी भी पद के बाद अल्पविराम का प्रयोग नहीं है, जो कि संपादन में यहाँ किया जाना चाहिए था।

यह छंदरूप भी नहीं है, फिर भी इसे पहला-छंद मानकर 1 क्रमांक दिया गया है। 'निरामि... न्नु' पाठ स्पष्टरूप से त्रुटित-पाठ है--- किंतु इसकी चर्चा कहीं नहीं की गयी है। 'टिमात्रिकटुक' जैसे पाठ को किस भाषा का

प्रयोग माना जाए?-- कहना कठिन है, क्योंकि विद्वान-संपादकों ने तो इस विषय में कोई उल्लेख तक नहीं किया है।

*2. इसी की गाथा 11 में निम्नानुसार पाठ दिया गया है--

सिरि पण्हसमण मुणिणा संखेवेणं च वालं।
तं तं च भव्व उवयारहेउ भणियं लहु पुप्फयं तस्स।।

इसमें पद-विन्यास की सावधानी रखी गयी होती, तो इसे इस प्रकार संपादित करके मुद्रित किया जाता--

सिरि-पण्हसमण-मुणिणा, संखेवेणं च वालं।
तं तं च भव्व-उवयार-हेउ भणियं लहु पुप्फयं तस्स।।

इसमें अनुवाद में 'लघु-पुष्पदंत' का उल्लेख भ्रामक प्रतीत हो रहा है, क्योंकि जैनाचार्य-परंपरा में आचार्य धरसेन के पूर्ववर्ती या समकालीन किन्हीं भी लघु-पुष्पदंत का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता है। तथा यदि यह 'लहु' शब्द पुप्फयं का विशेषण होता, तो 'लहु-पुप्फयं' प्रयोग होता। तब भी इसका अर्थ 'लघु-पुष्पकं' होता, 'लघु-पुष्पदंत' नहीं। मुझे प्रतीत हो रहा है कि संभवतः यह 'लहु' पद क्षिप्रतावाची अव्यय-प्रयोग है। जबकि 'पुप्फयं' किसी 'पुष्पकृत' का वाचक 'पुष्पकं' प्रयोग प्रतीत हो रहा है।-- यह एक संभावना है, निर्णय नहीं। निर्णय करने के लिये तो मूल-पांडुलिपि का बारीकी से पुनरीक्षण व पाठ-निर्धारण करना अपेक्षित होगा।

साथ ही यह छंद की दृष्टि से भी अपूर्ण-प्रयोग है, क्योंकि प्रथम-पंक्ति के द्वितीय-चरण में 18 मात्राओं की जगह मात्र 13 मात्राएँ ही हैं। इससे स्पष्ट है कि इसमें कोई पूरा-पद ही गायब है। ऐसे छंद-स्खलन के प्रयोग इस पूरे ग्रंथ में अन्य भी कई-जगहों पर हैं, जो कि श्रुतधर-आचार्यों से होने असंभव हैं। अतः इस ग्रंथ की आधारप्रति की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है।

साथ ही ग्रंथकर्त्ता-आचार्य के नाम का इस गाथा के अनुवाद में 'प्रश्र श्रमण' किया गया है, जबकि इसी की अगली गाथा में 'पण्हसमण' लिखा गया है, जो कि प्राकृत-नाम है। जिनाम्नाय के अनुसार हिंदी में इसका अनुवाद 'प्रज्ञश्रमण' होता है, जबकि प्राकृतभाषा के अनुसार इसका हिंदी-रूपांतरण 'प्रश्न-श्रमण' भी हो सकता है।

इत्यादि अनेकों बिंदु हैं, जिनके आधार पर यह संस्करण गंभीरता से समीक्षणीय है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन के मंत्रशास्त्र एवं औषधि-विज्ञान की दृष्टियों से भी यह इतने महनीय-जैनाचार्य के ग्रंथ के रूप में पूर्णतः संदिग्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जैनदर्शन के आचार-शास्त्र के विरुद्ध लहसुन आदि अभक्ष्य-पदार्थों के सेवन करने का कथन है। और दूसरों के अहित की कामनावाले मंत्रों की भी चर्चा है, जबकि जैनदर्शन प्राणीमात्र के हित की मंगलभावना से अनुप्राणित दर्शन है।

यह तो मात्र कुछ बानगियाँ हैं, इन सब बिंदुओं पर पूर्णतः विवेचन के लिए तो पर्याप्त-समय के साथ एक विशाल-शोधप्रबंध का लेखन अपेक्षित होगा।

अस्तु, इस चर्चा को इस सद्भावना के साथ यहीं विश्रांत करता हूँ कि प्रकाशन-संस्थान आगामी-संस्करण के प्रकाशन से पूर्व इस संस्करण के आधार-ग्रंथ एवं उसकी परंपरा के विषय में तथ्यात्मकरूप से व्यापक-समीक्षा करते हुए इसका वास्तविक-परिचय दिया जाने तथा इसके मूलपाठों एवं उसके अनुवादों का भाषिक एवं विषयगत-दृष्टियों से पर्याप्त-समीक्षणपूर्वक आदर्श-प्रस्तुति की जाने का नैष्ठिक-प्रयास करे।

'जोणिपाहुड' ग्रंथ की मूल विषय -वस्तु यद्यपि परंपरित-ग्रंथों में मंत्र शास्त्र-विषयक ही बतायी गयी है किंतु प्रस्तुत-संस्करण में इसकी शुरूआत ही वैद्यक-संबंधी-प्ररूपण से हो रही है। यह मननीय है कि इसमें जो वैद्यक-संबंधी औषधियों के एवं उनकी प्रयोग-विधियों के जो प्ररूपण हैं, वह भारतीय आयुर्वेदिक- चिकित्सा-पद्धति की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण-दिशाबोध देने में समर्थ सिद्ध हो सकते हैं। किंतु इस विषय में कोई आयुर्वेद का विशेषज्ञ-व्यक्ति ही अधिकृतरूप से निर्णय कर सकता है। मैं तो इस विधा का विशेषज्ञ हूँ नहीं, अतः मुझे इस विषय में अधिकृतरूप से कुछ टिप्पणी करने का अधिकार नहीं है। हाँ, यह आशा थी, कि जिन मनीषीप्रवर संपादक व अनुवादक-युगल ने इतने श्रम व निष्ठा से इसका संपादन एवं अनुवादकार्य किया है, वे यदि इस विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते, तो अवश्य गरिमावर्धक रहता क्योंकि उन्होंने तो मूलपाठ से हिंदी-अनुवाद करते समय इस विषय में प्रतिपद पूर्वापर-संबंध स्थापित करते हुए आयुर्वेद की दृष्टि से समीक्षण अवश्य ही किया होगा, अन्यथा तथ्यात्मकरूप से अनुवाद करना संभव नहीं होता। किंतु उनका पूरे संस्करण में इस विषय में मौनसाधन करना जिज्ञासु-पाठकों को प्रस्तुत ग्रंथ की आयुर्वेद-विषयक-महत्ता के अवबोध के लिए प्रयास करने एवं विशेषज्ञों की प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा करने को आतुर बनाकर रखेगा। जो भी हो, इस संस्करण की आयुर्वेद की दृष्टि से अभूतपूर्व-महत्ता सिद्ध हो सकती है। आवश्यकता है किसी समर्पित-सुधी आयुर्वेद के अनुभवी-विशेषज्ञ के द्वारा इस ग्रंथ की गंभीर-समीक्षा की, ताकि नीर-क्षीर-विवेक-विधि से इस संस्करण की उपादेयता पहिचानी एवं प्रमाणित की जा सके। ❖❖

शाश्वत शांति की शाश्वत परिकल्पना

प्रो. अभय कुमार मिश्र

संपर्क :
समीक्षक : प्रो. अभय कुमार मिश्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय के जर्मन विभाग में प्रोफेसर हैं।

अनुवादक : श्रीनिकेत कुमार मिश्र महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के अनुवाद अध्ययन विभाग में सहायक प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।

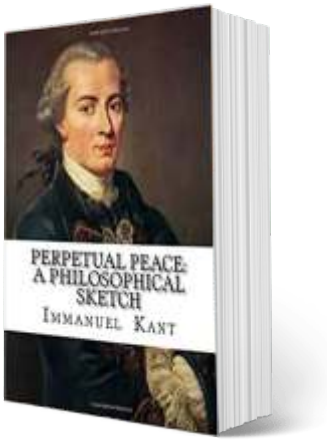

पुस्तक : पर्पेचूअल स्पीच : ए फिलसाफिकल स्केच

लेखक : इमानुएल कांट

प्रकाशक : क्रिएट स्पेस इंडिपेंडन्ट पब्लिशिंग प्लाटफॉर्म

प्रकाशन वर्ष : 2016

इमानुएल कांट (22 अप्रैल 1724–12 फरवरी 1804) प्रथम विचारक नहीं थे, जिन्होंने शाश्वत शांति की अवधारणा का प्रतिपादन किया। शाश्वत शांति का विचार सबसे पहले 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी चिंतक-विचारक शार्ल-इरेने कास्तेल द सैं पिऐर (18 फरवरी 1658 - 29 अप्रैल 1743) के लेखन में देखा जा सकता है। उन्होंने शाश्वत शांति की परिकल्पना उत्रेख्त संधि (अप्रैल 1713 -फरवरी 1715) के दौरान हुए वार्ताओं एवं कार्यों के मध्य ही किया। लेकिन कांट ने शाश्वत शांति के विचार को एक विस्तृत फलक पर प्रस्तुत किया एवं साथ ही इसे व्यापक विस्तार दिया। उन्होंने इस विचार को रूपरेखा प्रदान करते हुए इसे राजनीतिक सिद्धांत के अन्य पक्षों जैसे गणतंत्र, लोकतंत्र, संघीयता, अनुबंध, समझौता, व्यापार एवं विश्वबंधुत्व से जोड़ने का उल्लेखनीय कार्य किया। यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक होगा कि कांट की यह पुस्तक 1795 में छपी थी और इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही उनके आलोचनात्मक और नैतिक दर्शन पर कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। जब इस पुस्तक का कोनिस्बर्ग से 1795 में प्रकाशन हुआ तब कांट पहले से ही फ्रांस की राज्यक्रांति को बड़े नजदीक से देख रहे थे। कांट द्वारा इस पुस्तक के लिए फ्रांस की राज्य क्रांति जैसी ऐतिहासिक घटना के आयाम को नजरअंदाज करना असंभव रहा। एक बड़े समीक्षक-आलोचक ने सही कहा है कि 1790 के दौरान फ्रांसीसी राज्यक्रांति और इसके परिणाम के बाद कांट की रुचि राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार में तीव्र हो गई।

यह पुस्तक कांट के भाषाई परिष्कार एवं दक्षता, मानवजाति का इतिहास-बोध और मनुष्य की राजनैतिक आवश्यकताओं की गहरी समझ को बेहद संजीदगी से प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक का पाठक विश्व की भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु को लेकर कांट की समझ को देखकर चमत्कृत हो सकता है और यह पुस्तक हमारे अंतःकरण में कांट की एक नवीन छवि प्रस्तुत करती है। जैसा कि एक महान विद्वान से अपेक्षित होता है, जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक ने इस पुस्तक को निम्नानुसार प्रस्तुत किया है:

प्रथम खंड
द्वितीय खंड
शाश्वत शांति के लिए पहला लेख
शाश्वत शांति के लिए दूसरा लेख
शाश्वत शांति के लिए तीसरा लेख
प्रथम परिपूरक
द्वितीय परिपूरक
परिशिष्ट
पाद-टिप्पणियाँ

इस लेख में कांट के प्रस्थान की बात उनके इस दावे में निहित है कि मानव के लिए शांति की स्थिति किसी भी तरह से प्राकृतिक स्थिति नहीं है। अतः शांति एक ऐसी अवधारणा है जिसे अवश्य स्थापित करना चाहिए। कांट ने स्थापना शब्द पर विशेष बल दिया है अर्थात शांति का आधार इसी में निहित है। इस पुस्तक में कांट के विचार स्पष्ट परिलक्षित-प्रतिबिंबित होते हैं कि किस प्रकार शांति को स्थापित एवं विभूषित किया जा सकता है। इस दिशा में उनका पहला प्रयास उनके प्रथम लेख में दीखता है, जहाँ वे घोषणा करते हैं कि प्रत्येक राज्य में बुर्जुआ संविधान गणतंत्रात्मक होना चाहिए। वे लोकतांत्रिक व्यवस्था से अधिक गणतंत्रीय व्यवस्था में विश्वास करते हैं तथा वे इसे स्पष्ट करते हुए गणतंत्रीय प्रणाली के संवैधानिक सिद्धांतों के रूप में तीन प्रमुख मूल्यों को रेखांकित करते हैं, जिनमें से प्रमुख हैं :

क. (मानव के रूप में) स्वतंत्रता
ख. (वैधानिक तंत्र पर) निर्भरता
ग. (राज्य के सभी नागरिकों में) समानता

हम इसकी तुलना फ्रांसीसी राज्यक्रांति से कर सकते हैं। फ्रांस की राज्य क्रांति ने भी तीन आदर्शों को स्थापित किया था :

क. स्वतंत्रता
ख. समानता
ग. बंधुत्व

एक गहन दृष्टिवान और सचेत अध्येता ने इस पुस्तक में उल्लिखित विचारों और उनके संयोजन को फ्रांस की राज्यक्रांति की घटना से जोड़ कर देख सकता है एवं इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार कर सकता है।

कांट संधि या समझौते को शाश्वत शांति स्थापित करने के लिए अनिवार्य मानते हैं। वे संधि को विशेष रूप से अर्ह मानते हैं। इसी संदर्भ में, वे 'शांति का संघ' और 'शांति-समझौता' के बीच अंतर को स्पष्ट करते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि 'शांति-समझौते' से केवल युद्ध की समाप्ति हो सकती है, जबकि 'शांति का संघ' युद्ध की संभावना को समाप्त कर देता है। अतः सभी परिस्थियों में 'शांति का संघ' ही वांछनीय है। परिसंघ को कुछ लोग आशावान दृष्टि से देख सकते हैं जिससे विश्वजनीन राज्य का उद्भव हो सकता है। कांट एक विश्वजनीन राज्य का उल्लेख करते हैं, जो तभी मूर्त रूप लेगा जब राज्य अपनी पाशविक स्वतंत्रता को कम करने के लिए तैयार होंगे और विश्व के लोगों के लिए एक विश्वजनीन राज्य के गठन का मार्ग प्रशस्त करने वाले सार्वजनिक नियमों पर सहमत होंगे।

कांट का शाश्वत शांति का विचार ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अनुप्रेरित है। इस विचार को उन्होंने तब व्यक्त किया, जब वे 'दर्शनाधिकार' और 'आतिथ्याधिकार' की धारणाओं को विस्तार देते हैं। दोनों धारणाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं; 'दर्शनाधिकार' से यहाँ सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जो किसी के दर्शन हेतु दौरा करता है और दूसरा 'आतिथ्याधिकार' से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो अतिथि के आतिथ्य की व्यवस्था करता है। कांट स्पष्ट रूप से दौरे के विश्वजनीन अर्थों में लिए जाने से होने वाली सुविधाओं को देखते हैं और वे इसे विश्व के प्रत्येक मनुष्य के लिए एक अधिकार मानते हैं। 'यात्रा करने के अधिकार' और 'आतिथ्य' के मध्य एक सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि वे एक-दूसरे से अलग न हों और एक-दूसरे से दूर न हों। ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान के संदर्भ में जो किया उस पर कांट अपना शोक एवं क्षोभ व्यक्त करते हैं।

पहले परिपूरक में, कांट मानव के बीच शांति के लिए संवर्धन और पोषण में प्रकृति और व्यापार की भूमिका पर गहन विचार करते हैं। कांट के लिए, यह उन चीजों के क्रम में है, जो मनुष्य को प्रकृति द्वारा विभेदित रखते हैं, दूसरे के मामलों में दखल देने से दूर रखते हैं। मानव आवास के आस-पास ही भाषा और धर्म भी गुच्छित होते हैं और और इस तरह से अपने क्षेत्रों में दूसरों के व्यापार में शामिल होने से इच्छुक रहते हैं। कांट की आदर्शवादी स्थिति उनके इस विश्वास में निहित है कि संस्कृति का विकास एक-दूसरे के प्रति घृणा से उत्पन्न संघर्षों की संभावनाओं को कम करता है। इस अर्थ में, संस्कृति शांति के लिए समझ की दिशा में एक उत्प्रेरक प्रतिनिधि अथवा घटक है। इसके अलावा, मानव मामलों को व्यापार की भावना द्वारा निर्देशित किया जाता है। यह भावना, कांट के अनुसार, आसन्न युद्ध के मामले में, यह सुनिश्चित करेगी कि शांति के लिए प्रयास जारी हैं और युद्ध की भी संभावना है। कांट का मानना है कि बड़ी वार्त्ताओं के पीछे व्यापार की यह भावना निहित रहती है।

दूसरे परिपूरक में, कांट शाश्वत शांति के लिए गूढ़ लेख पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। शाश्वत शांति के लिए गूढ़ लेख उस विशेष सुविधा में निहित है जो राज्य दार्शनिकों को देगा। कांट दार्शनिक के राजा बनने के विचार का समर्थन नहीं करते हैं, क्योंकि सत्ता के निर्वद्रन में दर्शन अव्यवस्थित रहेगा। हालाँकि, कांट का मानना है कि राज्य के लिए पूर्व एवं अपरिहार्य शर्त है कि यह दार्शनिकों को स्वतंत्रता के साथ बोलने की अनुमति दे। यही नहीं, राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह दार्शनिकों के ज्ञान-विस्तार और दूरंदेशी पर विशेष ध्यान दे। कांट के लिए, जो राज्य शाश्वत शांति के लिए प्रयास करेगा, वह मानव-प्रज्ञा का अथक प्रवर्तक होगा।

परिशिष्ट को कांट ने काफी लंबा लिखा है, वे इसमें राजनीति और नैतिकता के बीच अंतर्संबंधों पर चर्चा करते हैं। वे 'नैतिक राजनेता' और 'राजनीतिक नीतिज्ञ' के बीच एक सूक्ष्म अंतर को रेखांकित करते हैं तथा वे 'नैतिक राजनेता' का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार एक 'नैतिक राजनेता' शासन-कला की अंतरसमझ एवं सिद्धांतों के बीच इस तरह से सामंजस्य स्थापित करता है कि यह नैतिकता के साथ पूर्ण सामंजस्य में मौजूद हो सकता है। दूसरी ओर, 'राजनीतिकनीतिज्ञ' नैतिकता को नये-नये विकल्पों को प्रस्तुत करेगा जिससे नैतिकता को राजनेता के फायदे के लिए प्रचारित किया जा सके। संवैधानिक संकट या राज्य के कार्य में व्यवधान की स्थिति में, एक 'नैतिक राजनेता' स्वयं को आगे करता है और उस परिस्थिति में कुशल नेतृत्व करता है। वह तब तक चैन से नहीं बैठेगा जब तक कि नुकसान का निवारण नहीं किया जाता और स्थितियाँ फिर से सामान्य न हो जाएँ। कांट की दृष्टि में इसी तरह के 'नैतिक राजनीतिज्ञ' को शाश्वत शांति को स्थापित करने का पुण्य कार्य सौंपा गया है। कांट पुस्तक के अंत में यह कहते हुए आश्वस्त करते हैं कि शाश्वत शांति को साकार करना एक नैतिक कार्य है, यह केवल विचार मात्र नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक हमें अपने समकालीन व्यवस्था पर विचार करने के लिए प्रेरित करती है। कांट के अनुसार संस्कृति के विकास से हम भाषा और धर्म के आधार पर उत्पन्न आपसी द्वेष को खत्म कर सकते हैं। शाश्वत-शांति के लिए इस पर चिंतन-मनन करना अभी भी आवश्यक है। यह पुस्तक, एक अर्थ में, संस्कृति और शांति के विचार के बीच अंतर्संबंध के मुद्दे पर विचार-विमर्श विनिमय के लिए एक कुंजी भी है। ❖❖

वैदिक सूक्तों से झरती कथा

डॉ. रमाकान्त राय

संपर्क :
डॉ रमाकान्त राय,
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी राजकीय
महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय
इटावा, उ.प्र. पिन-206001
संपर्क-9838952426
ईमेलः royramakantrk@gmail.com

पुस्तक : कथा शकुंतला की
लेखक : राधावल्लभ त्रिपाठी
प्रकाशक : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : प्रथम, 2020
मूल्य : 150 रु.

शकुंतला की कथा महाभारत के आदि पर्व में उपाख्यान के रूप में है और उस कथा का आधार लेकर संस्कृत के महान नाटककर और कवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतलम् नामक विश्व-प्रसिद्ध नाटक लिखा है। पद्मपुराण और अन्य दूसरे प्राचीन ग्रंथों में भी यह कथा मिलती है। महाभारत में इस उपाख्यान में शकुंतला एक तेजस्विनी नारी के रूप में है और स्वतंत्र चेतना संपन्न, दुष्यंत को आयीना दिखाने वाली पात्र है- वह दुष्यंत के पुंश्चली कहने पर अपना तीव्र आक्रोश प्रकट करती है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम में दुष्यंत का नाम दुष्यन्त लिखा मिलता है और यही प्रचलित हो गया है किंतु महाभारत में दुष्यंत अंकित है और नाटककर ने उसी प्राचीन नाम को लिया है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतलम में दुष्यन्त का चरित्र मर्यादा के अनुकूल कर दिया है और शाप का प्रसंग जोड़कर उसे अधिक मानवीय बनाया है। आश्रम का प्रसंग कालिदास के यहाँ अत्यंत काव्यात्मक और पारिवारिक तरीके से चित्रित हुआ है, विशेषकर दुष्यन्त अथवा दुष्यंत का मृगया प्रकरण में महर्षि कण्व के आश्रम में आना और शकुंतला का रूप चित्रण तथा कण्व द्वारा पुत्री की विदाई का प्रसंग। भारतीय जनमानस में कालिदास की शकुंतला और 'दुष्यन्त' का चरित्र ही अधिक रच-बस गया है। शकुंतला और दुष्यंत की इस कथा को आधार बनाकर निरंतर साहित्य की सर्जना चलती रही है, ऐसे में राधावल्लभ त्रिपाठी कृत नाटक- 'कथा शकुंतला की' के समक्ष एक चुनौती थी कि वह अपने आप को विशिष्ट कैसे बनाये?

राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'कथा शकुंतला की' की आधारभूमि महाभारत से भी किंचित पीछे जाकर वैदिक काल से बनाई है और तत्कालीन आदिम भावबोध से युक्त नयी संकल्पना की है। अपने नाटक में वह संकेत करते हैं कि जो इतिहास या 'काव्य' हमारे समक्ष है, वह वस्तुतः स्क्रिपटेड है और यथार्थ से भिन्न। नाटक में वैतालिक ऐसे ही काव्यकार हैं जो यत्र-तत्र बताते रहते हैं कि वह कथा को किस रूप में जनता के बीच प्रस्तुत कर रहे हैं। छठे अंक में एक वैतालिक वसुमती (दुष्यंत की पत्नी) की इस आशंका पर कि 'प्रजा के बीच तो अपकीर्ति हो ही गयी है'; कहता है- "आप चिंता न करें महारानी.... इस कथा को हम जनता के बीच महाराज की एक विजय यात्रा के रूप में ही प्रचारित कर रहे हैं... बस इसमें प्रेम कथा भी जुड़ गयी है"। यह वही वैतालिक हैं जो दुष्यंत के पराजय और शकुंतला द्वारा बंदी बनाये जाने के समाचार को 'महाराज... आश्रम की मृगनयना सुंदरी शकुंतला के प्रेमपाश में बंदी हो गये... उसके रूप पर आसक्त होकर वे वहाँ से हटने का नाम न लें' की तरह

प्रस्तुत करने की योजना ले आते हैं। सेनापति इस योजना से सहमत तो है किंतु अतिशयोक्ति होने पर कहता है- "बस, बस और ज्यादा बात का बतंगड़ बनाने की भी आवश्यकता नहीं"। आशय यह कि शकुंतला और दुष्यंत की कथा को तत्कालीन काल-बोध और परिस्थितियों के हिसाब से देखें तो इसका स्वरूप कुछ भिन्न ही निखर कर आएगा, जैसी कि संकल्पना इस नाटक में हुई है।

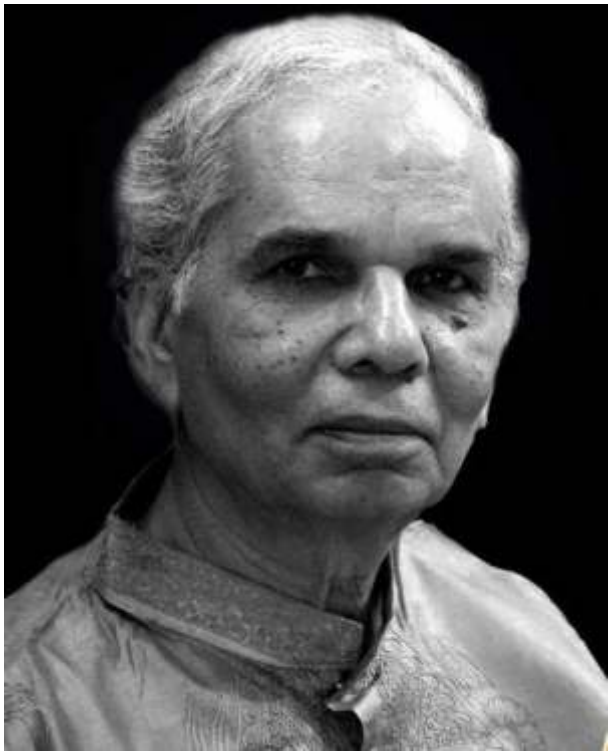

वैदिककालीन काल-बोध को प्रामाणिक रूप देने के लिए नाटक में दुष्यन्त का वैदिककालीन और महाभारत में आया नाम 'दुष्यंत' रखा गया है। नाटक में शकुंतला मातृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रतिनिधि चरित्र है जो विश्पला की उत्तराधिकारी बनती है। विश्पला वनग्राम की मुखिया है और वन्य जीवन में रची-बसी है। वह महान योद्धा रह चुकी है, जीव जंतुओं, पेड़ पौधों की भाषा से परिचित है और देवी अरण्यानी की संरक्षक है। विश्पला मेनका और विश्वामित्र की संतान शकुंतला के देख-रेख का भार कण्व पर सौंपती है- इसलिए कि कण्व जीव-वत्सल हैं। शकुंतला अरण्यानी की बेटी है और उसकी रक्षा में सर्वथा सक्षम। उसने अरण्यानी की संरक्षा के लिए जैसी व्यवस्था की है कि दुष्यंत उसके व्यूह में फँस जाता है और उसकी विशाल सेना असहाय बन जाती है। यह मातृसत्तात्मक समाज की एक विशेषता के रूप में भी चिह्नित की गयी है कि अपने जीवन साथी का चयन युवती के स्वविवेक से जुड़ा हुआ है। नाटक में दुष्यंत शकुंतला से गांधर्व विवाह का प्रस्ताव रखता है जिसे शकुंतला अपनी शर्तों पर स्वीकार करती है। वनग्राम की रीति है कि विवाह के बाद 'लड़की के साथ दुल्हा आता है'। और 'संतान तो स्त्री जिस समाज से आयी है, उसका अंग है- वह इसके समाज में पलेगी'। मातृसत्तात्मक समाज की व्यवस्था के अनुकूल यह संरचना सर्वथा उचित भी है और गरिमापूर्ण भी।

नाटक में शकुंतला के पुत्र सर्वदमन में पिता की छत्रछाया से दूर रहने पर जैसी कुंठा और उदंडता आ जाती है, उसका भी संकेत कर दिया गया है और यह बहुत मनोवैज्ञानिक कारण भी है, जिसे वनग्राम के समस्त निवासी परिलक्षित करते हैं। इसलिए कण्व जब शकुंतला की विदाई का प्रसंग छेड़ते हैं तो उनकी चिंता में सर्वदमन भी है- "वह कुछ समय से उग्र होता जा रहा है, हम लोगों से मुँह छिपाकर वन में कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है.. मुझे लगता है कि माँ की चिंता उसे भीतर ही भीतर से खरोचती रहती है... मन में कोई रोष भर गया है उसके.." शकुंतला का दुष्यंत के यहाँ जाने का यह आधार सहज और स्वाभाविक है। फिर कण्व मानते हैं कि उसे एक "बड़ी भूमिका निभाने के लिए वहाँ रहना होगा"। वह बड़ी भूमिका क्या है? संभवतः अरण्यानी देवी की रक्षा। क्योंकि सभ्यता संघर्ष में अब वनग्राम को हस्तिनापुर के प्रपंच से बचाये रखने के लिए यही तरीका शेष रह गया है।

पारंपरिक कथा के अनुरूप इस नाटक में भी दुष्यंत शकुंतला को अस्वीकार कर देता है। शकुंतला उसे बहुविध समझाती है किंतु दुष्यंत 'मनगढ़ंत कथा कपोलकल्पना' कहकर उसका प्रत्याख्यान करता है, अपने मंत्री विकर्ण पर षड्यंत्र करने के आरोप का समर्थन करता है। यह विकट स्थिति है। तब अपनी माँ के अपमान से क्षुब्ध सर्वदमन आगे बढ़कर दुष्यंत को द्वंद्व युद्ध के लिए आमंत्रित करता है- दुष्यंत आसन्न संकट को भाँपकर क्षमा-याचना करता है और कहता है कि वह परीक्षा ले रहा था ताकि "ये लोग भी जान लें कि पुरुवंश का रक्त कितना तेजस्वी है..."। शकुंतला और सर्वदमन को अपनाने का यह ढंग भी अधिक स्वाभाविक है।

'कथा शकुंतला की' नाटक आठ अंकों का है। प्रथम अंक में शकुंतला के जन्म का प्रसंग है और तीसरे अंक में दुष्यंत से संघर्ष तथा परिचय का। नाटक का कार्य स्थल वनग्राम भी है और राजसभा भी। आठ अंकों में फैले इस नाटक में सादगी और भव्यता दोनों के लिए अवकाश है। जगह-जगह पर दिये गये रंग-संकेतों से इस नाटक के मंचन की परिकल्पना में सहायता मिल सकती है, तथापि इसके मंचन में निर्देशक को पर्याप्त श्रम करना पड़ेगा। आधुनिक हो रहे रंगमंच की दुनिया में वन्य जीवों, वनग्राम आदि को रंगमंच पर सज्जित करना किंचित कल्पनाप्रवणता की अपेक्षा रखता है। विशेषकर तब जब शकुंतला हरिण शावक के साथ दिखती है अथवा

सर्वदमन सिंहशावक को लेकर परिक्रमा करता है और उसके दाँत गिनने का उपक्रम करता है। राजा द्वारा नदी में स्नान का प्रसंग भी यथार्थ रूप में चित्रित करने में आधुनिक तकनीक की आवश्यकता होगी। कथा शकुंतला की कथा चूँकि विख्यात है, इसका काल-विस्तार भी दीर्घ है इसलिए इस नाटक में काल की निरंतरता को बनाये रखने के लिए रंग-प्रसंग की व्यवस्था करनी पड़ेगी। राधावल्लभ त्रिपाठी को यह दायित्व निर्देशक के हाथों नहीं सौंपना चाहिए था, क्योंकि इस मामले में भी वह सर्वथा न्याय कर सकते थे। वनग्राम के पात्र इस कड़ी को एक गीत मात्र से भी आबद्ध कर सकते थे।

इस नाटक में पारंपरिक नाट्यशास्त्र के अनुरूप विदूषक भी रखे गये हैं और राज्याश्रय प्राप्त कवि 'वैतालिक' भी लगभग उसी भूमिका में हैं। हालाँकि उत्कृष्ट हास्य की सर्जना का अभाव दिखता है।

राधावल्लभ त्रिपाठी संस्कृत साहित्य के प्रकांड विद्वान हैं। उन्होंने कथा शकुंतला को सृजित करते हुए वैदिक कालीन सूक्तों से इतिहास के कतिपय सूत्र निःसृत करने का प्रयास इस नाटक में किया है। देवी अरण्यानी इसी तरह का एक सूत्र है जो नाटक में उपस्थित पात्र के रूप में नहीं है किंतु सर्वत्र व्याप्त है। राधावल्लभ त्रिपाठी ने वैदिक काल में चिकित्सा की उन्नत स्थिति की तरफ भी संकेत किया है और अश्विनी कुमारों द्वारा लोहे की टाँग लगाये जाने का प्रसंग सायास संदर्भित किया है। उन्होंने अकाल, भूख और दुर्भिक्ष की चर्चा भी की है जिससे नाटक में वर्णित कथा की विश्वसनीयता में वृद्धि हुई है।

भाषा का सहज प्रवाह इस नाटक को काव्यात्मक बना देता है। इसमें यथास्थान जो विविधता है- सांस्कृत से देसज तक, वह विशिष्ट है। एकाध स्थान पर बहुत हल्की-फुलकी गालियाँ तक प्रयुक्त हुई हैं तो एक स्थान पर- 'त्वरा कर त्वरा कर' जैसा प्रयोग खटकने वाला भी है किंतु ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं। इसमें आये गीत इस नाटक की प्रस्तुति को बहुत मोहक बना देने की क्षमता रखते हैं। प्रतीक्षा है- राधावल्लभ त्रिपाठी के इस नाटक के मंचन की। ❖❖

प्रकाशकों से निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एक अरसे से 'पुस्तक-वार्ता' का प्रकाशन कर रहा है। हिंदी में प्रकाशित हो रही साहित्यिक पत्रिकाओं में 'पुस्तक-वार्ता' इकलौती पत्रिका है जो कि पूर्ण रूप से पुस्तक समीक्षा विधा को समर्पित है। यह पत्रिका साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित नयी पुस्तकों की समीक्षा प्रतिष्ठित आलोचकों-समीक्षकों से करवाकर प्रकाशित करती है और उसे पाठकों तक पहुंचाने के लिए एक सेतु का काम करती है। आप सुधी प्रकाशकों और सभी लेखक बंधुओं से अपनी नई पुस्तकों की दो प्रतियां निम्न पते पर भिजवाने का अनुरोध है-

संपादक 'पुस्तक-वार्ता'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट-गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

कौशाम्बी : इतिहास का एक क्षीण-मंद राग

कुमार अनिल

संपर्क :
कुमार अनिल
64-G खरैया पोखरा, बशारतपुर
गोरखपुर- 273004 (उ.प्र.)
मो. 9452212058
इ-मेल : aktripathiup@gmail.com

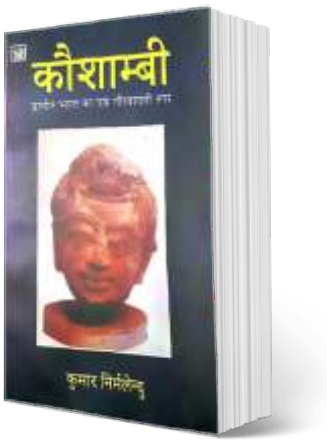

पुस्तक : कौशाम्बी
लेखक : कुमार निर्मलेन्दु
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
प्रकाशन वर्ष : 2019
मूल्य : 300 रु.

साहित्य का विद्यार्थी प्रायः एक दृष्टि पाने के लिए इतिहास का रुख करता है। कहीं पढ़-सुन भी रखा था कि इतिहास मनुष्य की पीछे की ओर देखने वाली आँख होती है। लेकिन कुमार निर्मलेन्दु की नयी पुस्तक 'कौशाम्बी : प्राचीन भारत का एक गौरवशाली नगर' हमें पीछे की ओर नहीं ले जाती, बल्कि एक प्राचीन नगर के भग्नावशेषों की ओट में छिपी अनगिन घटनाओं की तरफ एक नये नजरिये से देखने, सोचने और नये तरीके से लिखने-पढ़ने को प्रेरित करती है।

कौशाम्बी नामक यह प्राचीन नगर दरअसल प्रो. गोवर्धनराय शर्मा के नेतृत्व में इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा कराये गये पुरातात्त्विक उत्खनन से प्रकाश में आया। यह पुरास्थल पहले प्रयागराज जिले के अंतर्गत था और 1997 ई. के बाद से यह नवसृजित कौशाम्बी जिले के अंतर्गत आता है। प्राचीन भारत के उस गौरवशाली नगर के नाम के आधार पर ही इस नवसृजित जिले का नामकरण किया गया।

कुमार निर्मलेन्दु ने प्राचीन साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर कौशाम्बी का एक प्रमाणिक स्वरूप गढ़ने का प्रयास किया है। वे इस गौरवशाली नगर के बसने से लेकर उसके उजड़ने तक का वृत्तांत बहुत ही रोचक ढंग से सुनाते चलते हैं। ''वत्स देश गंगा नदी के दक्षिण में स्थित था। इसकी राजधानी कौशाम्बी को वत्सभूमि की नगरी (या पुरी या महापुरी) कहा गया है। वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी का सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' नामक एक प्राचीन वैदिक ग्रंथ में मिलता है। महाभारतोत्तर काल में गंगा की बाढ़ से त्रस्त होकर हस्तिनापुर-वासियों ने यहाँ आकर अपना उपनिवेशन किया था। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार गंगा की बाढ़ के कारण जब हस्तिनापुर नगर नष्ट हो गया, तब वहाँ के पांडव-वंशीय राजा निचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया था। उनके वंशजों ने यहाँ दीर्घकाल तक शासन किया। वत्स देश के राजाओं में उदयन बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। जैन तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की माता त्रिशाला और वत्सराज उदयन की माता मृगावती सगी बहनें थीं। इस प्रकार महावीर और उदयन मौसेरे भाई थे। इस रक्त-संबंध के कारण महावीर स्वामी को कौशाम्बी नगर से बहुत लगाव था।''

कौशाम्बी प्राचीन भारत का एक महत्त्वपूर्ण नगर है। इस प्राचीन नगर के भग्नावशेष प्रयागराज से दक्षिण-पश्चिम दिशा में लगभग 60 कि.मी. दूर यमुना के उत्तरी तट पर स्थित कोसम ग्राम में स्थित हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता अलेक्जेंडर कनिंघम ने प्राचीन कौशाम्बी नगर की पहचान कोसम नामक गाँव से की थी। प्राचीनकाल में यह एक उन्नत एवं वैभवशाली नगर था। लेकिन अब इस स्थान पर कोसम, गढ़वा, कोसम इनाम, कोसम खिराज, पाली, आम्बाकुआँ आदि छोटे-छोटे गाँव विद्यमान हैं। पुरातात्त्विक उत्खनन के अनुसार उत्तर प्रदेश के नवसृजित जिले कौशाम्बी की मंझनपुर तहसील के दो गाँवों- कोसम इनाम और कोसम खिराज के चारों ओर इस नगर का विस्तार था।

यह एक विचित्र विडंबना है कि यद्यपि यह नगर अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन आदि प्रतापी शासकों की महत्त्वाकांक्षा का केंद्र रहा है, तथापि हिंदी के लेखकों ने ऐतिहासिक तथ्यों/कथाओं को उसकी प्रामाणिकता के साथ सरस एवं रोचक शैली में प्रस्तुत करने की दिशा में अब तक कोई विशेष प्रयास नहीं किये हैं; और यदि किये भी हैं तो वे प्रयास बहुत व्यापक और गंभीर नहीं कहे जा सकते हैं।

कुमार निर्मलेन्दु साहित्य के विद्यार्थी होने के साथ ही इतिहास के गंभीर अध्येता भी हैं। वे साहित्य और इतिहास की डोर को एक साथ थामकर बहुत ही सतर्कता के साथ अपने रचनापथ पर आगे बढ़ते हैं। हमारे सामने यह

सवाल अक्सर आ खड़ा होता है कि इतिहास क्या है ? क्या परंपरा से प्राप्त उपाख्यान समूह ही इतिहास है ! या रेनियर के शब्दों में कहानी ! सांस्कृतिक विमर्श न तो कोरे इतिहास से पैदा होता है न कहानी से, इसका अभिज्ञान कदाचित लेखक को भी है। और इसलिए वह अपनी इतिहास-दृष्टि को केवल कौशाम्बी के पुरातत्त्व पर या केवल शास्त्रों/पुराणों तक सीमित नहीं रखता है; इतिहास की विच्छिन्न कड़ियों को जोड़ता हुआ वह मुगलकाल में रचित हिंदी भाषा की पहली आत्मकथात्मक कृति जैन-कवि बनारसीदास कृत 'अर्धकथानक' तक जा पहुँचता है-

खरगसेन तहाँ सुख सौं रहै। दसा विचारि कबीसुर कहै।

हि दुख दियौ नवाब किलीच। यह सुख साहिजादपुर बीच।।

इहि बिधि कीनौ मास दस साहिजादपुर बास।

फिर उठि चले प्रयागपुर बसै त्रिबेणी पास।

ऐतिहासिक तथ्य इस बात को संकेतित करते हैं कि शाहजादा आजम हुमायूँ के पुत्र इस्लाम खाँ द्वारा पिता के नाम पर बसाया गया गाँव शहजादपुर प्रयागराज से 52 कि. मी. उत्तर पश्चिम शेरशाह सूरी राजमार्ग से 3 कि.मी. उत्तर गंगा के बायें तट पर स्थित है। जौनपुर नगर के प्रशासक नवाब किलिच के अत्याचारों से त्रस्त होकर 'अर्धकथानक' के लेखक बनारसीदास के पिता को कड़ा के निकट इसी शहजादपुर गाँव में शरण लेनी पड़ी थी। नवसृजित कौशाम्बी जनपद का यह गाँव वर्तमान में एक साधारण सा गाँव प्रतीत होता है, लेकिन मध्यकाल में यह एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र हुआ करता था।

उल्लेखनीय है कि कौशाम्बी के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक विमर्श को आगे बढ़ाने में कुमार निर्मलेन्दु द्वारा लोकभाषा में रचित इस अलभ्य कृति का बेजोड़ इस्तेमाल किया गया है। प्रकारांतर से, वे

इस बात की पुष्टि करते हैं कि ऐतिहासिक स्रोत-सामग्री के रूप में तत्कालीन लोक-साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शर्त बस यही है कि चयनकर्ता 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देहि उड़ाय'।

कुमार निर्मलेन्दु अपनी इस पुस्तक में कौशाम्बी नगर के उत्थान-पतन का वर्णन भी करते हैं और उसका विश्लेषण भी। वे कहते हैं- ''ऐसा लगता है कि गुप्त-साम्राज्य के विघटन के साथ ही कौशाम्बी नगर भी धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो गया। गुप्त साम्राज्य के बाद छोटे-बड़े कई राजवंशों का प्रादुर्भाव हुआ। उन सब की नयी राजधानियाँ बनीं। नये राजधानी नगरों के उदय के कारण कौशाम्बी नगर का महत्त्व स्वाभाविक रूप से कम हो गया। इसी बीच वहाँ हूण वंश के आक्रमणकारियों का हमला हुआ। हूण बर्बर थे और अक्सर नगरों को लूटपाट कर जला देते थे। हूणों के हमलों के कारण कौशाम्बी नगर तहस-नहस हो गया। बहरहाल, 500 ई. के आसपास यह नगर कुछ समय हूण शासक तोरमाण के नियंत्रण में भी रहा। कौशाम्बी में यमुना नदी के किनारे स्थित घोशिताराम विहार के उत्खनन के दौरान प्राप्त दो मुहरों से इस बात की पुष्टि होती है। ...सातवीं सदी ई. में अपनी भारत-यात्रा के दौरान ह्वेनत्सांग कौशाम्बी आया था। लेकिन तब तक वहाँ के अधिकांश बौद्ध-विहार नष्ट हो चुके थे।''

दो चीनी धर्मयात्रियों- फाहियान और ह्वेनत्सांग- के वृत्तांतों से प्राचीन भारत के इस गौरवशाली नगर के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। चीनी धर्मयात्री फाहियान पाँचवीं शताब्दी ई. में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्यकाल में भारत आया था। कुमार निर्मलेन्दु ने लिखा है कि ''उसने 'विनय पिटक' की खोज में भारत के विभिन्न नगरों का भ्रमण किया था। लेकिन उसकी कौशाम्बी-यात्रा को लेकर संशय व्यक्त किया गया है। दरअसल, उसने अपने यात्रा-वृत्तांत में कहीं भी कौशाम्बी नगर का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है। उसने अपने यात्रा-वृत्तांत में 'दक्षिण' नामक एक जनपद का उल्लेख किया है। इस जनपद के संबंध में दिये गये विवरण कौशाम्बी के प्रतीत होते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फाहियान ने अपने वृत्तांत में यह स्पष्ट कर दिया है कि वह 'दक्षिण' नामक इस नगर में स्वयं नहीं आया था, उसने लोगों के मुख से जो सुना था उसी के आधार पर उसने इस नगर का वर्णन किया है।''

फाहियान ने अपने वृत्तांत में बुद्ध के चमत्कारों का भी उल्लेख किया है। इस विषय पर अपना सुविचारित मत प्रकट करते हुए कुमार निर्मलेन्दु लिखते हैं कि-''महात्मा बुद्ध एक महामानव होने के साथ ही एक सरल-सहज धर्म-पंथ के प्रवर्तक थे। स्वाभाविक रूप से वे मिथ्याचारों और चमत्कार-प्रदर्शनों के घोर विरोधी थे। परंतु उनके महापरिनिर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने 'मानुष बुद्ध' को 'बुद्धदेव' बना दिया। उनकी देवमूर्ति गढ़ ली और अपने धर्म-पंथ में चमत्कार-पूर्ण अनेक कथाओं का समावेश कर लिया। यहाँ बौद्धों के उड़ने संबंधी फाहियान का यह कथन बौद्ध मतानुयायियों की उसी भावना का प्रकटीकरण है।''

लेखक ने इस पुस्तक में बहुत ही तर्कपूर्ण ढंग से यह स्पष्ट किया है कि भारतीय लोक-परंपरा में राम और कृष्ण के बाद वत्स देश के राजा उदयन ही सबसे

लोकप्रिय चरितनायक हैं। लेखक के शब्दों में ''कालिदास ने अपनी कृति 'मेघदूत' में अवंति देश के उदयन-कथाकोविद ग्रामवृद्धों का उल्लेख किया है। यानी प्राचीन अवंति राज्य के ग्रामों तक में वत्सराज उदयन की कथा सुनी और सुनायी जाती थी। वत्स नरेश उदयन के संबंध में प्रचलित सुरुचिपूर्ण कथाओं से स्पष्ट है कि समकालीन भारतीय समाज पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप थी।''

कौशाम्बी के प्राचीन इतिहास के बिखरे हुए धागों को समेटने के क्रम में लेखक ने जहाँ एक ओर रामायण, महाभारत, कथासरित्सागर, हितोपदेश, स्वप्नवासवदत्तम, प्रतिज्ञायौगंधरायण, प्रियदर्शिका, रत्नावली, तापसवत्सराज आदि क्लासिक संस्कृत ग्रंथों से लेकर जयशंकर प्रसाद कृत अजातशत्रु नाटक तक को खँगाला है; तो वहीं दूसरी ओर प्रामाणिकता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने जैन एवं बौद्ध ग्रंथों का भी आश्रय लिया है। उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में यह नगर बौद्ध एवं जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था।

लेखक ने सांस्कृतिक विमर्श की चाह में इतिहास से बहुत गहरा नाता जोड़ रखा है। कौशाम्बी विषयक पुरातात्त्विक खोजों की दिशा में सर अलेक्जेंडर कनिंघम से लेकर एन. जी. मजूमदार एवं गोवर्धनराय शर्मा के महत्त्वपूर्ण प्रयासों का सम्यक रेखांकन करते हुए लेखक ने चार प्रमुख उत्खनन क्षेत्रों- अशोक स्तंभलेख, घोशिताराम विहार क्षेत्र, पूर्वी प्रवेशद्वार के पास रक्षा प्राचीर का क्षेत्र और राजप्रासाद क्षेत्र का वर्णन किया है। इसके अलावा कौशाम्बी के उत्खनन से प्राप्त हारीति, कुबेर और गजलक्ष्मी की मृण्मूतिमयाँ, यक्ष, मकर अंकित सिरदल, अलंकृत वेष्टिनी, बोधिसत्व का धड़, मनुष्य का धड़ और उसकी खुली आँत, खड़ी स्त्री, आवक्ष स्त्री, शिव-पार्वती, भैरव, शिव-शीर्ष, विष्णु की पाशाण प्रतिमा, कृपाणधारी हनुमान, सूर्यदेव और द्वारपाल की प्रतिमाओं के विश्लेषण के दौरान जब लेखक प्रथम शताब्दी ई.पू. से बारहवीं शताब्दी ई. तक का इतिहास बयाँ करता है, तब उसका यह सांस्कृतिक राग क्षीण-मंद न होकर प्रभावी एवं संष्लिष्ट बन जाता है।

फाहियान और ह्वेनत्सांग का कौशाम्बी संबंधी विवरण वहाँ के इतिहास में एक सुनहरा पन्ना जोड़ता प्रतीत होता है। मानुष बुद्ध को बुद्धदेव बना देने के बौद्ध मतानुयायियों के कृत्य पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। इससे यह स्पष्ट होता है कि लेखक को अपने रचनात्मक दायित्व का पूर्ण बोध है। वह जानता है कि ऐतिहासिक सचूना देना भर उसका दायित्व नहीं है, उसका कार्य पाठकों को यथावसर सजग करते चलना भी है। जो भी हो, पुस्तक में इतिहास के आरोहों-अवरोहों को यथासंभव स्वर देने के प्रयास संबंधी कथन सार्थक प्रतीत होता है जब वत्सदेश और उसकी राजधानी के कुषाण, मघ एवं गुप्त राजवंश से संबंधित होने के साथ ही वररुचि, जैन-तीर्थंकर पद्मप्रभ, सिद्ध तन्तेपा के साथ ही संत-कवि मलूकदास के जन्मस्थल होने का सौभाग्य समेटे होने की जानकारी पाठकों तक पहुँचती है।

श्रीराम के विश्रामस्थल के रूप में चरवा, श्रीकृष्ण व सुदामा के गुरु संदीपन ऋषि का आश्रम, शीतला माता मंदिर, कड़ाधाम, अलवारा झील आदि से भी कौशाम्बी की समृद्ध परंपरा का बोध होता है। लेखक के अनुसार उसने कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति इन सभी पहलुओं को इस पुस्तक में यथासंभव समेटने की कोशिश की है। 'यथासंभव' शब्द रूपी कवच लेखक के बड़े काम का है, अन्यथा अर्थनीति का शास्त्र 'गंधिकन' व 'नविकस' लेखयुक्त मुद्रा, गजाभिषेक लक्ष्मी ताम्र मुद्रा, श्रेणी-समूह एवं शिल्पियों के उल्लेख से बहुत ज्यादा की माँग करता है। कला के क्षेत्र में मूर्तिकला के अलावा अन्य पक्ष और विस्तार या खोज की अपेक्षा रखते हैं। साहित्य में कौशाम्बी की पड़ताल लेखक ने पूर्ण मनोयोग से की है। वे कथासरित्सागर, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगंधरायण, रत्नावली, प्रियदर्शिका, तापसवत्सराज से लेकर कालिदास से होते हुए जयशंकर प्रसाद के साहित्य तक गये हैं। कुशाम्ब, शतानीक, निचक्षु, सहस्रानीक, मृगावती से गुजरते हुए लेखक उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती, यौगन्धरायण में इस कदर मग्न होता है कि कौशाम्बी की ऐतिहासिकता के ऊपर संस्कृत नाटकों का आख्यान सर चढ़ कर बोलने लगता है। इसका संक्षेपण कर कला, राजनीति, अर्थनीति के पक्षों को और समृद्ध किया जा सकता था।

समग्रतः प्राचीन भारत के इस गौरवशाली नगर कौशाम्बी की कहानी अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी के पाठकों को संस्कृत साहित्य के मूल्यवान ग्रंथों के संदर्भों के साथ, बनारसीदास के दुष्प्राप्य 'अर्धकथानक' सहित अपनी ओर आकृष्ट करने में सक्षम है। साहित्य और इतिहास दोनों के प्रति लेखक का समान झुकाव-लगाव और श्रमपूर्वक कुछ नया करने की ललक और निष्ठा इस पुस्तक में परिलक्षित हो रही है। मेरी समझ से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी साहित्य या साहित्येतिहास में रुचि रखने वालों के अलावा शुद्ध इतिहास का विद्यार्थी भी इस पुस्तक की सहज भाषा, सरल प्रवाहमयी शैली और ऐतिहासिक तथ्यों की प्रचुरता एवं प्रामाणिकता के कारण इसे हाथों-हाथ ले सकता है। ❖❖

स्त्री अस्मिता के प्रश्न एवं भक्ति काल

प्रो. बलराज पाण्डे

संपर्क :
प्रो. बलराज पाण्डे,
हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।
मो. 9473663348

पुस्तक : स्त्री-अस्मिता और कविता का भक्तियुग
लेखक : शशिकला त्रिपाठी
प्रकाशक : अनुज्ञा बुक्स, शाहदरा, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2021
मूल्य : 760 रु.

हिंदी साहित्य के विगत चालीस वर्षों के इतिहास का यदि अध्ययन किया जाय, तो मालूम होगा कि रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों स्तरों पर कई विमर्श सामने आये हैं। सन् 1986 से पुर्नप्रकाशित 'हंस' पत्रिका के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने मुख्य रूप से स्त्री विमर्श और दलित विमर्श पर हमारा ध्यान केंद्रित किया था लेकिन जैसे-जैसे इन विमर्शों पर सकारात्मक प्रतिक्रियाएँ आने लगीं, वैसे-वैसे साहित्य प्रेमियों का ध्यान दूसरे विमर्शों पर भी गया और दलित तथा स्त्री विमर्श की तरह आदिवासी विमर्श ने भी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। लोगों के सामने यह सवाल था कि हमारे समाज में 'थर्ड जेंडर' को बहुत उपेक्षा, अपमान और अभाव में जीना पड़ता है तो फिर इसे भी विमर्श के केंद्र में क्यों न लाया जाय। इस प्रकार विमर्श का दायरा बढ़ता गया और बच्चे, बूढ़े तथा दिव्यांगों पर भी लेखकों का ध्यान गया। बेशक इन विमर्शों के साहित्य के केंद्र में आ जाने से हमारा हिंदी साहित्य बहुत समृद्ध हुआ, हमारे सोचने-समझने का दायरा विस्तृत हुआ और मानव जाति के कई दबे-छिपे प्रसंग हमारे लिए नये-नये विषय के रूप में सामने आये।

लेखिका का मानना है कि वैदिक युग में भले ही मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषी स्त्रियाँ विद्वानों से शास्त्रार्थ किया करती थीं, लेकिन उस युग में भी श्रेष्ठता पुरुष की ही थी। ऋषियों की ऋचाओं में पुत्रोत्पत्ति की कामना इसका प्रमाण है। इस प्रकार, पितृसत्ता यानी पुरुष-सत्ता की स्थापना वैदिक युग में ही हो गयी थी। रामायण-महाभारत काल में स्त्री युद्ध में भाग लेती थी लेकिन स्त्री के लिए या स्त्री के कारण युद्ध भी होता था। वास्तव में देखा जाए तो युद्ध सत्ता पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए होता था, लेकिन उसमें स्त्री की भी भूमिका अवश्य होती थी।

शशिकला त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में बौद्धों के यहाँ स्त्री की स्थिति का भी संक्षेप में वर्णन किया है। इस संदर्भ में 'थेरी गाथा' और जातक कथाओं का उल्लेख है। भारतीय संस्कृति सभ्यता के विकास में बौद्ध युग को एक महान क्रांतिकारी युग के रूप में स्वीकार किया जाता है। वैदिक काल की कई स्थापनाओं को अस्वीकार करते हुए गौतम बुद्ध ने निश्चित रूप से मनुष्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया था। 'थेरीगाथा' का अगर हम अध्ययन करें तो उसमें बुद्ध द्वारा स्थापित भिक्षुणी संघ का उल्लेख मिलता है जिसमें हर वर्ण की स्त्रियों के प्रवेश की सुविधा थी, लेकिन 'जातक कथाओं में बार-बार जो दुष्चरित्र स्त्री का उल्लेख मिलता है, इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के यहाँ भी स्त्री की स्थिति अच्छी नहीं थी। लेखिका ने अवश्य ही गौतम बुद्ध के स्त्री संबंधी विचारों का उल्लेख कुछ विस्तार से किया है। डॉ. राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश भाग-1' में लिखा है कि 'स्त्री के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण सामंती व्यवस्था के बैरागियों जैसा है। उन्होंने जेत वन में भिक्षुओं से कहा-स्त्री का रूप भिक्षुओं के पुरुष चित्त को दबोचकर बैठ जाता है।' वे स्त्री के शब्द, स्पर्श, गंध आदि से भिक्षुओं को दूर रहने का उपदेश देते हैं। पुस्तक में बुद्ध के स्त्री संबंधी नकारात्मक पक्ष का उद्घाटन कर लेखिका ने अपने विस्तृत अध्ययन का परिचय दिया है।

समीक्ष्य पुस्तक में भक्ति आंदोलन के दार्शनिक आधार की भी चर्चा की गयी है, लेकिन लेखिका ने दर्शन के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या के फेर में न पड़कर स्तुत्य कार्य किया है। यहाँ लेखिका का उद्देश्य यह दिखाना है कि

सभी दार्शनिक मत किसी-न-किसी रूप में मनुष्य की मुक्ति की समस्या का समाधान खोजना चाहते हैं। यह मुक्ति सिर्फ जीवन-मृत्यु से नहीं, बल्कि इस संसार में रहते हुए समाज द्वारा निर्मित कई प्रकार के बंधनों से भी मुक्ति है। इसमें सबसे मुख्य है-वर्णाश्रम व्यवस्था से मुक्ति। यहाँ लेखिका मनुस्मृति में वर्णित मनुष्य के ऊँच-नीच संबंधी विभाजन की खुलकर आलोचना करती हैं। लेखिका का मानना है कि भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय स्तर पर जागरण का संदेश देता है। यह संदेश मनुष्य-मनुष्य में समानता के साथ ही आपसी भाईचारे का संदेश है। यहाँ 'हाशिये के समाज' यानी सदियों से उपेक्षित शूद्र और स्त्री के महत्त्व को स्थापित करने की बात है।

पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है-'भक्ति काव्य के प्रमुख कवि और उनकी स्त्री विषयक दृष्टि।' ध्यान रहे कि शशिकला त्रिपाठी ने यहाँ भक्ति काल के कवियों की स्त्री संबंधी अवधारणा पर विचार किया है। भक्त कवियों में जायसी और सूर ने निर्विवाद रूप से स्त्री को अपनी कविता मे खूब प्रतिष्ठा दी है, लेकिन कबीर और तुलसी की स्त्री संबंधी दृष्टि पर काफी वाद-विवाद है। कबीर निश्चित रूप से सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर जमकर प्रहार करते हैं। वे तर्क के साथ समाज के नियंताओं पर सवाल खड़ा करते हैं। पंडित और मुल्ला दोनों को फटकार लगाने में कबीर जरा भी नहीं हिचकते, लेकिन जब स्त्री की बात आती है, तब उनकी सारी प्रगतिशीलता प्रश्नांकित हो जाती है। लेखिका ने कबीर द्वारा रचे गये कई दोहों को उद्धृत कर कबीर के समाज सुधारक रूप को 'पुरुष सुधारक' नाम दिया है। कबीर पतिव्रता स्त्री को ही श्रेष्ठ मानते हैं। किंतु, कबीर को स्त्री-विरोधी न मानने वाले आलोचक तर्क देते हैं कि ईश्वर-मिलन के लिए तो कबीर स्त्री-रूप को ही श्रेष्ठ ठहराते हैं। लेखिका का तर्क है कबीर का स्त्री-विरोधी स्वर उस समय के समाज में अधिक मुखर था। वे लिखती हैं कि 'तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज, धर्म परायणता और पारिवारिक नैतिकता की पाठशाला में शिक्षित होने के कारण उनमें स्त्री के प्रति संवेदनशीलता नहीं उमड़ सकी।' यहाँ हम कह सकते हैं कि उसी समाज में शिक्षित होकर कबीर जब धर्म के नाम पर किये जा रहे पाखंड पर प्रहार कर सकते हैं तो स्त्री के प्रति संवेदनशील क्यों नहीं हो सकते? निर्गुण भक्त कवियों के प्रकरण में लेखिका ने रैदास, दादूदयाल, पलटू दास आदि अनेक कवियों की स्त्री विषयक धारणा का उल्लेख किया होता तो पता चलता कि क्या कबीर के बाद के सभी स्त्री के विषय में वही सोचते हैं, जो कबीर सोचते थे या और कुछ?

पुस्तक में सूफी कवि जायसी के 'पद्मावत' में नागमती के माध्यम से स्त्री की स्थिति का बड़ा मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ स्त्री की पराधीनता का मुख्य कारण विवाह संस्था को बताया गया है। यह कैसी विडंबना है कि रत्नसेन विवाहिता नागमती का अपमान कर पद्मावती के रूप-सौंदर्य के पीछे भागता है। जायसी ने इस इतिहास प्रसिद्ध घटना का वर्णन कर तत्कालीन राजाओं की भोगवादी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है जिनके लिए स्त्री सिर्फ 'देह' थी। उस स्त्री-देह को पाने के लिए राजा और सामंत युद्ध तक कर डालते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी सभ्यता और संस्कृति में एक तरफ स्त्रियों के ज्ञान का बखान है, तो दूसरी तरफ उसे केवल भोग की वस्तु माना गया। 'पद्मावत' में स्त्री के संदर्भ में सबसे हृदयग्राही वर्णन वह है जहाँ नागमती की विदाई के समय उसके साथ ही सखियाँ या परिचारिकाएँ भी अपनी त्रासद स्थिति का बयान करती हैं। नागमती तो ब्याह कर एक राजघराने से दूसरे राजघरने में जाती है, लेकिन ये स्त्रियाँ?

''आदि पिता जो अहा हमारा, ओह नहिं
यहि दिन हिएँ बिचारा।
छोह न कीन्ह निछौहें ओहूँ,
गा हम बेंचि त्यागि एक गोहूँ।
मकु गोहूँ कर हिय बेहराना,
पै सो पिता नहिं हिए छोहा।''

निर्दयी पिता ने गेहूँ के बदले हमें राजघराने में बेच दिया। हमारी दयनीय स्थिति को देखकर गेहूँ का हृदय तो फट गया, लेकिन जन्म देने वाले पिता पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मेरी समझ से उक्त पंक्तियों में पिता की गरीबी तो दिखती है लेकिन अनाज के बदले स्त्री को बेंच देना यह विवशता के साथ ही अमानवीयता भी है जिसकी ओर जायसी संकेत करते हैं। लेखिका ने कबीर का एक बहुत मार्मिक पद उद्धृत किया है जिससे तत्कालीन स्त्री की यथार्थ स्थिति का उद्घाटन होता है-

'आयी गवनवाँ की सारी, उमिरि अबहीं मोरी बारी'-बाल विवाह की दारूण कथा विद्यापति के यहाँ भी बहुत प्रभावशाली ढंग से कही गयी है-

पिया मोर बालक, मैं तरूनी रे,
कौन तप चूक कैलों, भेलों जननी रे।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि पुरुष वर्चस्व वाली समाज व्यवस्था ने धर्म, जाति और विवाह-बंधन की बंदिशों के द्वारा स्त्री की स्वतंत्रता पर हमला किया है तथा उसे कई प्रकार के अत्याचार सहने के लिए विवश किया है।

भक्त कवियों में सूरदास एक मात्र

ऐसे कवि हैं जो स्त्री की स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। उनके यहाँ स्त्री कई रूपों में सम्मान पाती है। माता, पत्नी, प्रेमिका इन सभी रूपों में वह पूर्णतया स्वतंत्र है। पुरुष के साथ उसका मित्रता वाला भाव है। शशिकला त्रिपाठी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन को सही ही उद्धृत किया है कि 'सूरसागर में गोपियों का इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री-चरित्र का काव्य कहें तो अनुचित न होगा।' वास्तव में सूरदास ने स्त्री के दो रूपों को अपने ग्रंथ में सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी है, एक माता का रूप और दूसरा प्रेमिका का। हमारे व्यावहारिक जीवन में स्त्री के ये दोनों रूप ऐसे हैं जहाँ पुरुष की दोष-दृष्टि अनुपस्थित रहती है। लेखिका का गोपियों के विषय में यह मंतव्य बहुत तर्कसंगत है कि 'वे स्वतः ऊँच-नीच समझती हैं, उन्हें अपनी मर्यादा और स्वाभिमान का बोध है। कृष्ण प्रेम में वे सराबोर होती हैं, विरह में व्यथित होती हैं, लेकिन मथुरा उनके लिए अनुलंघ्य बना रहता है। वे प्रेम बनाम ज्ञान और योग बनाम भक्ति जैसे मुद्दों की बहस में हिस्सेदारी करती हुई पितृसत्तात्मक समाज को अपनी बौद्धिकता से चुनौती देती हैं।'

वर्णाश्रम व्यवस्था और स्त्री संबंधी अपने विचारों के कारण हिंदी साहित्य में सबसे विवादास्पद अगर कोई रहा है तो बेहिचक हमारे सामने तुलसीदास का नाम आता है। शशिकला त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में तुलसीदास के स्त्री संबंधी नकारात्मक और सकारात्मक दोनों विचारों को विस्तार से रखा है। उनका मानना है कि तुलसीदास जब शास्त्र की परंपरा के अनुसार स्त्री का मूल्यांकन करते हैं, तब उसकी निंदा पर उतर आते हैं, लेकिन जब शास्त्र की परम्परा से मुक्त होकर विचार करते हैं, तो स्त्री के प्रति उनकी संवेदना जागृत हो जाती है। इसी के परिणामस्वरूप 'जिमि स्वतंत्रा होइ बिगरहिं नारी' कहने वाले तुलसीदास को कहना पड़ता है कि 'कत विधि सृजी नारि जग माहीं, पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।' पार्वती के होने वाले पति शिव को भयानक वेशभूषा में देखकर उनकी माँ का विद्रोह यह सिद्ध करता है कि स्त्री पुरुष द्वारा थोपी गयी विवाह-व्यवस्था को अस्वीकार करने के लिए आवाज भी उठाती रही है।

आदर्श स्त्रियाँ- कौशल्या, सीता, अनुसूया और शबरी के साथ ही मंदोदरी को भी तुलसीदास ने आदर्श स्त्री बताया है। लेकिन शशिकला त्रिपाठी ने कैकेयी, मंथरा और शूर्पणखा के पक्ष में तर्क देकर स्त्री अस्मिता की दृष्टि से बड़ा साहस का काम किया है। निश्चित रूप से शूर्पणखा का नाक-कान काटना राम-लक्ष्मण द्वारा किया गया एक स्त्री का घोर अपमान है, जिसका किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता।

लेखिका ने हिंदी की भक्त कवयित्रियों के लिए स्वतंत्र रूप से एक अध्याय निर्धारित कर स्त्री अस्मिता को स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया है। इन कवयित्रियों में कई ऐसे नाम हैं, जिनसे हम हिंदी वाले परिचित नहीं हैं। बाबरी साहिबा, दयाबाई, नूपीबाई, संत उमा ऐसे ही नाम हैं। सहजो बाई तो बहुत चर्चित कवयित्री हैं, जिन्होंने संतों की तरह जीवन में प्रेम को महत्त्व दिया है और जातिगत भेदभाव पर गहरी चोट की है। लेखिका ने सभी संत भक्त कवयित्रियों की प्रमुख रचनाओं से हमारी परिचय कराया है-यह अच्छी बात है। प्रायः देखा जाता है कि लोग इनका नाम तो ले लेते हैं, लेकिन उनकी कविताओं से एक बड़ा पाठक वर्ग अपरिचित रहता है। प्रस्तुत पुस्तक में कवयित्रियों की कई महत्त्वपूर्ण रचनाओं को उद्धृत कर उनके समाज के लिए दिये गये संदेश से लेखिका ने हमें परिचित कराया है। सहजो बाई की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

प्रेम दिवाने जो भये,
जाति वरण गयी छूट।
सहजो जग बौरा कहे,
लोग गये सब फूट।।

लेखिका ने कृष्ण भक्ति की परंपरा में मीराबाई, चन्द्रसखी और ताज का नाम लिया है। मीराबाई के जीवन संघर्ष से हम सभी परिचित हैं। शशिकला त्रिपाठी का मानना है कि स्त्री 'आत्मकथा' विधा की आदि लेखिका मीराबाई हैं। मीराबाई यह कहने का साहस दिखाती हैं कि 'लोकलाज कुलकाणि जगत की, दइ बहाय जस पाणी।' चंद्रसखी ऐसी कवयित्री हैं जो कृष्ण की बाल छवि और शृंगार संबंधी रचनाओं से हमें प्रभावित करती हैं। उनका यह कवितांश लोकप्रिय है जिसमें सख्य भाव की अभिव्यक्ति होती है- 'लट उरझी सुरझा जा मोहन, मेरे कर मेंहदी लगी है।'

सांप्रदायिक एकता की मिसाल ताज की कृष्ण- छवि पर कई रचनाएँ हैं। वे यहाँ तक कहती हैं कि 'नंद के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै, हौं तो बुरकानी हिंदुस्तानी हौं रहूँगी मैं।' लेखिका ने रामभक्ति परंपरा में मधुर अली, प्रेम सखी और प्रताप कुँवर बाई की अपनी पुस्तक में चर्चा भर की है। खासतौर पर उनकी रचनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है।

स्त्री-विमर्श के इस दौर में शशिकला त्रिपाठी ने हिंदी समाज को एक मूल्यवान पुस्तक दी है। निश्चित रूप से इस पुस्तक को पढ़कर पाठक समुदाय ज्ञान की दृष्टि से अपने को समृद्ध महसूस करेगा। ❖❖

सचेतन अभय की मशाल

मनोज कुमार राय

संपर्क :
मनोज कुमार राय
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पुस्तक : व्हाई गांधी स्टील मैटर्स
लेखक : राजमोहन गांधी
प्रकाशक : आलेफ बुक कंपनी
प्रकाशन वर्ष : 2017
मूल्य : 499 रु.

श्री कुबेरनाथ राय के इस कथन से कि ''आलोचना लिखने और ट्यूशन करने का अर्थ होता है अपनी ही आत्मा की दुर्दशा करना। इससे धृति और मति कुंठित होती है'', से असहमत होने का कोई कारण नहीं दिखता है। फिर भी 'श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ' का सहारा लेते हुए राजमोहन गांधी की नवीनतम पुस्तक "व्हाई गांधी स्टिल मैटर्स..." पर गांधी-विचार-अध्येता होने के नाते एक सहज प्रतिक्रिया के साथ इसकी विषयवस्तु पर चर्चा जरूरी समझता हूँ।

'व्हाई गांधी स्टिल मैटर्स...' पुस्तक के लेखक महात्मा गांधी के पौत्र राजमोहन गांधी हैं। वे अपने समय के एक सजग और तार्किक बुद्धिजीवी, स्तंभकार और लेखक हैं। उन्होंने भारतीय राजनीति के कुछ बड़े नेताओं के जीवन का पहले भी दस्तावेजीकरण किया है। इनमें गांधी के अलावा अब्दुल गफ्फार खान, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और सरदार वल्लभ भाई पटेल की जीवनियाँ शामिल हैं।

ऐसा बहुत कम होता है जब कोई व्यक्ति अपनी मृत्यु के दशकों बाद भी अपने जीवन-काल से कहीं अधिक चर्चा में रहता है। ऐसे लोगों में महात्मा गांधी का नाम शायद सबसे ऊपर है। आज के परिवेश में निजी मामला हो या समूह का, जब कभी कोई संकट सामने आता है तो हम रामचरितमानस के पृष्ठों की भाँति गांधी के जीवन को तारीखवार उलटने-पलटने लगते हैं कि शायद कोई सूत्र हाथ लग जाए। संसार भर में शायद ही ऐसा कोई पखवाड़ा गुजरता होगा, जब उन पर कोई पुस्तक अथवा आलेख न प्रकाशित होता हो। प्रतीक-प्रिय भारतीय जनमानस गांधी के चंपारण सत्याग्रह का शताब्दी वर्ष, उनकी 150वीं जयंती तथा आजादी के अमृत महोत्सव को दांडी यात्रा से जोड़कर बड़े हर्षोल्लास से मना रहा है। इस बहाने पिछले चार-पाँच वर्षों में गांधी-विचार को लेकर दर्जनों पुस्तकें आयी हैं जो लोगों का ध्यान आकृष्ट करने में सफल रही

हैं।

समीक्ष्य पुस्तक वस्तुतः एक लेखमाला का संशोधित रूप है जिसे राजमोहन गांधी ने मिशिगन स्टेट विश्वविद्यालय में दिया था। निकट संबंधियों के आग्रह पर दिये गये ये व्याख्यान मुख्य रूप से गांधी जीवन-दर्शन के गंभीर अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए दिये गये थे। पुस्तक के पृष्ठों को पलटते हुए यह अनुभव होता है कि लेखक की रुचि गांधी द्वारा विभिन्न अवसरों पर लिखे या दिये गये भाषणों के दस्तावेजीकरण (जो संपूर्ण गांधी वाङ्मय के रूप में हमारे सामने हैं भी) में नहीं बल्कि उसकी दिलचस्पी सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों का विश्लेषण करने में है, जिसमें गांधी-विचार उभरा और पुष्ट हुआ।

पुस्तक के प्रारंभ में ही लेखक के मन में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि ''क्या गांधी जैसे एक जटिल-निरुज मनुष्य और उनके व्यक्तित्व-निर्मिति में समाये विभिन्न आयामों के रोचक पहलुओं को कुछ ही पृष्ठों में समेटा जा सकता है?'' पुस्तक से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक इस चुनौती को स्वीकार करते हुए न केवल इसके समाधान की ईमानदार कोशिश करता हुआ दिखता है,

अपितु कृति को संपादित करते समय उसके मन में एक सुचिंतित खाका भी है जिसमें वह व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया को 'खंडकाव्य' की तरह प्रस्तुत करते हुए अनावश्यक ब्यौरों को छोड़ता गया है। व्यक्तित्व-विकास की आकृति उकेरने की इस प्रक्रिया में उसने जगह-जगह गहरी रेखाओं के माध्यम से गांधी के चिंतन-जगत और जीवन-दर्शन को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया है, जिससे पाठकों को 'लेखमाला' पढ़ते समय कथा-कहानी पढ़ने जैसा आनंद मिले।

महात्मा गांधी हमारे देश में राष्ट्रपिता के रूप में पूज्यनीय हैं। उनका चेहरा अभी भी मुद्रा-नोटों, डाक टिकटों और सरकारी कार्यालयों को सुशोभित कर रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों, संस्थाओं, सड़कों और कल्याणकारी योजनाओं के नाम उनके नाम पर रखे गये हैं। राजनीति में उनके नाम की कसमें प्रतिदिन खायी जाती हैं। लेकिन क्या वे केवल एक प्रतीक के रूप में ही हमारे लिए प्रासंगिक रह गये हैं? क्या उनके मूल्य, संदेश और बलिदान का इक्कीसवीं सदी में हमारे लिए कोई अर्थ है? राजमोहन गांधी अपनी पुस्तक में न केवल इन गंभीर सवालों से टकराते हैं अपितु वर्तमान 'लाक्षागृह' से निकलने के लिए गांधी-चिंतन रूपी 'केवल जलती मशाल' की ओर इशारा भी करते हैं।

नौ अध्यायों में विभक्त यह पुस्तक बॉसबेल के 'लाइफ ऑफ जानसन' या तेंदुलकर के 'महात्मा' के ब्यौरेवार वर्णन के विपरीत गांधी के जीवन और दर्शन में सन्निहित विविधताओं के अनेक पहलुओं के बारे में बात करती है। लेखक गांधी के कुछ सबसे विवादास्पद विचारों, विश्वासों, जुनून, चर्चिल, अंबेडकर और जिन्ना के साथ उनके विवादास्पद संबंधों और आजादी के लिए उनके द्वारा प्रयोग में लायी गयी प्रमुख रणनीतियों की खोज करता है। लेखक का यह सौभाग्य है कि वह अपने समय के पाँच महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों- अब्दुल गफ्फार खान, नेल्सन मंडेला, मार्टिन लूथर किंग जूनियर, दलाई लामा, और आंग सान सू की-जिन्होंने अहिंसा की ताकत-विरासत को दुनियां के सामने रखा है, से निजी तौर मिला है और उनके ब्याज से अहिंसा की व्यापकता और सार्थकता को हमारे सामने रखता है। पहले अध्याय 'द लिगेसी ऑफ गांधी' में लेखक ने गांधी-विरासत को तीन चीजों-'संघर्ष के हथियार के रूप में अहिंसा, स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत और जीवन दीप स्तंभ' में देखने की कोशिश की है। यह एक तथ्य है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत ने गांधी-विरासत को उनकी मृत्यु के बाईस महीने बाद बने संविधान में लोकतांत्रिक, समतायुक्त, धर्मनिरपेक्ष और बहु समावेशी चरित्र के रूप में सँजोया। मृत्यु के बाद मामूली भौतिक वस्तुओं के जरिये जो जीवन-उपदेश गांधी ने हमारे सामने रखा है वह आज न केवल भारत के लिए, अपितु संपूर्ण मानवता के लिए एक दीप-स्तंभ की तरह है।

राजमोहन गांधी अपने लेखकीय दायित्व से ठीक तरीके से परिचित हैं। वे प्रायः पारिवारिक विरासत में न खोते हुए प्रत्येक बिंदु पर तटस्थ रहने की कोशिश करते हैं, जिससे कि वह अपने बोध को एक रचनात्मक व्यवस्था या क्रम दे सकें। गांधी का जीवन सरलता और जटिलता का एक समुच्चय है। उन पर अथवा उनके किसी विचार को केंद्र में रखकर कलम चलाना आसान नहीं है। वे प्रायः कहा करते थे कि "मेरा जीवन एक अविभाज्य इकाई है।.... खंड-पद्धति पर उसका निर्माण नहीं हुआ है। सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, अस्पृश्यता, हिंदू-मुस्लिम एकता और अन्य कई चीजें ... एक ही पूर्ण वस्तु, सत्य के अविभाज्य अंग हैं।" पुस्तक के तीन अध्याय जो गांधी के समकालीन चर्चिल, जिन्ना और अंबेडकर को लेकर लिखे गये हैं, तथा अध्याय दो (गांधीज पैसन) उनके इस कथन की सार्थकता को हमारे सामने रखते हैं। ये अध्याय/विषय एक दूसरे से न केवल जुड़े हुए हैं अपितु गांधी के विचार निर्मिति की पृष्ठभूमि को भी हमारे सामने रखते हैं। यहाँ लेखक 'अष्टांग शब्द-चित्र माला' गूँथते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गांधी के लिए स्वराज, अहिंसा, आजादी, प्रेम, अस्पृश्यता उन्मूलन आदि एक समकेंद्रित वृत्त की तरह हैं। गांधी के समकालीन तीन बड़े नेताओं को केंद्र में रखकर लिखे गये अध्याय उनके बीच के जटिल संबंधों और उसके आलोक में विवादित और गंभीर मुद्दों की संवेदनशीलता तथा इनसे एक कुशल नर्तक की भांति निपटने को सही ठीक तरीके से रखने में सफल हुए हैं। 'रंग-धर्म-वर्ग' का प्रतीक बन चुके इस नव्य-त्रयी (चर्चिल, जिन्ना, अंबेडकर) से गांधी का मुकाबला बड़ा दिलचस्प रहा है। गांधी जहाँ पूर्वजों से प्राप्त विरासत को न केवल बचाने और युगधर्म के अनुरूप उसमें कुछ जोड़ने में रुचि ले रहे थे, वहीं ये समकालीन त्रयी अपनी खंडित सोच के साथ खंडित भारत का स्वप्न देख रही थी। चर्चिल के भीतर दक्षिण अफ्रीका से ही घर कर चुका गांधी-द्वेष अपने चरम रूप में तब आता है जब वह नव्य-त्रयी के साथ खड़े होकर भारत विभाजन के राह पर चल निकलता है। लेखक ने इस नव्य त्रयी के अनेक कथनों को सिलसिलेवार ढंग से हमारे सामने रखा है जो 'रंग-धर्म-वर्ग' को लेकर उनके भीतर पल रहे अमर्ष और गांधी के आत्मिक सौंदर्य को प्रकट करते हैं।

यह एक सच्चाई है भारत लौटने के साथ ही गांधी ने अपना ध्यान शत्रु (अंग्रेज) जाति/क्षेत्र (गुजराती/गुजरात) पर नहीं अपितु, 'प्रांत के आखिरी आदमी' पर केंद्रित किया और यह सिलसिला उनके जीवन के अंतिम समय जब उन्होने मृत्यु से दो घंटे पूर्व बिरला हाउस में मिलने आये उच्च जाति के नेताओं से पूछा कि 'हरिजन कैसे हैं?'', तक चलता रहा। लेखक ऐसे

अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है जब गांधी ने जातिगत भेदभाव के खिलाफ न केवल लड़ाई लड़ी अपितु पत्नी और रिश्तेदारों को भी उनकी अनिच्छा के बावजूद इस पवित्र युद्ध में झोंक दिया। उनका यह प्रस्ताव कि एक दलित महिला को स्वतंत्र भारत के पहले राष्ट्रपति के रूप में नियुक्त किया जाए और जवाहर, पटेल और राजेन्द्र बाबू उसके मंत्री के रूप में काम करेंगे, उनके साहस और आखिरी आदमी की चिंता को हमारे सामने रखते हैं। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि गांधी के समक्ष एक तरफ 'अंग्रेज भारतीय गिरमिटियों को अपने हाथ से ढेर कर सकते हैं' का मुगालता पाले दंभी चर्चिल खड़े हैं तो दूसरी तरफ 'मुस्लिम राज्य के लिए अपनी जान भी दे सकता हूँ' का उद्घोष करने वाले जिन्ना और अंबेडकर थे। लेखक ने इस पुस्तक में अनेक अनजाने तथ्यों की तरफ भी पाठकों का ध्यान खींचा है जो गांधी के व्यक्तित्व को अधिक उदात्त बनाते हैं। मसलन भारतीय स्वाभिमान पर चोट पहुँचाने वाले के प्रति गांधी कितने निर्मम हो सकते हैं उसकी एक बानगी देखने लायक है। हम सब यह जानते हैं कि हिन्द स्वराज की रचना इंग्लैंड से लौटते समय हुई थी। अफ्रीका वापसी के कुछ ही दिनों बाद गांधी के मित्र पोलाक भी भारत से लौटे और डरबन पोत पर उनके स्वागत में गांधी के साथ छगनलाल भी मौजूद थे। छगनलाल का बालसुलभ मन आगे बढ़कर स्वागत करने की कोशिश करता है जिसे बड़े हिकारत भाव से एक श्वेत अधिकारी द्वारा 'क्या तुमने मुझे सुना नहीं। दफा हो जाओ'। गांधी के लिए यह असह्य था। उन्होंने अपने स्वभाव के विपरीत गरजते हुए कहा- ''वह एक इंच भी पीछे नहीं हटेगा।'' समुद्र की लहरों पर सवार होकर 'हिन्द-स्वराज' की रचना की इस प्रत्यक्ष अनुगूँज को लेखक ने अनेक जगह उकेरा है जो पुस्तक को और अधिक पठनीय बनाती है।

भारतीय परंपरा में अहिंसा को एक उच्च धर्म के रूप में देखा गया है। पर कालांतर में उसकी मर्यादा भोजन-पान तक ही सीमित रह गयी थी। लेकिन मानव-मस्तिष्क के कुशल जौहरी गांधी के स्पर्श-मात्र से ही 'अहिंसा' कैसे एक रचनात्मक और विस्फोटक शक्ति के रूप में बदल जाती है, इसे लेखक ने 'अहिंसा और गांधी' नामक अध्याय में इसे सुंदर ढंग से विवेचित किया है। राजकोट में वकालत के समय गांधी को एक अंग्रेज अधिकारी के सामने शर्मिंदा होना पड़ा था। वह उस घटना से भयभीत थे इसलिए अवसर मिलते ही उन्होंने सेठ अब्दुल्ला द्वारा प्रस्तुत बाबूगिरी के कार्य को भी स्वीकार कर लिया। लेकिन भीतर का दर्द उन्हें सालता रहा और उन्होंने तय किया कि 'मैं फिर कभी अपने को ऐसी स्थिति में नहीं पड़ने दूँगा'। करुणा, क्षमा और समता के रसायन से तैयार अहिंसा जैसे प्रखर होती गयी उनके भीतर का भय अभय में परिणत होता गया- "अपने गत्यात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है सचेतन कष्ट सहन। इसका अर्थ बुराई करने वाले के सामने परवश होकर घुटना टेकना नहीं है। इसका अर्थ तो अपनी संपूर्ण सत्ता और शक्ति को निरंकुश व्यक्ति के विरुद्ध लगा देना है। मानव जाति के इस सिद्धांत पर चलने वाले एकाकी व्यक्ति के लिए भी यह संभव है कि वह अपने सम्मान, धर्म, आत्मा की रक्षा के लिए एक सशक्त राज्य की अवमानना के लिए सन्नद्ध हो जाए और उसके पतन या उत्थान का कारण बने।" गांधी ने अहिंसा का जीवन के हर क्षेत्र में यथा घरेलू, संस्थागत, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग किया है और उनकी नजर में शायद ही कोई मामला हो जिसमें उन्होंने असफलता का स्वाद चखा हो।

राजमोहन गांधी एक शानदार लेखक हैं। उन्होंने इस पुस्तक को तटस्थता पूर्वक गहन विवेचना के साथ सघन बुनावट वाली भाषा के अनेक रंगों से सजाया है। पुस्तक में अनेक ऐसे स्थल हैं जो पाठकों को अपने भीतर झाँकने पर मजबूर कर देते हैं। किसी प्रसंग में कहे गये गांधी के इस कथन को कि ''जिस तरह एक गर्भवती महिला अपने गर्भ में पल रहे बच्चे की खातिर अपने स्वास्थ्य की देखभाल करती है, मैं भी अपना ख्याल उस स्वराज के लिए रखता हूँ जो मेरे गर्भ में है'', बहुत सुंदर तरीके से हमारे सामने रखा है। क्रोध में मनुष्य कैसे अपना संतुलन खो देता है इसका सुंदर उदाहरण चर्चिल के उस उद्धरण से हमारे सामने रखा है जिसमें वह गांधी को बैरिस्टर-प्रमाण पत्र देने वाली संस्था का नाम तक भूल जाते हैं। दिल्ली दंगे को लेकर गांधी अनशन पर थे, इस बात से सभी परिचित हैं, लेकिन एक व्यक्ति और भी था जो चोरी-छुपे अनशन पर था। लेखक बताता है कि प्रार्थना के बाद अबुल कलाम आजाद ने जब गांधी को एक गिलास संतरे का रस दिया तो आंसू पोंछने वालों में नेहरू भी थे। उन्होने गांधी को बताया कि वह पिछले दिन से गुप्त रूप से उपवास कर रहे थे। गांधी के साहस, स्वाभिमान और विश्वास का इससे सुंदर उदाहरण क्या हो सकता है, जब उन्होंने कहा कि 'मैं इस दुष्ट सरकार को नष्ट करने के लिए पैदा हुआ था।' यह पुस्तक इस तरह की विरल जानकारियों को एक प्रवाहमयी शैली में प्रस्तुत करने में सफल है।

इस पुस्तक की यह खूबसूरती है कि यह गांधी को न तो आसन पर बिठाती है और न ही उन्हें देवता बनाती है। बल्कि उन्हें उनकी ताकत और सीमाओं के साथ एक सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करती है। गांधी अध्येताओं के लिए यह एक शानदार पुस्तक है। ❖❖

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha

सदस्यता-प्रपत्र

बहुवचन (त्रैमासिक)

नाम					
डाक का पता					
जिला		पिन कोड		राज्य	
दूरभाष		ई–मेलः			
सदस्यता शुल्क भारत में : सामान्य अंक रु. 75/– वार्षिक रु. 300/– भारत के बाहर : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर, 08 ब्रिटिश पाउंड				डाक खर्च सहित	

पुस्तक-वार्ता (त्रैमासिक)

नाम					
डाक का पता					
जिला		पिन कोड		राज्य	
दूरभाष		ई–मेलः			
सदस्यता शुल्क भारत में : सामान्य अंक रु. 75/– वार्षिक रु. 300/– भारत के बाहर : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर, 08 ब्रिटिश पाउंड				डाक खर्च सहित	

सदस्यता शुल्क रु. ..... NEFT/RTGS/IMPS/OTHER माध्यम से बैंक ..... द्वारा भेज रहा/रही हूँ, जिसके लेन–देन का विवरण ..... है।

केवल ऑनलाइन शुल्क भेजने का विवरण इस प्रकार है :-

Name : Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name : Bank of India, Wardha Branch : Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No. : 972110210000005 IFSC Code No.: BKID0009721

(सदस्य के हस्ताक्षर)

सदस्यता-प्रपत्र डाक से निम्न पते पर भी भेज सकते हैं।
प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
संपर्क – प्रभारी : सूचना • संपर्क • प्रसार एवं विपणन (प्रकाशन विभाग), मोबाइल नं. (वाट्सएप सहित) 7278114912
ऑनलाइन सदस्यता के लिए प्रपत्र विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर उपलब्ध है।

दूरभाष : 07152–232943 ई–मेल : pub.mgahv@gmail.com www.hindivishwa.org

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

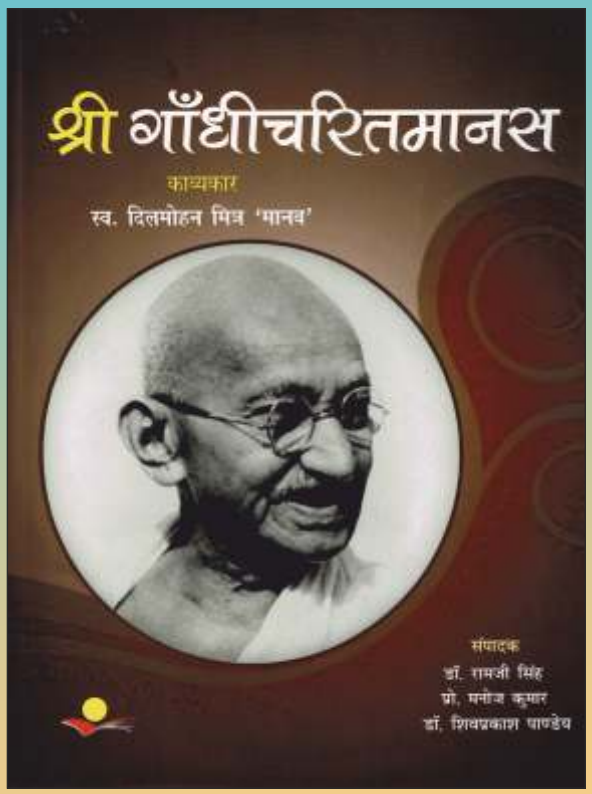

मूल्य : 1800

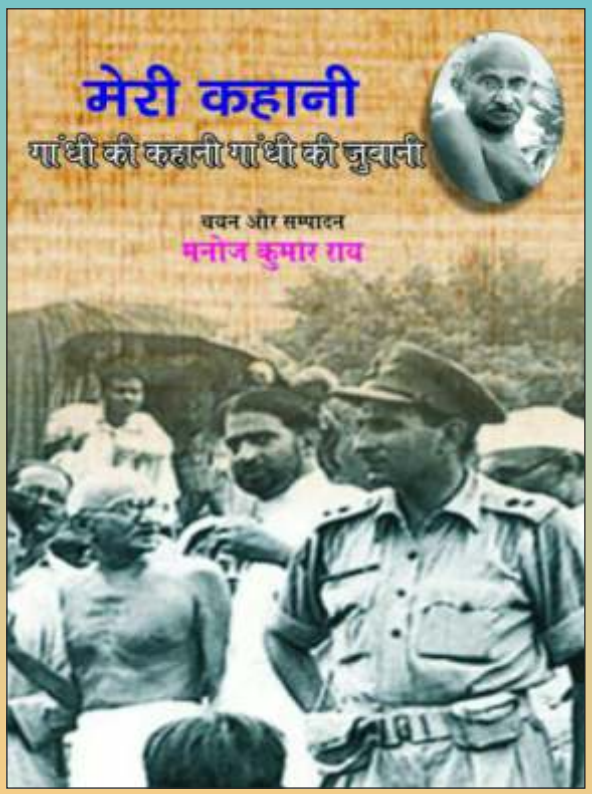

मूल्य : 595

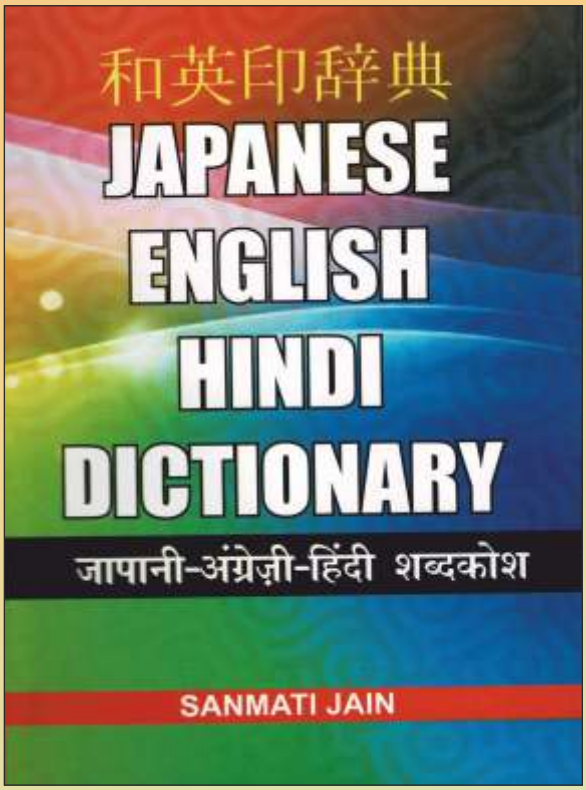

मूल्य : 595

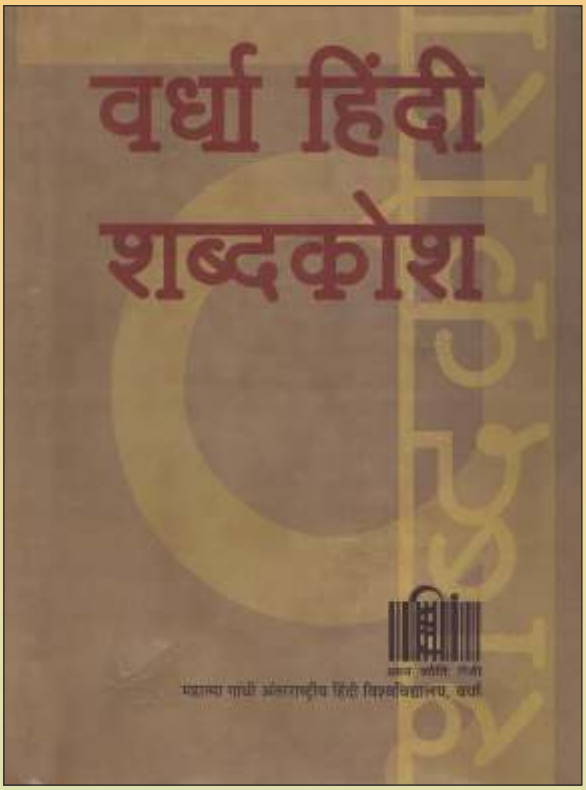

मूल्य : 1050

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन

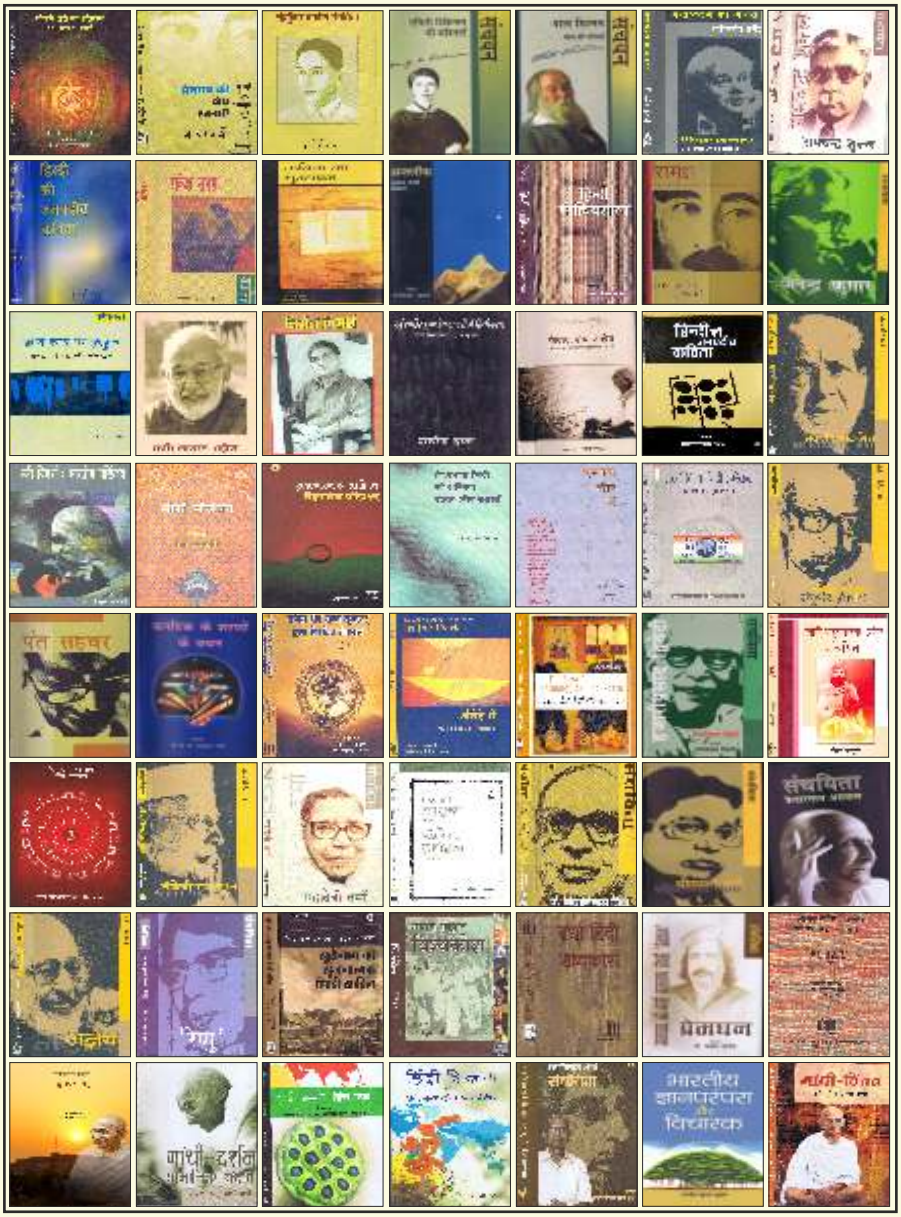

प्रकाशन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गाधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत

फ़ोन : (07152) 232943, फ़ेक्स : (07152) 230903 वेबसाइट : www.hindivishwa.org